मनोरंजन पुस्तकमाला—५६-५७

राष्ट्रभाषा पर विचार

(राष्ट्रभाषा संबंधी विविध प्रश्नों का समाधान)

लेखक

आचार्य श्री चंद्रबली पांडेय
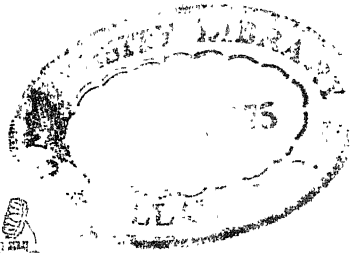
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताबराय, नागरी मुद्रण, वाराणसी
परिवर्द्धित संस्करण, सं० २०१४
मूल्य

दो शब्द

आचार्य श्री चंद्रबली पांडेय जी की लोकप्रिय कृति 'राष्ट्रभाषा पर विचार' का प्रकाशन करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इसके दो संस्करण स्थानीय सरस्वती मंदिर जतनबर से प्रकाशित हो चुके हैं और विद्वानों तथा सामान्य जनता ने समान रूप से इसका स्वागत किया। पांडेय जी की इच्छा थी कि सभा इस प्रकाशन को अपने हाथ में ले ले, जिसका सभा ने सहर्ष स्वागत किया। इसी के परिणाम-स्वरूप यह रचना सभा से प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत संस्करण में एक लेख बढ़ा दिया गया जो सं० २०१० में सभा के हीरक-जयंती-समारोह के अवसर पर राष्ट्रभाषा संमेलन के संयोजक पद से दिया गया पांडेय जी का भाषण था।

प्रस्तुत संग्रह के सभी लेख आज से दशाब्दियों पूर्व परिस्थिति-विशेष पर लिखे या पढ़े गए थे। इनमें तत्कालीन वातावरण की कटुता और तीव्रता का प्रभाव परिलक्षित होता है। आज वातावरण और परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल चुकी हैं परंतु अब भी इनकी आवश्यकता और उपयोगिता बनी हुई है। कारण यह है कि हिंदी का विरोध अभी भी कम नहीं हुआ है। हाँ, पहले संघर्ष राष्ट्रभाषा हिंदी का उर्दू और हिंदुस्तानी से था, आज राजभाषा हिंदी का संघर्ष विदेशी भाषा अँगरेजी से है जिसे अंतःराष्ट्रीयता के नाम से कुछ लोग हमारे ऊपर थोपना चाहते हैं। उस समय देश के गण्यमान्य नेता और शिक्षित जनता भी हिंदी को राष्ट्रभाषा मान चुकी थी, झगड़ा केवल नाम, रूप और लिपि को लेकर था; आज भारत के संविधान में नागरी लिपि में

लिखी हिंदी राजभाषा स्वीकृत हो चुकी है, परंतु अनेक लोगों के मुख से विदेशी भाषा अँगरेजी को ही, जो हमारी विगत परतंत्रता का अवशेष चिह्न है, राजभाषा बनाने की गुहार लग रही है। इस वातावरण में प्रस्तुत रचना में प्रदर्शित हिंदी की शक्ति और संघर्षों के बीच पनपते रहने की उसकी क्षमता का प्रभावशाली निदर्शन हिंदीप्रेमियों को प्रेरणादायक सिद्ध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। इस दृष्टि से इसकी उपयोगिता आज भी कम नहीं हुई है।

प्रस्तुत संग्रह में कुछ निबंधों के साथ टिप्पणियाँ आवश्यक थीं, क्योंकि आज के कितने ही पाठक उस काल के वातावरण और परिस्थितियों से भिज्ञ न होंगे जिस काल में ये लिखे गए थे। परंतु पांडेय जी की अस्वस्थता के कारण ये टिप्पणियाँ प्रस्तुत संस्करण में न जा सकीं, साथ ही पांडेय जी की अस्वस्थता के कारण भाषा तथा इसके प्रूफ संशोधन में भी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। इन त्रुटियों के लिये हमें खेद है परंतु परिस्थितियों ने विवश कर दिया। अगले संस्करण में उन्हें ठीक कर दिया जाएगा।

आशा है पाठक इसे पूर्ववत् अपनाकर हमारा उत्साह बढ़ाएँगे।

दुर्गाकुंड, वाराणसी
२-१२-५७

श्रीकृष्णलाल
साहित्य मंत्री

अपनी भी सुनें

उस दिन क्या जानता था कि किसी दिन नागरी-हित के हेतु इतना लोहा लेना पड़ेगा और इस तनिक सी सीधी बात के लिये इतना तूमार बँधेगा। बात यह थी कि इस जन के परम हितैषी श्री दुर्गाप्रसाद जी जोशी को (जो उस समय अपने तप्पा के कानूनगो थे) कहीं से एक सम्मन मिल गया था जो हिंदी के कोठे में था पर भरा गया था कचहरी की फारसी लिपि में ही। पढ़ते-पढ़ते दम निकल गया पर उसका भेद न खुला। जोशी जी ने उसके संबंध में जो कुछ कहा उसको कहने की आवश्यकता नहीं। जानते तो आप भी इतना हैं कि उसे नागरी में ही रहना था और होना था इस रूप में कि वह किसी भी साक्षर की समझ में आ सके। परंतु हमारी कचहरियों का काम समझने के लिये तब होता जब आप अपनी समझ से काम लेते और किसी के सहारे अपना अधिकार पाने का भाव छोड़ देते। संयोग की बात कहिए, उस समय स्वर्गीय अल्लामा शिबली नोमानी के आत्मज का तहसील में राज्य था वही वहाँ के तहसीलदार थे। किया तो उन्होंने बहुत कुछ परंतु श्री जोशी जी भी पहाड़ी जीव थे और सो भी पर्वतराज हिमालय के। अपने लक्ष्य से तनिक भी न डिगे और किसी न किसी प्रकार हिंदी को अपने काम-काज में पनपाते रहे। किंतु यह तो उनकी बात हुई और हुई उनके सरकार की। हमारी सरकार नागरी को अपनाती और उसका व्यवहार जनता के उपकार के लिये चाहती भी है। किंतु यह हो नहीं पाता बीच के रोड़ों के कारण। इन्हीं रोड़ों की ओर ध्यान दिलाना श्री जोशी जी का काम था और इन्हीं रोड़ों को खोज निकालना इस जन का काम है।

'भाषा' का प्रश्न राष्ट्रभाषा का प्रश्न बन गया। उर्दू सन् १७४४-४५ ई० में उर्दू में अर्थात् दिल्ली के लाल किला में बनी और मुगल शाहंशाहों एवं दरबारी लोगों के साथ लखनऊ, अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद आदि शहरों में पहुँची। फारसी के साथ-साथ कंपनी सरकार के दरबार में दाखिल हुई और सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज में जा जमी। फोर्ट विलियम कालेज की कृपा से वह 'हिंदुस्तानी' बनी और 'हिंदी' को 'हिंदुई' बता कर देश में फैलने का डौल डाला। फिर क्या हुआ इसका लेखा कब किसने लिया और आज कोई क्यों लेने लगा। आज तो २४ घंटे में इस देश के सपूत उर्दू सीख रहे हैं पर उर्दू का इतिहास मुँह खोलकर कहता है कि 'हिंदी' को उर्दू आती ही नहीं। और उर्दू के लोग उनकी कुछ न पूछिए। उर्दू के विषय में तो उन्होंने ऐसा जाल फैला रखा है कि बेचारी उर्दू को भी उसका पता नहीं। आज उर्दू क्या नहीं है! घर की बोली से लेकर राष्ट्र की बोली तक जहाँ देखिए वहाँ उर्दू का नाम लिया जाता है और कहा यह जाता है कि वास्तव में यही सब की बोली है। इस 'सब की' का अर्थ ?

उर्दू का कुछ भेद खुला तो 'हिंदुस्तानी' सामने आई और खुलकर कहने लगी—यह भी सही, वह भी सही; यह भी नहीं; वह भी नहीं; हिंदी भी, उर्दू भी; फारसी भी, अरबी भी, संस्कृत भी, ठेठ भी, पर नहीं; सबकी बोल-चाल की भाषा। 'बोलचाल की भाषा' का अर्थ ? बोलचाल की भाषा अभी बनी नहीं बनने को है। तो ?

इस बनने की क्रिया में अच्छा सूत्र हाथ लगा। राष्ट्रभाषा बनी नहीं तो राष्ट्र कैसे बना ? भारत को एक राष्ट्र कहता कौन है ? यदि इस देश में कोई राष्ट्र है तो मुसलिम। और दूसरा राष्ट्र कहाँ है ? बँगाली अलग, पंजाबी अलग; मद्रासी अलग, गुजराती अलग; हिंदू

अलग, अछूत अलग; फिर इस अलग के राज्य में राष्ट्र कहाँ है जो उसके लिये इतना ऊधम मचाया जा रहा है ? 'हिंदुस्तान' के पहले इस सारे देश का कोई नाम भी था ? संस्कृत मर चुकी, प्राकृत रही नहीं और 'भाषा' का नाम ही जाता रहा, फिर उत्तर कौन दे ? 'राष्ट्रभाषा पर विचार' में और कुछ नहीं इसी का रोना और इसी का समाधान है। उपाय आपके हाथ है, विचार इस ग्रंथ में।

इस ग्रंथ के प्रायः सभी लेख कहीं न कहीं प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें केवल एक अप्रकाशित है जो पहले पहल इस संग्रह में प्रकाशित हो रहा है। 'हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' को छोड़ कर सभी पहले निकल चुके हैं। इनमें प्रथम दो तो भाषण हैं जो 'हरिद्वार' तथा 'प्रयाग' में पढ़े तथा दिए गए थे। प्रयाग का भाषण मौखिक रूप में था। बात यह थी कि प्रयाग विश्वविद्यालय की 'हिन्दी परिषद्' की ओर से एक योजना प्रस्तुत हुई थी जिसके अनुसार २३ नवंबर सन् १९३९ ई० को 'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' पर विद्वानों का विचार हुआ। विचार था कि 'भाषण' पुस्तकाकार प्रकाशित हो जायँ। फलतः उसे लिपिबद्ध किया और सम्मेलनपत्रिका ज्येष्ठ-आषाढ़ में वह छप भी गया। हरिद्वार का भाषण हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के राष्ट्रभाषा परिषद में अध्यक्ष-पद से पढ़ा गया था। हिंदी-हिंदुस्तानी का उदय श्रद्धेय टंडन जी के प्रतिवाद में लिखा गया था। और 'सम्मेलन और जनपद' जनपद-आंदोलन की रोकथाम के लिये जनपद-समिति के संयोजक के रूप में। शेष के विषय में कुछ विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं। हाँ यहाँ इतना और भी स्पष्ट कर देना है कि राष्ट्रभाषा पर भली भाँति विचार करने की दृष्टि से ही इस संग्रह में महात्मा गांधी, श्री काका कालेलकर, डाक्टर ताराचंद तथा श्री सत्यनारायण के विचार दिए गए हैं जो उन्हीं के लेखों में व्यक्त हैं और जिनको और भी खोल कर दिखाने के लिए उन पर अपनी

ओर से टिप्पणी भी दे दी गई है। आशा है उनसे अनेक भ्रमों का निवारण तथा उच्छेद होगा।

अंत में हम उन सभी पत्र-पत्रिकाओं के आभारी और कृतज्ञ हैं जिनकी कृपा से जब-तब जहाँ-तहाँ इन लेखों का प्रकाशन हुआ और फलतः आज भी कुछ हेर-फेर और कटछँट के साथ इस सरलता से यहाँ प्रकाशित हो रहे हैं। आशा है भविष्य में भी 'सरस्वती-मंदिर' इस प्रकार की रचनाओं के प्रकाशन में विशेष दत्तचित्त रहेगा और राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में किसी से पीछे न रहेगा।

गुरु-पूर्णिमा
सं० २००२ वि०

चंद्रबली पांडे
काशी

कुछ और भी

'राष्ट्रभाषा पर विचार' का द्वितीय संस्करण सामने है। इसमें बढ़ाया अधिक और घटाया कम गया है। पुराने लेखों में से केवल 'उद्धार का उपाय' हटाया गया है। शेष लेख यथास्थान बने हुए हैं। पुस्तक का प्रकाशन संवत् २००२ विक्रम में हुआ था। तब से अब तक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है वह भी इस संस्करण में आ गया है। कहने को तो 'राष्ट्रभाषा की उलझन' सुलझ गई है। पर सच पूछा जाय तो आज भाषा की उलझन पहले से कहीं अधिक जटिल हो गई है। उर्दू के भक्त अभी हिंदी को जी से अपनाना नहीं चाहते। हिंदुस्तानी के लोग आज भी उसके लिये सत साधने को तैयार हैं। ऐसी स्थिति में कहा नहीं जा सकता कि हिंदी के स्वरूप का सबको सच्चा बोध हो गया है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाभाषी अब हिंदी को सशंक दृष्टि से देखने लगे हैं और मन ही मन सोचने क्या कहीं कहीं खुलकर कहने भी लगे हैं कि यह तो अंग्रेजी की भाँति ही हमारी निज की देशभाषा को पनपने देना नहीं चाहती। इन सब भावनाओं के कारण हमारी प्रगति में जो बाधा पड़ रही है वह किसी से ओझल नहीं किंतु ठीक ठीक जो बात दृष्टि में नहीं आ पाती है उसको दूर करने का उपाय। अपनी समझ ने जहाँ तक साथ दिया है उससे यही काम लिया गया। आशा है इससे भाषा के क्षेत्र में स्फूर्ति मिलेगी, प्रकाश मिलेगा और मिलेगा कुछ ऐसा उपाय भी जिससे हम भाषा उलझन से मुक्त हो राष्ट्रभाषा पर परितः विचार कर उसके द्वारा राष्ट्र का विकास विश्व का कल्याण तथा अपना उद्धार कर सकेंगे। ऐसा ही हो यही हृदय की सच्ची कामना है।

काशी
अक्षय तृतीया, संवत् २००८ विक्रम } चंद्रबली पांडे

विषय-सूची

१—राष्ट्रभाषा

गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम-पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

देवियो और सज्जनो!

देश जब टुकड़ों टुकड़ों में बँट रहा हो और यारों की पाकिस्तानी दृष्टि उसकी बोटी बोटी के लिये ललक रही हो तब इस प्रकार एकत्र हो राष्ट्रभाषा पर विचार करना आप ही का काम है। कहते हैं, कभी संकट के समय इस देश के ८८००० ऋषि एकत्र हो किसी अरण्य में लोकमंगल का उपाय सोचते और फिर एकमत हो नगर नगर, गाँव गाँव और घर घर उसकी धूम मचा देते। वन न सही, हरिद्वार की पुण्यस्थली किस तपोभूमि से कम है। आइए हम-आप एकमत हो कोई ऐसा उपाय करें जिससे राष्ट्रभाषा का प्रचार घर घर हो जाय और राष्ट्र का कोई भी कोना उससे अछूता न बचे। स्मरण रहे, यह भावना हमारे लिये नई नहीं है। नहीं, हमने भी 'अशोक' और 'समुद्र' के शासन में वह काम किया है जो आज बाहर का प्रसाद समझा जाता है। कौन है जो सचाई के साथ हमारे इतिहास को देखे और फिर हृदय पर हाथ रखकर, आँख मिलाकर हमारे सामने कह तो दे कि इसलाम के आगमन के पहले अथवा अँगरेजों के यहाँ जमने के पूर्व भारत कभी एक न था। भारत के किसी भी कोने में जाकर देखो, उसके 'संकल्प' को सुनो, उसके 'अभिषेक' को देखो, उसकी धाम-यात्रा के विवरण को पढ़ो और फिर कहो तो सही भारत की एकता कितनी पुरानी है और उसकी 'भारती' कितनी सजीव है।

भारत की राष्ट्रभाषा भारती का इतिहास बड़ा रोचक है। यहाँ उसकी रामकहानी से क्या लाभ? यहाँ तो उर्दू-अँगरेजी का अभिमान चूर करने के लिये इतना ही दिखा देना पर्याप्त होगा कि ईरानी-तूरानी मुसलमानों के आगमन के पहले ही यहाँ की राष्ट्रभाषा भली भाँति चारों ओर फैल चुकी थी और अपने शिष्ट तथा सहज दोनों ही रूपों में सर्वत्र व्यवहृत हो रही थी। और तो और, महमूद गजनवी जैसे कट्टर गाजी सुलतान की मुद्राओं पर वही मुई संस्कृत विराजमान है जिसका नाम ही आज उर्दू को रसातल भेज रहा है। लाहौर में उसका जो सिक्का ढला उस पर लिखा गया—'अव्यक्तं एकं, मुहम्मद अवतार, नृपति महमूद' एवं 'अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो, जिनायनसंवत्'। ध्यान देने की बात है कि महमूद मुहम्मद साहब को 'अवतार तथा उनके हिजरी संवत् को जिनायन लिखवाता है और इस बात से तनिक भी भयभीत नहीं होता कि उसके कट्टर मुल्ला उसका विरोध करेंगे। करते भी क्यों? उस समय का इसलाम कुछ और ही था। आज तो 'श्री' शब्द से इसलाम ने शत्रुता ठान ली है पर कभी शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी से शेरशाह सूर तक सभी समर्थ बादशाहों के सिक्कों पर 'श्री हम्मीर' 'श्री हमीर' आदि का दर्शन हो जाता है और धर्मधुरीण कट्टर 'नमाज़ी' औरंगजेब के शासन में तो इस 'श्री' की बाढ़ सी आ जाती है। देखिए न उस समय का एक 'गृहाड्डाणक पत्र' है—

"स्वस्ति श्री संवत् १७२४ वर्षे माघ सुदि ७ गुरौ अद्येय पातशाहा श्रीसुलतान शाहा आलमग्यरी साहिबकुरानशानी धारमिक सत्यवादी वाचा अविचल ज्यवनकुलतिलक सकलरायांशरोमणि महाराजराजेश्वर एहवो पातशाहा श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री अवरंगजेब सरबमुद्राराज्यं

करोति तस्यादेशात् श्रीगुजरातमध्ये सो० श्रीराजनगरे सोवेसाहिब नु बाप श्रीमहबतषान दीवानी श्री श्री हाजीमहिमद सफि छि। हवि षासषत षालसि श्री षंभायतहवालि मीयाँ श्री श्री जहान अलावदीन हवडां श्री मीरमाजूला कजाइकार्नां श्री महिमद सरागदीन वाकेनिकसे मीयाँ श्री अहमेद वेग दीवानी श्री किशुरदास श्री कोटवाली चोतरिं मीर काशमवेग वेसे छे। एवमादीपञ्च कुलप्रतिपतौ श्रीषंभायतवास्तव्य श्री ओसवाल-ज्ञातीय वृद्ध शाषायां साषीमवतूनी। धनीअणि बाई फूलां ता तथा सा मानशंग ठाकरशीपारस्यात् योग्य लषित ओसवालज्ञातीय लघूशा-षायां बाई मणिकदेहस्वाक्षराणि दत्ता..."

(लेखपद्धतिः, गा० ओ० सी०, संख्या १९, पृष्ठ ७७)

'श्री' के प्रचुर प्रयोग के साथ ही यह भी टाँक लेना चाहिए कि लेख संस्कृत के आधार पर ही चल रहा है। इस प्रकार की चलित संस्कृत से स्पष्ट हो जाता है कि आलमगीर औरंगजेब ने आमों के नाम क्यों शुद्ध संस्कृत में 'सुधारस' और 'रचना-विलास' रखे। औरंगजेब के समय में संस्कृत किस प्रकार अपने टूटे-फूटे रूप में व्यवहार में चलती रही इसकी एक झलक मिल गई। अब मुहम्मदशाह रँगीले के शासन की भी एक झाँकी लीजिए—

श्रीरामः।

V श्री महम्मदसाह

१—सिद्धिरस्तु ॥ परमभट्टारकेत्यादि-राजावलीपूर्वक (-) गत-लक्ष्मणसेनदेवीय (-) विंशत्यधिक (-)

२—षट्शते लिख्यमाने यत्राङ्केनापि ६२० ल-सं। पुन परम-भट्टारकाश्वपति-गजपति नरप-

३—ति-राजत्रयाधिपति-महासुरत्राण-श्री श्री श्री श्री V पालिते धरणिमण्डले तत्प्रेषित-कु-

४—सुमपुरावस्थित-श्री श्री मत्फकरओदओलाखान-समुल्ला-सित-महाराज-श्रीश्रीमद्रा-

५—घवसिंहदेव-पालितायां मिथिलार्थं हाटीतप्पान्तर्गत-सौराष्ट्र-ग्रामवासी सो-

६—दरपुरसं-श्री कमलनयनशर्मा ज्योतिर्वित् शूद्रक्रयणार्थं स्वधनं प्रयुक्ते । धनग्राहको-

७—प्येतत्सकाशात् सौराष्ट्रग्रामवासी स्वयमेव दुल्लीदासः परा-लीदासश्च । यथा के-

८—नापि परालीदासेनात्मीयेन नानामध्यस्थकृता राजतः सार्द्धैकादशमुद्रा मू

९—ल्यमादायास्मिन् धनिनि स्वयमेव दुल्लीदासः स्वात्मानं विक्रीतवान् ।

१०—आवत्मात्स्यजातीयं गौरवर्णं तर्कितदशवर्षवयस्कं दुलिया-नामानं स्वयमा—

११—त्मानं विक्रीतवान् । यत्र अत्र ? विक्रीतप्राणी १ मूल्यं मुद्राः ११॥ यदि कापि प्रपलाय्य गच्छ—

१२—ति तदा राजसिंहासनतलादप्यानीय दासकर्मणि नियोज-नीय इति । अत्रार्थे

१३—साक्षिनः सकराढ़ीसं श्रीशतञ्जीवशर्म-वलियाससं श्रीगण-पतिमिश्र सकराढ़ी—

१४—सं श्रीवासुदेवझा-ब्भनिआँमसं श्रीबान्धवझा-गङ्गौलीसं श्री कृपाराम—

१५—झा-शतलखासं श्रीरामजीवशर्म-फनदहस महोपाध्याय श्री रुचिपतिमिश्र—

१६—खौयालसं श्रीभीषणशर्म बुधवालसं श्रीगोननशर्मानः सौराष्ट्र वासिनः—

१७—लिखितमिदमुभयानुमत्या सार्द्धैकादशाणकानादाय सकराढ़ीसं श्रीतारा—

१८—पतिशर्मणेति शिवं। चैत्रासित ३ कुजे शाके १६५१ सन् १११६ साल ॥

१९—सही दुल्ली अमातक। साड़े एगारह रुपैआ लए बिकए-लहु। सही

२०—परालो। बहिक वर्षमध्ये पडाए तञो हमें निलाकरीअ बेउजुर ॥ (इंडियन हिस्टोरिकल रेकार्ड कमीशन, प्रोसीडिंग्ज़ आफ दि मीटिंग्ज़, वोल्यूम १३, १९४२, पृ० ८७-९)

अस्तु, अब तो यह मान लेने में किसी भी मनीषी को कोई अड़चन नहीं रही कि मुगल साम्राज्य में संस्कृत जीवित रही और भाषा के साथ ही साथ बात-व्यवहार वा लेन-देन में चलती रही। संस्कृत को बारबार मृत भाषा कहने वालों को तनिक होश में आना चाहिए और इस प्रकार की धाँधली मचाने के पहले एक बार अपने पूर्वजों की पोटली को खोल देखना चाहिए। पुराने पादरियों के शिष्य फिरंगी चाहे कुछ भी कहते रहें पर भारतीय भाषाओं के कुशल पंडित आज भी संस्कृत के प्रभाव को मानते हैं और कभी कभी तो उसी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखना भी चाहते हैं। एक विद्वान उसको किसी भी भारतीय देशभाषा से अधिक व्यापक और सुदूर देशों में फैली हुई पाता है तो दूसरा उसी के सरल

चलित रूप को राष्ट्रभाषा के योग्य समझता है। जो हो, भारत राष्ट्रभाषा संस्कृत को छोड़कर जी नहीं सकता। प्राण-रहित शरीर और वारि-रहित नदी की जो स्थिति है वही संस्कृत-रहित भारत की अवस्था है। हाँ, जिनकी दृष्टि में 'इंडिया' के पहले कोई 'इंडिया' अथवा 'हिंदुस्तान' के पहले कोई 'हिंदुस्तान' ही नहीं था वे कुछ भी बकते रहें, हम उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते पर हम तड़प उठते हैं यह देखकर कि हमारे संस्कृताभिमानी विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाया जाता है—"जब समस्त भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी, उस समय उसका नाम 'भारती' था। यह भारत की 'भाषा' या उसकी अंतरात्मा 'सरस्वती' थी। वह भाषा अपने वाङ्मय या 'सरस्वती' को वहन या धारण करने की इतनी प्रकाम क्षमता रखती थी कि उपासकों ने भाषा और भाव—शरीर और आत्मा—दोनों की एकता मानकर विग्रह में ही देवता की प्रतिष्ठा कर ली।" ('गद्यभारती' की भूमिका का 'राम')। इस प्रकार के वागजाल के द्वारा चाहे संस्कृत शब्दों की जितनी भँड़ैती की जाय पर इसका सीधा अर्थ यही निकलता है कि संस्कृत भूत की बात हो गई। अब न तो वह भारत की भारती रही और न उसकी अंतरात्मा 'सरस्वती'। तो क्या हिंदू संस्कृति का उद्धार और भारत का अभ्युदय इसी 'थी' से होगा? क्या भाषाशास्त्र का सारा सार इसी 'थी' में छिपा है?

नहीं, अब इसका भरपूर विरोध होना चाहिए और अपने होनहार विद्यार्थियों को इस प्रकार के कुपाठ से सर्वथा बचाना चाहिए। सच पूछिए तो हमारे राष्ट्र का विनाश जितना कुपढ़ हाथों से हो रहा है उतना अपढ़ लोगों से नहीं। भारत की भाषा आज भी भारती ही है—संस्कृत न सही भाषा तो है। भला कौन कह सकता है कि तुलसी के रहते रहते 'भाषा' तो रह गई पर

संस्कृत मर गई ? नहीं, कदापि नहीं। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में लोकभाषा के साथ ही साथ देवभाषा का भी विधान किया है। ऊपर की वंदना में गिरा, जल, वीचि, सम, भिन्न, सीता, राम, पद, परम, प्रिय, खिन्न सभी तो शुद्ध संस्कृत हैं; केवल छंद के अनुरोध से अर्थ को 'अरथ' कर दिया है, अन्यथा वह भी संस्कृत ही है। अब यदि यह संस्कृत मरी भाषा है तो जीवन किसे कहते हैं ? हम तो नहीं समझते कि संस्कृत पर धूल उड़ानेवाले कुछ जानते भी हैं अथवा राष्ट्रभाषा के प्रसंग में संस्कृत के साथ अरबी को ला खड़ा करनेवाले कहीं कुछ बुद्धि वा विवेक भी रखते हैं। अरबी का तो भारतीय भाषाओं से उतना भी लगाव नहीं जितना कि अँगरेजी का है। हाँ, ईरानी पड़ोस में बस सकती है पर अरबी कदापि नहीं। जब उर्दू 'नबी की ज़बान' बताई जा रही है तब तो और भी नहीं। क्योंकि नबी देशभाषा के पुजारी थे, कुछ विदेशभाषा के प्रचारक नहीं।

अरबी से हमारे देश का जो इसलामी नाता है उस पर आगे चलकर विचार होगा। अभी कहना यह है कि इसलाम के आ जाने से कोई नई जाति भारत में नहीं आ गई। जिनके बाप-दादे पहले आततायी के रूप में आते थे वे ही अब मुसलिम के रूप में आने लगे। अंतर इतना अवश्य हो गया कि पहले रसते बसते यहीं के हो जाते थे और अब यहाँ के लोगों को भी यहाँ से उढ़ार-कर कहीं और का बताने लगे। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ धीरे धीरे अपने को राष्ट्र का अंग बना लेते थे, अब प्रमादवश राष्ट्र के कोढ़ के रूप में सामने आने लगे और जब अपनी सारी सत्ता खो बैठे तब भाषा के सिर हो रहे और इसलाम की ओट में पेट चलाने लगे। पेट-पूजा की चिंता और शाही शान ने राष्ट्रभाषा

के विकास में जो बाधा उपस्थित की वह पनपकर उर्दू के रूप में फूल उठी और उसका फल पाकिस्तान निकला। अब कहाँ हिंद और कहाँ हिन्दुस्तान ! बस अब तो पाकिस्तान ही दिखाई दे रहा है। तो क्या पाकिस्तान अरबी शब्द है ? कुरानमजीद से उसका भी कोई नाता है ? जी नहीं। तो फिर हमारा प्रश्न है 'दारुलइसलाम' क्यों नहीं, पाकिस्तान क्यों ? 'अल्लाह' क्यों नहीं 'खुदा' क्यों, 'सलात' क्यों नहीं 'नमाज' क्यों ? 'सौम' क्यों नहीं 'रोज़ा' क्यों ? इस क्या का जवाब दो तो राष्ट्रभाषा के विषय में मुँह खोलो अन्यथा बादशाहत का स्वप्न देखते फिरो।

राष्ट्रभाषा ने कभी किसी शब्द का बहिष्कार नहीं किया, यदि वह कुछ लेकर आया तो भारत की सभी भाषाओं में उसका स्वागत हुआ। संस्कृत में न जाने कितने शब्द प्रचलित हो गए। भाषा का कोष उनसे भी भरा। पर परदेशी जी इतने से न भरा। उसने देखा कि शाही गई, शाही शान गई, और गई शाही बोली ? अब जो कुछ बच रहा है वह है दीन और दुनिया। दीन को अरबी का सहारा था, है और रहेगा भी। इसलाम अरबी को सर्वथा भुला नहीं सकता। पर कोई भी सच्चा हिंदी मुसलमान हिंदी को छोड़कर फारसी को अपनाने क्यों लगा ? आज ईरान भी तो उससे कोसों दूर जा पड़ा है। आज ईरान की भाषा खरी ईरानी हो रही है--फारसी का नाम तक नहीं लिया जाता। आज तुर्की की भाषा शुद्ध वा निपट तुर्की बनाई जा रही है—अरबी की कोई बात भी नहीं पूछता। वह मजहब की चीज हो सकती है, राष्ट्र की भाषा नहीं। सारांश यह कि वहाँ आसमान को जमीन से, दीन को दुनिया से, अलग करके देखा जा रहा है,

कुछ दोनों को गड्डमड्ड करके नहीं। तनिक सोचने, समझने और विचार करने की बात है कि भारत में क्या और अन्यत्र के इसलाम में क्या और क्यों हो रहा है? बिना विचारे राष्ट्रभाषा की कोटि में उर्दू क्या फारसी-अरबी को ला खड़ा करना मजहब नहीं कुफ्र है, इसलाम नहीं उपद्रव है। यदि दीन का दर्द है तो दीन की दृष्टि से उस पर विचार हो और सब प्रकार से उसका पालन भी हो। पर यदि दुनिया की चाल है तो उसकी गति को परखो और व्यर्थ में राष्ट्रभाषा के मार्ग में खाई न खोदो। याद रखो, उर्दू को बने अभी २०० वर्ष से अधिक नहीं हुए। कहने को चाहे कुछ भी कहो पर सच्ची और दोटूक बात तो यह है कि—

यहाँ (शाहजहानाबाद) के खुश बयानों[1] ने मुत्तफ़िक़[2] होकर मुताद्दिद[3] जबानों से अच्छे अच्छे लफ्ज़ निकाले और बाज़ इबारतों और अल्फ़ाज़ में तसर्रुफ़[4] करके और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।" (दरियाए लताफ़त अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, दिल्ली, आरम्भ)

सैयद इंशा जैसे भाषाविद् ने 'दरियाए लताफ़त' जैसी सनदी किताब में उर्दू के विषय में जो कुछ लिखा है उसे उर्दू के इतिहासलेखक जान-बूझकर पी गए और उसे ऐसा पचा लिया कि आज उसकी गंध तक नहीं आती। परंतु यदि खोज की आँख से देखा और उर्दू के कारनामों का लेखा लिया जाय तो स्थिति आपही स्पष्ट हो जाती है। सैयद इंशा की दरियाए लताफ़त सन् १२२३ हि० (१८०८ ई०) में रची गई और रची गई लखनउ

१—साधु-वक्ताओं। २—एकमत। ३—गिनी हुई। ४—हस्तक्षेप।

के नव्वाब सआदत अलीख़ाँ के दरबार में। अतः इसके प्रमाण होने में कोई त्रुटि नहीं। फिर भी अच्छी तरह आँख खोलने के लिये श्री मुहम्मद बाक़र 'आगाह' (११५८-१२२० हि०) जैसे दक्खिनी मौलवी की भी सनद लीजिए। आप कहते हैं—

"वली गुजराती ग़ज़ल रेख़ता की ईजाद में सभों का मुब्तदा[1] और उस्ताद है। बाद उसके जो सुखुनसंजाने[2] हिन्द बुरोज़[3] किए (?) बेशुबहा उस नहज[4] को उससे लिये और मिन[5] बाद उसको बासलूब[6] खास मखसूस कर दिये और उसे उर्दू के भाके से मौसूम[7] किए" (मद्रास में उर्दू, इदारा अदबियात उर्दू, संख्या ८१, हैदराबाद दकन, १९३८ ई० पृष्ठ ४७)।

आगे चलकर फिर यही 'अगाह' साहब बताते हैं—

'अवाखिर अहद मुहम्मदशाही से इस असर तलक इस फ़न में अक्सर मशाहीर[8] शुअरा अरसा[9] में आए और अक़साम[10] मंजूमात[11] को जलवे[12] में लाए हैं, मिस्ल दर्द, मज़हर फ़ुगाँ......" पृ० ४७)

मौलाना आगाह ने 'मसनवी गुलज़ारे इश्क़' की रचना सन् १२११ हि० में की अर्थात् सैयद इंशा से १२ वर्ष पहले अपनी मसनवी में उर्दू की उत्पत्ति की उक्त सूचना दी। आगाह के कहने से इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि हो न हो उर्दू की ईजाद मुहम्मदशाह रँगीले के शासन में ही हुई। इसके पहले मुग़ल दरबार की हिंदी क्या थी उसे भी कुछ जान लें तो उर्दू का भेद खुले। अच्छा तो वही आगाह साहब फिर हमें आगाह करते हैं—

१—अग्रणी। २—कवि। ३—प्रकट। ४—प्रणाली। ५—से। ६—रीति के साथ। ७—नामी। ८—प्रसिद्ध। ९—परंपरा। १०—भेदों। ११—पद्यों। १२—प्रकाश।

"जब शाहाने हिंद इस गुलजार[1] जन्नत[2] नज़ीर को तसख़ीर[3] किए तर्ज़ व रोज़मर्रा दक्खिनी नहज मुहावरा हिंदी से तबदील पाने लगे ता आँ कि रफ़्ता-रफ़्ता इस बात से लोगों को शरम आने लगी और हिंदुस्तान मुद्दत लग ज़बान हिंदी कि उसे ब्रज भाषा बोलते हैं रवाज रखती थी अगर चे लुग़त[4] संस्कृत उनकी अस्ले उसूल[5] और मख़रज[6] फ़ुनून[7] फ़ोरुअ[8] उसूल है।" (पृ० ४६)

उर्दू के प्रसंग को यहीं छोड़ अब हम थोड़ा यह दिखा देना चाहते हैं कि दक्षिण का हिंदी से वस्तुतः क्या संबंध रहा है। परंतु इस संबंध पर विचार करने के पूर्व ही आगाह के एक अन्य कथन पर भी ध्यान देना चाहिए। आपको 'उर्दू की भाका' भाती नहीं। कारण, उन्हीं के मुँह से सुनिए—

"जब ज़बान क़दीम दक्खिनी इस सबब से कि आगे मरकूम[9] हुआ, इस असर[10] में रायज नहीं है, उसे छोड़ दिया और मुहावरा साफ़ व शुस्ता[11] को कि क़रीब रोज़मर्रा उर्दू की है एख्तयार किया। सिर्फ इस भाके में कहने से दो चीज़ माने हुए अव्वल यह कि तासीर[12] वतन याने दकन इसमें बाक़ी है क्या वास्ते कि अजदाद[13] पिदरी व मादरी इस आसी[14] के और सब क़ौम इसकी बीजापूरी हैं, दूसरे यह कि बाज़े अवज़ाय[15] इस मुहावरा के मेरे दिल में भाते नहीं। अजा जुमला[16] यह कि तज़कीर[17] व तानीसे[18] फेल नज़दीक अहले

१—उद्यान। २—स्वर्गोपम। ३—अधीन। ४—भाषा। ५—पद्धति की जड़। ६—स्रोत। ७—कलाओं। ८—अंगो अर्थात् संस्कृत भाषा ही उसकी रीति-नीति और गुण-वृत्ति का मूल है। ९—लिखित। १०—परंपरा। ११—निखरा। १२—प्रभाव। १३—पूर्वज। १४—दुखिया। १५—ढंग। १६—इस वाक्य से। १७—पुल्लिंगता। १८—स्त्रीलिंगता।

दकनके तावे[1] फ़ाअल[2] है अगर यह मुज़क्कर[3] है तो वह भी मुज़क्कर है और अगर मुवन्नस[4] है तो मुवन्नस। यह क़ायदा मुवाफ़िक़ क़ायदा अरबी के है कि सैयद[5] अल्सना[6] है और क़यास सही भी इसकी ताईद करता है। बर ख़िलाफ़ मुहावरा उर्दू के कि उसमें निस्बत फेल की मफ़ऊल[7] की तरफ़ कर मुज़क्कर को मुवन्नस और मुवन्नस को मुज़क्कर कर देते हैं।" (वही, पृ० ४६-५०)

परदेशी उर्दू आगाह को भाती तो नहीं पर किसी प्रकार उन पर अपना रंग जमा ही लेती है और आगाह को कुछ उसकी सी करनी ही पड़ती है उर्दू घर-बार छुड़ाकर आगाह को अपना दास न बना सकी; पर आज दक्खिनी है कहाँ ! आगाह ने भी तो भाषा के प्रकरण में अरबी को ही प्रमाण माना है ? परंतु दक्खिनी को उर्दू की सबसे बेढंगी बात जान पड़ती है उसकी क्रिया का कर्म के अनुसार रूप धारण करना। कभी डाक्टर राजेंद्रप्रसाद ने भी सम्मेलन से ऐसा ही कुछ कहा था और आज डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी कामकाजी अथवा बोलचाल की हिंदुस्थानी को इससे मुक्त करना चाहते हैं। अच्छा, यह तो विवाद वा विचार की बात ठहरी। यहाँ कहना यह था कि यदि दिल्ली के दौलताबाद जा पड़ने से दक्खिनी पैदा हो गई तो उसमें यह भेद कहाँ से आ गया। यह तो पूर्बी वा बिहारी की सुधि दिलाता है, देहलवी की नहीं। बात यह है कि उर्दू की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये दक्खिनी का जितना नाम लिया जाता है उतना उस पर विचार नहीं किया जाता। नहीं, यदि दक्खिनी का स्वतंत्र अध्ययन हो तो भाषा के क्षेत्र में कुछ और ही रहस्य खुलें।

१—अधीन। २—कर्त्ता। ३—पुल्लिंग। ४—स्त्रीलिंग। ५—प्रमुख। ६—भाषा। ७—कर्म।

दक्खिनी के विषय में भूलना न होगा कि श्रीमार्कंडेय कवींद्र ने (१५वीं शती ई०) उसके संबंध में (प्राकृतसर्वस्व में) लिखा है—

"द्राविडीमप्यत्रैव मन्यते । तथोक्तम्—

टक्कदेशीयभाषायां दृश्यते द्राविणी तथा ।

तत्र चायं विशेषोऽस्ति द्राविडैरादृतापरम् ॥ इति ॥" (षोडश पाद)

इधर भाषाशास्त्रियों ने दक्खिनी का जो लेखा लिया है वह मार्कंडेय के उक्त कथन के सर्वथा अनुकूल है। किंतु स्वयं दक्खिनी कवियों ने कभी टक्क वा टक्की का नाम नहीं लिया है। तो क्या मार्कंडेय का कथन सचमुच निराधार है? निवेदन है नहीं, दक्खिनी के प्रायः सभी पुराने लेखकों ने अपनी भाषा को गूजरी कहा है जिसका अर्थ उर्दू में गुजराती लगाया गया है। पर जैसा कि कहा जा चुका है, उनकी भाषा गुजराती से मेल नहीं खाती, हाँ, पंजाबी से अवश्य मिलती है। तो क्या उनकी गुजराती पंजाब के गुजरात से संबद्ध है?

जो हो, हम तो इस गूजरी को प्रत्यक्ष गुर्जरी का रूप समझते हैं। गुर्जरों के विषय में जो (भोजदेव के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में) कहा गया है 'अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः' उसका भी कुछ अर्थ है। उसे अब यों ही नहीं टाला जा सकता। 'गूजरी' तो हिंदी की नायिका ही बन गई है, फिर राष्ट्र-भाषा के प्रसंग में उसे कैसे छोड़ सकते हैं।

अच्छा तो देखना यह है कि इस गूजरी का संस्कृत से क्या संबंध है, क्योंकि इस पर डटकर विचार किए बिना राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझ नहीं सकता और प्रतिवादी मान नहीं सकते कि भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृतनिष्ठ क्यों है। लीजिए वही मार्कंडेय स्पष्ट घोषणा करते हैं—

"संस्कृताढ्या च गौर्जरी" और 'च' की व्याख्या करते हैं "चकारात् पूर्वोक्तटक्कभाषाग्रहणम् (वही, अष्टादश पाद)

मार्कंडेय की भाँति शेषकृष्ण (१६ वीं शती) भी यही कहते हैं-
"आभीरिका प्रायिक भकट्ठादि, कर्णाटिका रेफविपर्ययेण।
देशीपदान्येव तु मध्यदेश्या, स्याद्गौर्जरी संस्कृतशब्दभूम्नि ॥"
(इं० ए० १९२३, पृ० ७)

'संस्कृतशब्दभूम्नि' एवं 'संस्कृताढ्या' से स्पष्ट है कि गौर्जरी संस्कृतनिष्ठ भाषा है। उधर उसकी सहेली टाक्की के बारे में कहा जाता है—

"टाक्की स्यात्संस्कृतं शौरसेनी चान्योन्यमिश्रिते। अन्योः सङ्करादित्यर्थः। इयं द्यूतकारवणिगादिभाषा।" (षोडश पाद)

मार्कंडेय के इस कथन की पुष्टि मृच्छकटिक की पृथ्वीधरी टीका करती है। उसमें आरंभ में ही कहा गया है—"टक्कभाषा-पाठकौ माथुरद्यूतकरौ।"

तो 'टाक्की' के प्रसंग में भूलना न होगा कि वह 'विभाषा' ही नहीं 'अपभ्रंश' भी है अर्थात् वह केवल वर्गभाषा ही नहीं देशभाषा भी है। फलतः टाक्की 'अपभ्रंश' के विषय में शेषकृष्ण लिखते हैं—

टाक्की पुरा निगदिता खलु या विभाषा
सा नागरादिभिरपि त्रिभिरन्विता चेत्।
तामेव टक्कविषये निगदन्ति टक्का-
पभ्रंशमत्र तदुदाहरणं गवेष्यम् ॥" (वही, ६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि गौर्जरी और टाक्की नागरापभ्रंश पर आश्रित हैं। अर्थात् गूजरी का रहस्य जानने के लिये टक्की एवं

नागरी का भेद जानना अनिवार्य है। सो नगर के संबंध में कहा गया है—

'अन्येषामपभ्रंशानामेष्वेवान्तर्भावः' (अष्टादश पाद)।

मार्कंडेय ने नागरापभ्रंश को अपभ्रंश भाषा का मूल कहा है और उसको महाराष्ट्री एवं शौरसेनी में प्रतिष्ठित माना है। जहाँ तक पता चला है, मार्कंडेय ने ही नागर का सर्वप्रथम उल्लेख किया है अन्यथा नमिसाधु (६ वीं शती) भी उपनागर, आभीर और ग्राम्य ही तक रह गए हैं। विचार करने से प्रतीत होता है कि हेमचंद्र (१२ वीं शती) के समय तक अपभ्रंश नागर का पर्याय समझा जाता था; तभी तो उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण में 'नागर' का नाम तक नहीं लिया और अपभ्रंश का पूरा 'अनुशासन' कर दिया। हमारी धारणा है कि अपभ्रंश के लिये 'नागर' का व्यवहार बहुत पहले का है, कारण कि यदि ऐसा न होता तो नमिसाधु किस न्याय से उपनागर और ग्राम्य की कल्पना करते और स्वयं आचार्य हेमचंद्र अपभ्रंश के साथ ग्राम्यापभ्रंश की जोड़ लगा देते। कहते हैं—

"अपभ्रंशभाषानिबद्धसन्धिबन्धमब्धिमथनादि, ग्राम्यापभ्रंशभाषानिबद्धावस्कन्धभीमकाव्यादि।" (काव्यानुशासन, अ० ८)

'नागर' शब्द के आधार पर 'उपनागर' और 'ग्राम्य' का विधान हुआ अथवा 'ग्राम्य' के आधार पर नागर का, इसका समाधान अत्यंत सरल है, कारण कि हम पहले से ही जानते हैं कि 'आभीरादिगिरः' को काव्य में अपभ्रंश कहा गया है जिसका संकेत प्रकट ही गुर्जराभीरादि जातियों की ओर है। गुर्जर, आभीर, नागर आदि के इतिहास में पैठने को समय नहीं, अतः संक्षेप में जान लीजिए कि मानसरोवर के निकट हाटक स्थान से निकलकर

नगर वा नागर जाति पहले नगरकोट में बसी और फिर धीरे धीरे सारे भारत में फैल गई। यहाँ तक कि कूर्ग और बंगाल में भी जा बसी[1]।

नागर ज्ञाति के साथ इतना भटकने के उपरांत अब यह कहना शेष रहा कि वास्तव में गुर्जर, टक्क और नगरकोट

1—"It will be seen that there was a tribe or race called Nagar or Nāgar whose original seat was the country of Hātak situated near the Manasa Lake. It gradually migrated westward and southward. Its westward movement is indicated by such place names as Hunga. Nagas in Kashmir and Nagar on the Kabul river. Their first settlement southward was Nagar or Nagarkot, from where different class such as the Mitras and Duttas occupied such provinces as Panchal, Kosala, and Mathura from the second century B. C. to the second century A. D. There were followed by the Nagas, Guptas, and Varmans, who similarly held different parts of North India. Then came the Vardhanas, Palas and Senas who spread as far east as Bengal, whereas the Maitrakas who were related to the old Mitras, as the Kadambas to the Kadambas or the Chaulukyas to the Chalukyas, conquered Gujrat and Kathiawara. Of course, these Nagar spread as far south as Nagarkhanda in Banvasi, but it is not clear whether they went on conquering or simply migrating. The spread of the Nagaras along the western coast as far as Coorg can easily be noted. But how they migrated to Bengal is far from clear."

(Indian Antiquary 1932, P. 70)

पड़ोसी प्रांत हैं। नगर कोट और कुछ नहीं काँगड़ा वा त्रिगर्त ही है।

अच्छा, तो कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण अपनी राजतरंगिणी में लिखते हैं—

"स गुर्जरजयव्यग्रः स्वपराभवशङ्किनम्।
त्रैगर्तं पृथ्वीचँद्र निन्ये तमसि हास्यताम्॥ १४४॥
उच्चखानालखानस्य संख्ये गूर्जरभूभुजः।
बद्धमूलां त्रणाल्लक्ष्मी शुचं दीर्घामरोपयत्॥ १४६॥
तस्मै दत्वा टक्कदेशं विनयादङ्गलीमिव।
स्वशरीरमिवापासीन्मण्डलं गुर्जराधिपः॥ १५०॥"

(पंचम तरंग)

डाक्टर भंडारकर ने जिन शासकों का उल्लेख नागर के विस्तार में किया है प्रायः उन सभी जत्थों की गणना 'शाहाने गूजर'[1] में गूजर के भीतर की गई है। यहाँ अब यह देखना रह जाता है कि इस दौड़ में टक्क कहीं किसी से पीछे तो नहीं रह गए। अपनी धारणा तो यह है कि वस्तुतः ठाकुर, ठक्कुर वा टगोर टक्क का ही अपभ्रंश है। डाक्टर भंडारकर ने जितना ध्यान 'कायस्थ' और 'नागर' पर दिया है उसका दशमांस भी यदि 'ठक्कुर' पर देते तो स्थिति बहुत कुछ सुलझ जाती। कुर्ग में तो आज भी पंचायत 'टक्क' (वृद्ध) ही करते हैं और बंगाल में भी टाकी (चौबीस परगना में) स्थान है। ठक्कुर शब्द का प्रयोग केवल क्षत्रिय के लिये ही नहीं, अपितु कायस्थ और ब्राह्मण के

१—यह पुस्तक 'दारुल-मुसन्निफीन' आजमगढ़ से उर्दू में प्रकाशित हुई है।

लिये भी हुआ है। विद्यापति 'ठाकुर' का अवहट्ठ प्रेम तो पुस्तक (कीर्तिलता) के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

मध्य देश के गहड़वार शासक गोविंदचंद्र के दानपत्रों में 'ठक्कुर' शब्द का व्यवहार खूब हुआ है। उनमें से एक में (एपिग्राफिका ंडिका भाग ४, पृ० १०४) "श्रीवास्तव्यकुलोद्भूतकायस्थ ठक्कुर श्रीजल्हणेन लिखितः" भी लिखा गया है। 'ठक्कुर' शब्द के अर्थ-विस्तार पर विचार करना है तो आवश्यक पर यहाँ संभव नहीं है: अतः संक्षेप में यहाँ कहा यही जाता है कि मूलतः यह टक्कनिवासी का द्योतक है। टक्क, ठक्क एवं ढक्क तीनों रूप संस्कृत में साथ साथ चलते रहे हैं। एक बात और। हमने कालिदास के दूतकर्म[1] पर अन्यत्र विचार किया है। उससे अवगत हो जाता है कि कामरूप पर उनका कितना ऋण है। हमारी समझ में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन में बंगाल में 'कायस्थ' (जाति नहीं) गए और उन्हीं के द्वारा वहाँ अपभ्रंश का प्रचार हुआ। इस प्रसंग में भूलना न होगा कि कालिदास ने प्रमत्त विक्रम के मुख से जो अपभ्रंश भाषा निकाली है उसका एकमात्र कारण यही है कि वास्तव में वही उसकी जन्मभाषा थी। हमारा मत है कि मेहरौली के लोहस्तंभ में जो 'धावेन' का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ है धवदेश के निवासी के द्वारा, किसी अन्य 'चन्द्र' के द्वारा नहीं। सारांश यह कि गुप्त साम्राज्य में ही पहले पहल अपभ्रंश को महत्त्व मिला और वह देखते ही देखते विभाषा से काव्य भाषा बन चली।

अपभ्रंश को लेकर धीरे-धीरे हम इतनी दूर निकल आए कि

१—विक्रम स्मृति-ग्रन्थ, सं० २००१ वि०, ग्वालियर पृ० ३०७।

बेचारी 'गूजरी' छूट ही गई। पर करें क्या, जब देखते हैं कि चारों ओर राष्ट्रभाषा के प्रचार का श्रेय मुगल सामन्तों वा मुसलमानों को दिया जाता है और भाषा के इतिहास पर प्रमाद-वश पानी डाला जाता है तब कुछ बीती बात उभारनी ही पड़ती है। आशा है कि इतने से ही स्पष्ट हो गया होगा कि इसलाम के लाहौर में बसने वा मुसलमानों के दिल्ली में जम जाने के बहुत पहले ही किस प्रकार अपभ्रंश का भारत भर में प्रचार हो गया था। अस्तु, अब उस भ्रम का भी मूलोच्छेद करना चाहिए जो किसी पढ़े-लिखे बाबू को नागरी भाषा कहने से रोकता है और नागरी को सदा देवनागरी का ही पर्याय मानता है, कैथी का कभी नहीं।

यह तो खुली हुई बात है कि नागरी भाषा का प्रयोग स्वभावतः नागरापभ्रंश के लिए ही हो सकता है फिर भी न जाने क्यों लोग नागरी भाषा से भड़कने लगे हैं; संघटित प्रचार में कितना बल होता है इसका एक प्रमुख प्रमाण यह भी है। यदि आप फोर्ट विलियम के आईन[1] को देखें तो पता चले कि उसमें नागरी भाषा और लिपि का व्यवहार हुआ है। लिपि तो उसकी प्रत्यक्ष कैथी ही है, पर कही गई नागरी ही है क्यों? बात यह है कि अभी नागरी और कैथी का घोर भेद खड़ा नहीं हुआ था और नागरी का अर्थ केवल देवनागरी ही न था। सच तो यह है कि उस समय नागरी के दो भेद अथवा उचित होगा दो रूप चल रहे थे। उनमें से एक का प्रयोग तो ग्रंथों को शुद्ध शुद्ध लिखने के हेतु होता था और दूसरा व्यवहार (कचहरी) में चालू था। नागरी शुद्ध रूप का उपयोग संस्कृत के लिये अधिक होता था, अतः उसे

१—इसकी कुछ प्रतियाँ काशी के 'आर्यभाषा पुस्तकालय' में सुरक्षित हैं।

देवनागरी का नाम दिया और नागरी सकुचाकर वहीं रह गई। आज तो कोई कभी कैथी को नागरी कह नहीं सकता, पर आज से सौ वर्ष पहले कैथी और नागरी में कोई वैर न था। कभी कायस्थ और नागर एक थे तो कभी कैथी और नागरी भी एक ही थीं, किंतु फिरंगियों की कृपा से क्या हो गया? भेद-बुद्धि क्या नहीं कर सकती!

लिपि की बात तो यों ही, यह दिखाने के निमित्त कह दी गई कि आप ताड़ सकें कि गत सौ सवा सौ वर्षों में भाषा के क्षेत्र में कितना गड़बड़झाला हुआ है और हम कैसे उसी गड़बड़झाले में उलझकर पंडिताई झाड़ रहे हैं और झाड़ बताते हैं अपने पूर्वजों को।

हाँ, तो देखिए यह कि डाक्टर जान मार्शल भारत में भ्रमण कर रहे हैं और नागरी भाषा पर लिख[१] भी रहे हैं कि वह संस्कृत से बहुत भिन्न नहीं है और उज्जैन नगरी के नाम पर नागरी बनी है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष सर शफ़ात अहमद खाँ ने उनके ग्रंथ का संपादन किया है और उसके नागरी के प्रकरण को काट-कपटकर इतना कम कर दिया है कि वस्तु-स्थिति का ठीक ठीक समझना कठिन हो गया है। परंतु फिर भी

१—"It (Naggary Language) is not very much differing from the Sinscreet (Sanskrit) This called Naggary (Nagri) from the name of a city which was called Urgin Naggary (Ujjain Nagari) about 1700 years since, which city is now called Bonarres." (John Marshall in India) p. 423

टाँकने की बात यह है कि डाक्टर मार्शल संस्कृत से इसे बहुत भिन्न नहीं पाते और कहते भी इस भाषा को नागरी ही हैं। इसकी निरुक्ति के विषय में वे जो कुछ कहते हैं वह भी निराधार नहीं है। हाँ, कुछ उलझा हुआ अवश्य है। नागरी का प्रथम प्रयोग उधर ही तो हुआ था ?

डाक्टर मार्शल ने (सन् १६६८ से १६७२ ई०) आलमगीर औरंगजेब के शासन में नागरी भाषा के विषय में जो कुछ सुना-गुना उसे ही लिख दिया। वह प्रत्यक्ष ही संस्कृत के निकट और भाषा के साथ है। अब अँगरेजी शासन में विश्व-उजागर तबलीगी नेता ख्वाजा हसन निजामी देहलवी की वाणी सुनिए। वे तो पुकार कर कहते हैं—

यह हिंदी ज़बान ममालिक[1] मुत्तहदा[2] अवध और रुहेलखंड और सूबा बिहार और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अक्सर देसी रियासतों में मुरव्वज[3] है। गोया बंगाली और बरमी और गुजराती और मरहठी वग़ैरा सब हिंदुस्तानी ज़बानों से ज्यादा रिवाज हिंदी यानी नागरी ज़बान का है। करोड़ों हिंदू औरत मर्द अब भी यही ज़बान पढ़ते हैं और यही ज़बान लिखते हैं। यहाँ तक कि तक़रीबन[4] एक करोड़ मुसलमान भी जो सूबा यू० पी० और सूबा सी० पी० और सूबा बिहार के देहात में रहते हैं या हिंदुओं की रियासतों में बतौर रियाया के आबाद हैं और उनको हिंदू रियासतों के ख़ास हुक्म के सबब से हिंदी ज़बान लाज़मी[5] तौर से हासिल करनी पड़ती है, हिंदी के सिवा और कोई ज़बान नहीं जानते। (कुरान मजीद के हिंदी अनुवाद की भूमिका)

१—प्रान्त। २—संयुक्त। ३—प्रचलित। ४—लगभग। ५—अनिवार्य।

अच्छा तो यह भूमिका ५ नवम्बर सन् १६२६ को लिखी गई। इसीसे इसमें थोड़ी सी सचाई भी आ गई है नहीं तो अब कौन मुसलमान ऐसा लिख सकता है ? इसमें भी 'अब भी' 'बतौर रियाया' तथा 'हिंदू रियासतों के खास हुक्म के सबब' से जो काम लिया गया है वह भुलाने के योग्य नहीं है। इसमें उर्दू का तो कहीं नाम तक नहीं आया है पर विवशता के कारण माना यही गया है कि 'हिंदी यानी नागरी ज़बान' ही हिंद वा हिंदुस्तान की राष्ट्र-भाषा है, कुछ हिंदी यानी हिंदुस्तानी वा उर्दू नहीं। तो क्या हिंदी के अभिमानी अब भी अचेत ही रहेंगे और नागरी का व्यवहार भाषा के अर्थ में न करेंगे ?

डाक्टर मार्शल ने नागरी का संबंध जो उज्जैन से जोड़ा है उसका भी कुछ कारण है। नागरी भाषा एवं नागरी लिपि का विकास किस ढंग से हुआ इसकी एकाध झलक भी मिल जाय तो बहुत समझिए अन्यथा भागते समय से कितना छीना जा सकता है ? लीजिए एक विदेशी मुसलिम भी, जो सुल्तान महमूद गजनवी का समयुगी है, आपके पक्ष में बोल रहा है। वह कहता है—

मालवा के हुदूद[1] में एक ख़त[2] जारी है जिसको नागर कहते हैं और इसी के बाद अर्दनागरी ख़त है यानी आधा नागर क्योंकि यह नागर और दूसरे ख़तों से मिला-जुला है और यह भातिया और कच्छ सिंध में मुरव्वज है। इसके बाद मलवारी ख़त है जो मल्लशा यानी जनूबी[3] सिंध में रायज है। (नुक़ूशे सुलैमानी, जामिया मिल्लिया देहली सन् १६३६, पृ० २३)

१—सीमा। २—लिपि। ३—दक्षिणी।

कहना न होगा कि अबू रैहाँ बेरूनी ने 'नागर' और 'अर्द्ध-नागरी' लिपि का जो क्षेत्र बताया है वह अपभ्रंश का ही क्षेत्र है इसी को यदि हम अपने यहाँ के ढंग पर कहना चाहें तो सरलता से कह सकते हैं कि नागरी नागरापभ्रंश की लिपि है तो अर्द्ध-नागरी व्राचड़ की। कारण कि श्री मार्कंडेय का कहना है—

सिन्धुदेशोद्भवो व्राचडोऽपभ्रंशः। अस्य च यत्र विशेषलक्षणं नास्ति तन्नागरात् ज्ञेयं। (अष्टादश पाद)

अल्बेरूनी ने उसी ग्रंथ (किताब उल् हिंदी) में भाषा के भी दो रूपों का उल्लेख किया है। उसने एक को तो शिष्ट, व्यवस्थित और समृद्ध माना है पर दूसरे के बारे में वह कहता है कि उसकी अवहेलना होती है और उसका कोई व्याकरण भी नहीं है। संभवतः इस उपेक्षित भाषा से उसका तात्पर्य अपभ्रंश से ही है। उसने अपनी पुस्तक में जो हिंदी शब्द दिए हैं वे अपभ्रंश के ही प्रतीत होते हैं। सारांश यह कि अल्बेरूनी की गवाही से भी यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः नागरी और कुछ नहीं नागर भाषा और नागर लिपि ही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुर्जर-प्रतिहार शासकों ने मध्यदेश में नागरी का प्रचार किया और अपने उत्कीर्ण लेखों में उसका उपयोग किया। थोड़े में इतना ही पर्याप्त है कि नागरी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार साथ-साथ हुआ। नागर किस प्रकार समूचे देश में फैल गये इसका संकेत पहले हो चुका है। उन्हीं के उद्योग से उनकी भाषा भी देशव्यापक हुई और उनकी लिपि भी।

नागरी का नाम लेते-लेते एक बार फिर गुर्जर और टक्क सामने आ गए। कारण कि नागरी का सबसे प्राचीन उपलब्ध रूप गुजरात के गुर्जरवंशी राजा जयभट्ट (तृतीय) के कलचुरि

सं० ४५६ (ई० सं० ७०६) के दानपत्र के हस्ताक्षर—'स्वहस्तो मम श्रीजयभट्टस्य'—में प्राप्त होता है और टाकरी लिपि के साथ टक्क का लगाव है ही। भाषा के प्रसंग में टक्क का जो हाथ रहा है, लिपि के साथ भी वही काम करता है। देखिए न, पुराविद् कनिंघम साहब किस उल्लास से निष्कर्ष निकालते और अपनी कह सुनाते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन नागरी लिपि जिसका व्यवहार बमियान से लेकर यमुना तट तक समान रूप से सब में और सर्वत्र हो रहा है टक्कों के द्वारा बनी और टाकरी कही जाती है।[१]

'टाकरी' की भाँति 'गुर्जरी' वा 'गूर्जरी' लिपि का प्रयोग भी पाया जाता है पर कहीं उसके साथ ही साथ 'नागरी' का भी उल्लेख देखने में नहीं आया जिससे प्रतीत होता है कि गूर्जरी लिपि भी नागरी का ही एक रूप है। कैथी के संबंध में पहले कहा जा चुका है कि कैथी को भी पहले नागरी ही कहते थे—कैथी और नागरी का द्वंद्व तो बहुत इधर का है। देवनागरी और कैथी नागरी का भेद फिरंगियों का खड़ा किया हुआ हो तो इसमें तनिक भी

१—"The former importance of this race is perhaps best shown by the fact that the old Nagari characters, which are still in use throughout the whole country from Bamiyan to the banks of the Jamuna, are named Takari, most probably because this particular form was brought into use by the Taks or Takkas. I have found these characters in common use under the same name amongst the grain dealers to the west of the Indus, and to the east of Satlej, as well as amongst the Brahmans of Kashmir and Kangra." (The Ancient Geography of India, 1924, P. 175)

आश्चर्य नहीं। इस देव से उर्दू कितना भड़कती है इसके कहने की आवश्यकता नहीं। यह तो प्रतिदिन के अनुभव की बात है।

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का जो लेखा लिया गया है वह टंकार कर कह रहा है कि सचमुच भारत की राष्ट्रभाषा नागरी और राष्ट्रलिपि भी नागरी ही है, किंतु देश के दुर्भाग्य और राष्ट्र के दुर्दैव से हमारे कुछ देवता फरमाते हैं, "नहीं, राष्ट्रभाषा का नाम हिंदुस्तानी और राष्ट्रलिपि जो हो सो हो; उर्दू और हिंदी दोनों।" तभी तो अपना भी कहना है कि 'दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम।' हाँ, घबड़ाइए नहीं, चुपचाप खाले-खाले हिंदुस्तानी का ऊँट चराते रहिए, फिर देखिए वह किस करवट बैठता है।

अच्छा, अभी तक तो आप हिंदुस्तानी भाषा का ही नाम सुनते आ रहे थे पर आज आपको जताया जाता है कि अब हिंदुस्तानी लिपि भी मैदान में आ चुकी है और वह शीघ्र ही राष्ट्रलिपि घोषित होने वाली है। चकराने की बात नहीं, एक न एक दिन, उर्दू की भाँति ही अरबी लिपि भी हिंदुस्तानी का पर्याय होकर रहेगी। अरे; कहने-सुनने और बार-बार चिल्लाने से क्या नहीं 'आम' हो जाता ? और सो भी जब कि रेडियो भगवान् सहस्र फण से उर्दू के लिये बोलने को बीड़ा उठाए बैठे हैं और प्रति घड़ी किसी न किसी हिंदी शब्द को निगल रहे हैं।

नहीं मानेंगे ? लीजिए तो 'हिंदुस्तानी रस्मख़त' भी तैयार है। हिंदुस्तानी के कर्णधार राष्ट्रभक्त अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी का हिंदुस्तानी (?) मरसिया है—

सन् १८६७ ई० में बिहार बंगाल की गवर्नमेंट ने हिंदी को दफ्तरों का खत क़रार दिया और इसी असना[1] में यहाँ बंगाल की हमसायगी[2] के असर से अँगरेज़ी तालीम को रोज़अफ़ज़ूँ[3] तरक्की होती गई तो इस (ज़बान उर्दू) पर इस सूबा में मुरदनी छा गई। अदालतों और दफ्तरों की ज़रूरत से कौन आज़ाद है ? हिंदी रस्मख़त ने अवाम[4] हिंदुस्तानी रस्मख़त की जगह लेनी शुरू की और ख़वास[5] में, जो दिन पर दिन अँगरेजी तालीम पर मिटे जाते थे, देसी ज़बान की वक़अत[6] घटती चली गई। (नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० २६०)

हिंदुस्तानी रस्मख़त का अर्थ आप ही करें, हमें तो बस इतना भर कह देना है कि हम इस हिंदुस्तानी को पाषंड की ध्वजा अथवा पंचवटी की सूपनखा समझते हैं और इसीसे इसके कपट-रूप से सबको सचेत कर देना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। स्वयं कंपनी सरकार के विधान हमारे सामने हैं और सामने है वह विवरण जो कंपनी सरकार की ओर से घर घर और गाँव गाँव से लिया गया था डाक्टर एफ़ बुचनन के द्वारा सन् १८०७ और १८१६ ई० के बीच में।

सुनिए पहले कंपनी सरकार का आईन डुग्गी पीटकर बोलता है—

किसी को इस बात का उजुर नहीं होऐ के ऊपर के दफे का लिखा हुकुम सभसे वाकीफ नहीं है हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के इस आइन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी वो नागरी भाखा वो अछर में लीखाऐ कै

१—बीच। २—पड़ोस। ३—अधिक। ४—सामान्यों। ५—विशिष्टों। ६—प्रतिष्ठा।

अपने मोहर वो दस्तखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर में मालगुजारी करता उन सभों के कचहरि में वो अमानि महाल के देसि तहसीलदार लोग के कचहरी लटकावही। (अँगरेजी सन् १८०३, साल ३१, आईन २० दफा)

'नागरी भाखा वो अछर' पर ध्यान देना चाहिए और यह स्मरण रखना चाहिए कि नागरी लिपि ही नहीं भाषा भी है और नागरी लिपि का अर्थ यहाँ कैथी लिपि ही है। रही उस लिपि की बात जिसे जनाब सैयद साहब 'हिंदुस्तानी रस्मखत' कहते हैं उसका 'हिंदुस्तानी' से बिहार में अभी कोई लगाव ही नहीं। क्या सैयद साहब अथवा उसके हमजोली बिहार के किसी भी सरकारी आईन में हिंदुस्तानी भाषा और फारसी लिपि का विधान दिखा सकते हैं ? नहीं, यह तो असंभव है, बस उनके लिये संभव है आँख मूँदकर अँगरेजी को कोसना और गला फाड़कर नागरी पर लानत लाना। परंतु, कंपनी सरकार को जो करना था कर गई और डाक्टर बुचनन साहब को जो लिखना था लिख गए। उर्दू अब उनको मिटा तो सकती नहीं। हाँ, तिकड़मबाजी से अँगरेजी को धमका और नागरी को ठग अवश्य सकती है। हाँ तो डाक्टर बुचनन का फैसला है कि फारसी लिपि का व्यवहार कहीं हिंदुस्तानी के लिये नहीं होता जो मेरी जान से केवल बोली है।[१]

डाक्टर बुचनन के वचन की सत्यता उस समय के सभी कागद पत्रों से सिद्ध हो जाती है, अतः उसके संबंध में और न कह यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि बिहार के मुसल-

---

१—The Persian character is not used for writing the Hindustani Dialect, which so far as I can learn is entirely colloquial (Eastern India, Vol I, London, 1838, p. 448)

मान प्रायः परस्पर बातचीत में हिंदुस्तानी की अपेक्षा अवधी का ही कहीं अधिक व्यवहार करते हैं। यह भी एक ऐसा घोर सत्य है जिसकी उपेक्षा हो नहीं सकती, और उर्दू के प्रसार का श्रेय बिहार को नहीं दिया जा सकता। परंतु 'हिंदुस्तानी रस्मखत' के इस प्रयोग ने इतना तो स्पष्ट ही कर दिया कि हिंदुस्तानी की छाप से किस चहेती का सिक्का चल रहा है। इतने पर भी जो लोग हिंदुस्तानी हिंदुस्तानी चिल्ला रहे हैं उनकी बुद्धि को क्या कहा जाय ? हिंदुस्तानी तो उन्हें डुबाकर ही छोड़ेगी।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि हिंदुस्तानी की चिंता क्यों की जाय ? वह तो बिना खर की आग की भाँति आप ही भभककर बुझ जायगी और हम राष्ट्र के मार्ग के रोड़े भी न कहे जायँगे। ठीक है, परंतु हिंदुस्तानी को ईंधन की कमी नहीं है। सारी राष्ट्रीयता उसी में झोंकी जा रही है और वह उसी प्रकार देश में फैलाई जा रही है जिस प्रकार कभी उर्दू फैलाई गई थी। कोई भी बनावटी भाषा किस प्रकार साहित्य की भाषा बनाई जाती है इसका सब से बढ़िया नमूना उर्दू ही है। उर्दू मुहम्मदशाह रँगीले के शासन में किस प्रकार बनी, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। यहाँ उसकी प्रचार-कला पर ध्यान दीजिए। नवाब सैयद नसीर हुसैन खाँ 'खयाल' ने स्पष्ट लिख दिया है—

उमदतुल्मुल्क ने और उमरा के मशविरा[1] से देहली में एक उर्दू अंजुमन क़ायम की। उसके जलसे होते। ज़बान के मसले छिड़ते। चीज़ों के उर्दू नाम रक्खे जाते। लफ़्ज़ों और मुहावरों पर बहसें होतीं और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छानबीन के बाद अंजुमन के दफ्तर में वह तहक़ीक़शुदा[2] अल्फ़ाज़ व मुहावरात क़लमबंद होकर महफ़ूज़

१—परामर्श। २—परिशोधित।

किए जाते और बक़ौले साहबे सियरुल्मुताख़रीन इनकी नक़लें हिंद के उमरा व रूसा[1] पास भेज दी जातीं और वह इसकी तक़लीद[2] को फ़ख़ जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ्ज़ों और मुहावरों को फैलाते। मुग़ल और उर्दू, पृ० ६०)

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जो महात्मा गांधी का कान भरते और डाक्टर मौलवी अब्दुल हक़ जो डाक्टर राजेंद्रप्रसाद के पीछे पड़ते हैं उसका एकमात्र रहस्य यही है कि कोई ठीक ऐसी ही अंजुमन बने जो उर्दू की भाँति ही हिंदुस्तानी (हिंदुस्थानी नहीं उर्दू) का प्रचार करे और अपना घर 'हिंद के उमरा व रूसा' की जगह हिंद के बालकों, बालिकाओं वा छात्रों को बनाए। किंतु उक्त अंजुमन का परिणाम क्या हुआ? यही न कि उर्दू देशद्रोह को लेकर आगे बढ़ी और सर्वथा विलायती बन गई। सुनिए शम्सुल्उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद सा मर्मज्ञ कहता है—

"उर्दू के मालिक उन लोगों की औलाद थे जो असल में फ़ारसी ज़बान रखते थे। इस वास्ते उन्होंने तमाम फ़ारसी बहरें[3] और फ़ारसी के दिलचस्प और रंगीन ख़यालात और अक़साम[4] इंशापरदाज़ी[5] का फोटोग्राफ़ फ़ारसी से उर्दू में उतार लिया। तआज्जुब यह है कि उसने इस क़दर खुशअदई[6] और खुशनुमाई[7] पैदा की कि हिंदी भाषा के ख़यालात जो ख़ास इस मुल्क के हालात के बमोजिब[8] थे उन्हें भी मिटा दिया। चुनांचे ख़ास व आम पपीहे और कोयल की आवाज़ और चंपा और चंबेली की खुशबू भूल गए; हज़ारा, बुलबुल और नसरन व

१—रईसों। २—अनुकरण। ३—छंद। ४—प्रकार। ५—लेखन-कला। ६—सुव्यंजना। ७—सुशोभा। ८—अनुरूप।

संबुल जो कभी देखी न थीं, उनकी तारीफ़ करने लगे। रुस्तम और असफ़ंदयार की बहादुरी, कोह[१] अलवंद और बीसतून की बलंदी, जैहूँ सैहूँ की रवानी[२] ने यह तूफ़ान उठाया कि अर्जुन की बहादुरी, हिमालय की हरी हरी पहाड़ियाँ, बर्फ़ से भरी चोटियाँ और गंगा जमुना की रवानी को बिल्कुल रोक दिया।" (नज़्मे आज़ाद का दीबाचा, पृ० १४)

अस्तु, अर्थ की दृष्टि से तो उर्दू में यह परिवर्तन हुआ कि उसमें कहीं हिंदीपन रह ही न गया और गिरा की दृष्टि से भी उसकी कुछ ऐसी रुचि हुई कि हिंदी पूरबियों की भाषा समझी गई और दक्खिनी भी तुच्छ समझी गई। मौलवी मु० बाकर आगाह को उर्दू भाती नहीं थी किंतु उन्हीं के शिष्य मौलाना 'नामी' की, उर्दू के प्रचार से, दशा यह है कि उनको अपनी जन्मभाषा में मज़ा ही नहीं आता और किस बेहयाई से कह जाते हैं—

"है इस मसनवी की ज़बाँ रेखता अरब और अजम[३] से है आमेखता[४]। नहीं सिर्फ़ उर्दू मगर है अयाँ[५], ज़बाने सुलैमान हिंदोस्ताँ। अगर बोलता ठेठ हिंदी कलाम, तो भाका था वह पुरबियों का तमाम। ज़बाने दकन में नहीं मैं कहा, कि है वह ज़बाँ भी निपट बेमज़ा[६]।"

(मद्रास में उर्दू, पृ० ७५)

सारांश यह कि अब उक्त उर्दू-अंजुमन की कृपा से देश में वह समय आ गया जब दरबार की बानी उर्दू हो गई और क्या भाषा और क्या भाव सभी विलायती हो गए। यहाँ तक कि अब उस्ताद

१—पहाड़। २—गति। ३—ईरान। ४—मिश्रित। ५—प्रकट। ६—स्वादरहित।

मीर को भी 'फारसी तबीयत'† से हिंदी शेर कहना पड़ा और उस्ताद सौदा ने तो जोम में आकर यह घोषणा ही कर डाली—

"गर हो कशिशे[१] शाहे खुरासान तो सौदा।
सिजदा न करूँ हिंद की नापाक ज़मीं पर।"

कहाँ तो वह दिन था कि अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में अमीर खुसरो हिंद को बहिश्त कह जाते थे और कहाँ उर्दू के कारनामों से वह दिन आ गया कि हिंद नापाक हो गया और वहाँ सिजदा करना भी कुफ्र समझा गया! फिर भी यदि यही उर्दू सर तेजबहादुर सप्रू की मादरी ज़बान और नापाक हिंद की मुल्की ज़बान है तो हमें विवश हो कहना पड़ेगा कि अब राष्ट्रीयता की खोज के लिये 'बिस्तर को झाड़ा चाहिए'। ऐसे तो वह उर्दू में कहीं नज़र नहीं आती। स्मरण रहे, यह वह पुण्यभूमि है जहाँ उर्दू के बाबा आदम को शरण मिली थी और वह लोक है जिसके लिये देवता भी तरसा करते हैं। सौदा और जिन्नाह यदि इसे नापाक समझते और पाक करने की चिंता में हैं तो पहले अपने दिमाग़ में इसलाम की सूई लगवा लें और फिर कहें कि अल्लाह का आदेश क्या है और क्या है किसी काज़ी का फतवा। नहीं, उर्दू की पाकिस्तानी चल नहीं सकती, हाँ हत्या केवल राष्ट्र का खेत भले ही खाती रहे।

उर्दू जन्म से ही जिस अभारतीयता को लेकर उठी है वह उसके रोम रोम में इतनी समा चुकी है कि अब उसके भारतीय

१—खिंचाव।

†तबीयत से फ़ारसी की जो मैंने हिंदी शेर कहे।
सारे तुरुक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच।

होने की कोई संभावना नहीं और यदि है भी तो भी तब तक नहीं जब तक वह फिर नागरी की राष्ट्रभूमि पर नहीं आती। उर्दू इसलाम और इसलामी अदब का नाम व्यर्थ लेती है। अन्य देशों की बात छोड़िए। यहीं भारत के सूफियों ने जिस धर्म का प्रचार, जिस मात्रा में, देशभाषा वा हिंदी के द्वारा किया है वह उर्दू में कहाँ है? जो लोग हिंदी-उर्दू का द्वंद्व देखना नहीं चाहते और सचमुच राष्ट्र का उद्धार और उदय चाहते हैं उन्हें उर्दू की प्रवृत्ति में परिवर्तन करना ही होगा। यदि उनकी समझ में हिंदुस्तानी का लटका इसके लिये काफी है तो इस काफी का जाप करते रहें। परंतु गत वर्षों का कटु अनुभव तो इसी पक्ष में है कि हिंदुस्तानी का टुकड़ा हिंदी और उर्दू को लड़ाने के लिये ही फेंका गया है। निदान कहना पड़ता है कि इस मोहिनी का परित्याग तुरंत हो जाना चाहिए और राष्ट्रभाषा में राष्ट्रहृदय का स्वागत होना चाहिए।

यदि लिपि की दृष्टि से देखा जाय तो नागरी लिपि के सामने उर्दू-लिपि ठहर ही नहीं सकती। भारत को अरबी लिपि का अभिमान कैसे हो सकता है और देश की अन्य लिपियों से उसका क्या लगाव है? रही नागरी, सो उसके विषय में सभी जानकारों का कहना है कि विश्व की कोई भी लिपि अपने वर्तमान रूप में उसके तुल्य नहीं। यही नहीं, भारत की सभी लिपियों से उसका गहरा संबंध है। कहाँ तक कहें, अरबी लिपि के कुछ पश्चिमी प्रदेशों को छोड़कर समस्त एशिया पर उसका प्रभाव है और बौद्ध जगत् तो मुक्त कंठ से इसे अपनाता ही है। भारत की सभी लिपियों की वर्णव्यवस्था एक है, सभी एक ही की संतान हैं और सभी प्रांतों में नागरी का कुछ न कुछ प्रचार भी है। तात्पर्य यह

कि राष्ट्रलिपि के विचार से उर्दू की लिपि को कोई स्थान नहीं मिल सकता। हाँ, जो लोग बार बार और भाँति भाँति से सुझाते हैं कि उर्दू जल्द लिखी जाती है और सारे मुसलिम लोक की लिपि है उनसे निवेदन यह है कि कैथी उर्दू शिकस्ता से भी शीघ्र लिखी तथा पढ़ी जाती है। अवसर हो तो परीक्षा करें अन्यथा स्व० सर जार्ज ग्रियर्सन के निर्णय पर ध्यान दें और देखें कि उस बूढ़े का अनुभव क्या है। वह स्वयं कहता है कि मधुबनी (बिहार) में एक ऐसा लेखक था जो कैथी को किसी भी फ़ारसी के सिद्ध लेखक की फ़ारसी से शीघ्र, सुबोध और स्वच्छ लिख लेता था।[१]

अरबी लिपि में लिखी हुई प्राचीन पुस्तकों को पढ़ने का जिसे तनिक भी अवकाश मिला होगा वह कभी भी उसका नाम न लेगा और न नाम लेगा कभी वह मुसलमान भी जिसे अपने अभ्युदय एवं अपने देश के कल्याण का ध्यान होगा। तुर्कों ने जो कुछ किया है सब पर प्रकट है फिर समझ में नहीं आता कि किस मुँह और किस न्याय से अरबी लिपि को 'हिंदुस्तानी रस्मख़त' बताया जा रहा है और उसी को भारत की राष्ट्रलिपि बनाने का सरफोड़ प्रयत्न हो रहा है। हो, पर उसकी तभी तक सुनी जायगी जब तक राष्ट्र अंधा अथवा चिर सुहागिन हिंदुस्तानी का दास है। जहाँ उसकी आत्म-चेतना जगी, उसने दूर से इसे नमस्कार किया और

१—"There was a clerk in my office in Madhubani, who could write excellent Kaithi more quickly than even the most practised of the old "persian" muharrirs. Besides the speed with which it can be written, it has the advantage of thorough legibility." (An Introduction to the Maithili Dialect calcutta. A. S. Bengal, part I. p. I.)

फिर नागरी का हो रहा। रोमी लिपि की चर्चा विद्वानों को शोभा दे सकती है किंतु कर्मशील राष्ट्रभक्तों को उससे क्या काम ? उन्हें तो अपनी नागरी को ही सर्वप्रिय बनाना है। बालबोध के लिये विश्व में नागरी से बढ़कर कोई लिपि नहीं। वह आदर्शशक्ति की अमर पताका और अमर वाणी की लिपि है। उसकी लीपा-पोती से राष्ट्र का विनाश होगा, मंगल नहीं। सभी तरह से पूर्ण होने के पहले, उचित होगा अपने अपूर्ण अंगों को भी उतना ही पूर्ण बनाना। यदि किसी एक ही अंग की पूर्णता से स्वराज्य मिलता तो भारत कभी परतंत्र न रहता। नहीं, समांग ही स्वराज्य का अधिकारी होता है। भारत की राष्ट्रभाषा और सच्ची राष्ट्रभाषा वही देशभाषा हो सकती है, और है भी, जो समांग नहीं तो समांगता को लिए हुए अवश्य है। यही तो कारण है कि हम नागरी को राष्ट्र की वाणी कहते हैं और उसकी लिपि को ही राष्ट्रलिपि मानते हैं, कुछ अहिंदी उर्दू ज़बान वा उर्दू खत को नहीं।

नहीं राष्ट्रभाषा का प्रश्न हम हिंदी-भाषा-भाषियों के लिये जीवन-मरण का प्रश्न है। हम यह प्रायः देखते हैं कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न हमारी देशभाषा को चरता जा रहा है। हम तो अन्य भाषाभाषियों की भाँति अपनी परंपरा को पनपाना और सभी देशभाषाओं के साथ ही आगे बढ़ना तथा राष्ट्र के उद्धार में लीन होना चाहते हैं पर बीच ही में न जाने कहाँ से यह वाणी सुनाई पड़ जाती है कि नहीं तुम्हें तो हिंदुस्तानी को अपनाना होगा। हम उर्दू को जानते, मानते और पहचानते भी हैं और इसी से उससे भयभीत भी नहीं होते। हमारा विश्वास है कि जैसे काल पाकर फारसी ने अपनी रक्षा पर आने के लिये उर्दू का चोला धारण किया वैसे ही कभी उर्दू भी समय देखकर अपना यह विदेशी बुरक़ा उतार फेंकेगी और फिर अपने स्वच्छ, निर्मल, पुराने

नागरी रूप में आ जायगी। फिर तो हमारा उसका सारा द्वंद्व मिट जायगा और नागरी-साहित्य सचमुच नागरों का मुँहमाँगा साहित्य बन जायगा। हमारी भाषा में अरब, ईरान, तूरान तो न बोलेगा पर हम ईरान-तूरान के सार को खींच लेंगे और वह ईरानी शैली भी हमारे साहित्य की छवि उतारेगी। पर हम इस हिंदुस्तानी को नहीं समझ पाते। हम महात्मा गांधी को पढ़ते हैं, हम काका कालेलकर को सुनते हैं और न जाने किस किस की बात में उलझते हैं पर सच कहते हैं किसी गहरे पानी में बैठकर हिन्दुस्तानी का रत्न निकालते नहीं पाते। हाँ, बरबस पानी पीटते अवश्य देखते हैं। निदान उन सभी महानुभावों से हमारा सत्या-नुरोध है कि कृपया वे इसे भूल न जायँ कि हिंदी राष्ट्रभाषा हो चाहे भले ही न हो पर वह उस बड़े भूभाग की भाषा अवश्य है जिसे कभी आर्यावर्त फिर हिंद वा हिंदुस्थान और आज परमात्मा जाने क्या कहते हैं। अस्तु हमें भी उसी प्रकार इस भूभाग पर फलने-फूलने, उठने-बैठने और इधर-उधर विचरने का वही अधिकार प्राप्त है जो किसी को अपनी जन्मभूमि पर होता है। यदि आप सचमुच इस भूभाग की भाषा को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं तो कृपया कष्ट कर देखें कि वह किस साहित्य में किस वाणी से बोल रहा है, अन्यथा आप जैसी चाहें काम काजी राष्ट्रभाषा गढ़ें और जो कुछ बन पड़े हमसे भी 'कर' लें पर कभी भूलकर भी हमारी वाणी के विधाता न बनें; हमसे जो कुछ हो सकेगा राष्ट्रसाहित्य का निर्माण करेंगे और प्रांतीयता से दूर हो राष्ट्रदृष्टि से अपनी भाषा का विकास करेंगे, क्योंकि यही हमारी परंपरा और यही हमारा सनातन धर्म है।

परंपरा के प्रतिकूल जो नवीन धारा बड़े वेग से बह रही है और अतीत को मटियामेट कर ही आगे बढ़ना चाहती है उससे

हमें केवल इतना ही कहना है कि ठहरो, चेतो और देखो तो सही किस उमंग में क्या करने जा रहे हो और विश्व के मनीषी कहाँ तक तुम्हारे साथ हैं। जो इस प्रकार अंगद का पद रोपकर स्वराज्य लेने जा रहे हो। पंडित जवाहरलाल जैसे कर्मशील त्यागी वीर व्यक्ति का सहयोग एक उबाल की भाँति आकर वहीं का वहीं रह जायगा और अंत में स्वयं भी उसी सनातन धारा का अंग होकर रहेगा। सच पूछिए तो आज जो इतना संघर्ष चल रहा है उसका मूल कारण अपने अतीत से अनभिज्ञ होना ही है। यह बहुत ही ठीक कहा गया है कि परंपरा को छोड़ना आत्महत्या करना है। किसी राष्ट्र के जीवन में परंपरा का जो महत्त्व होता है उसकी अवहेलना हो नहीं सकती। यदि प्रमादवश आपने उसका परित्याग कर दिया तो आप कहीं के न रहे और या तो किसी अन्य परंपरा के अंधभक्त बन गए अथवा आप के व्यक्तित्व का लोप हो गया और आप किसी बवंडर के पात हुए। जहाँ कहीं देखिए जब किसी राष्ट्र को संकट का सामना करना पड़ा है तब उसने अपने अतीत का स्मरण किया है और अपने पूर्वजों का बल माँगा है। पशु और मानव में सबसे बड़ा भेद यही तो है कि पशु की परंपरा का बोध पशु को नहीं और मानव को अपने अतीत का अभिमान और अपनी परंपरा का गर्व है। भारत के मुसलमानों ने अपनी परंपरा को खो दिया, अपनी आत्मीयता को मिटा दिया और ग्रहण किया ईरानी-तूरानी परंपरा को। परिणाम क्या हुआ? यही न कि हिंदू से बना हुआ मुसलमान कभी राज्य न कर सका यद्यपि था वह राजवंश का ही और तैमूर की अभिमानी संतान, 'चकत्ता का विलायती घराना' राज भोगता रहा। किंतु हुआ क्या? कालचक्र के प्रभाव से भारतीयता जगी और वह विदेशी राज्य ऐसा भगा कि आज तक उसका पता

नहीं। अकबर की नीति चलती तो यह घराना ऐसा न मिटता कि कहीं उसका नाम तक नहीं रहता। आज के प्रतिष्ठित राजवंशों में चाहे जितने विदेश से कभी आए हों पर वे विदेशी नहीं रहे और सभी प्रकार से इस देश की परंपरा, इस राष्ट्र के अतीत के अभिमानी बने। फलतः आज तक जीवित हैं और अपनी भारतीयता का झंडा फहरा रहे हैं। बाहर देखना हो तो अमेरिका और इंगलैंड को ले लीजिए। आज तो अमेरिका के मूलनिवासी किसी योग्य नहीं पर क्या कोई कह सकता है कि अमेरिका स्वतंत्र नहीं? उसकी विचारधारा अगरेजी की नकल है? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। यदि भारत का उद्धार होना है तो उसकी राष्ट्र-भाषा भी वही होगी जो आदि-काल से उसकी वाणी रही है और उसके उत्थान-पतन, दुःख-सुख को बराबर देखती रही है। हम यह नहीं कह सकते कि उर्दू जो अपनी परंपरा का अभिमान नहीं है और बहुत गहरा है। पर वह अभिमान अपना नहीं, अपने देश का नहीं, हाँ अपने देश के आततायियों का अवश्य है। उर्दू को सिकंदर का अभिमान है पर ईरान को नहीं। बस यही है वह मूल-मंत्र जो बताता है वह मार्ग जिस पर चलकर कोई राष्ट्र अभ्युदय को प्राप्त होता और अपने आपको विश्व में सजीव पाता है।

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय ईसाई सचेत हो उठे हैं और आज भली भाँति इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि उनका तथा उनके देश का कल्याण काला साहब बनने में नहीं है। उनकी समझ में धीरे धीरे यह बात आ रही है कि अपनी परंपरा और अपनी संस्कृति को छोड़कर कोई जाति क्यों पनप नहीं सकती। उनको विदित हो गया है कि अब उनमें जो साधु सुंदरसिंह और पंडिता रमाबाई सी विभूतियाँ नहीं दिखाई

देतीं तो उसका एकमात्र कारण है अपनी चिर-परिचित परिपाटी को छोड़कर दूसरों की पटरी पर दौड़ने का स्वाँग करना और इस प्रकार के मूढ़ अभिनय से अपने आपको सभ्य समाज में तुच्छ बताना। निदान हम देखते हैं कि अधिकांश पादरी रोमक पंडित डी-नोबिली का अनुसरण कर रहे हैं और भारतीयता के पक्के प्रचारक हो रहे हैं। संस्कृत का इन्हें पूरा अभिमान है और उसे भारत की आत्मा की वाणी समझ उसके अभ्यास में लीन हैं। उनमें अँगरेज़ी का अभाव होता जा रहा है। उनकी संतान अब हिंदी नाम से आगे बढ़ रही है और हिंदी नामों को ही आदर की दृष्टि से देखती है।

अच्छा, तो 'छोटा मुँह बड़ी बात' का अभिनय तो समाप्त हुआ। जैसा बना राष्ट्रभाषा का रूप दिखाया गया। अब भरत-वाक्य के रूप में यही शुभकामना शेष रही कि भारत का बच्चा बच्चा अपने राम के स्वर में स्वर मिलाकर अपने सखाओं से एक स्वर में कह उठे—

"हमारो जन्मभूमि यह गाउँ।
सुनहु सखा सुग्रीव विभीषण अवनि अयोध्या नाउँ।
देखत बन उपबन सरिता सर परम मनोहर ठाउँ।
अपनी प्रकृति लिए बोलत हौं सुरपुर में न रहाउँ।
ह्याँ के बासी अवलोकत हौं आनँद उर न समाउँ।
सूरदास जो विधि न सकोचे तौ बैकुँठ न जाउँ॥"

बस, राष्ट्रोद्धार और रामराज्य का मूलमंत्र यही है और यही है वह प्रकृति जिसके अनुष्ठान से राष्ट्रभाषा का प्रश्न सिद्ध होगा; अन्यथा कदापि नहीं, कदापि नहीं।

———

२—राष्ट्रभाषा का स्वरूप

राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में अब तक बहुत कुछ कहा गया है पर उस बहुत कुछ में वह कुछ कहाँ है जो हमारे राष्ट्र-जीवन का ज्योतिस्तंभ अथवा हमारे राष्ट्रहृदय का आदर्श है। किसी भी भाषा के प्रसंग में उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति की उपेक्षा हो नहीं सकती, फिर चाहे वह कोई देशभाषा हो चाहे कोई राष्ट्र-भाषा। हो सकता है कि कुछ सज्जन हमारे इस कथन से भरपूर सहमत न हों और भाषा के प्रवाह में उसके स्रोत को उतना महत्त्व न दें जितना कि उसके लक्ष्य को। ठीक है। यही सही। हम भी आज राष्ट्रभाषा की प्रकृति को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि उसकी प्रवृत्ति को दे रहे हैं। परंतु इसके विषय में भी हमें आप लोगों से कुछ निवेदन कर देना है। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि हमारी सच्ची राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसकी प्रवृत्ति राष्ट्र की प्रवृत्ति हो और जो राष्ट्र के साथ सती होने के लिये सदा तैयार रहे। जिस भाषा को राष्ट्र की परंपरा से प्रेम नहीं, जिस भाषा को राष्ट्र के गौरव का ध्यान नहीं, जिस भाषा में राष्ट्र की आत्मा नहीं, वह भाषा राष्ट्र की भाषा क्यों कर कही जा सकती है। किसी भी राष्ट्रभाषा के लिये यह अनिवार्य है कि उसके शब्द-शब्द राष्ट्र-राष्ट्र की पुकार मचाने वाले और अराष्ट्रीय भावों को धर दबाने वाले हों। यदि उसके शब्दों में यह राष्ट्रनिष्ठा और यह राष्ट्रशक्ति नहीं तो वह राष्ट्रभाषा तो है ही नहीं और चाहे जो कुछ हो।

जो लोग भारत को एक राष्ट्र ही नहीं समझते अथवा भारत

की राष्ट्रभावना को कल की चीज समझते हैं उनसे कुछ निवेदन करना व्यर्थ है। पर जो लोग भारत की एकता के कायल हैं और पद-पद में उस एकता की व्यापक व्यंजना पाते हैं उनसे यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं रही कि उस एक भारत की एक भाषा भी बहुत दिनों से चली आ रही है। इसलाम के आ जमने से पहले जिसे हम अपभ्रंश या नागरापभ्रंश कहते थे उसी को अब 'रेख़ता' या 'नागरी' कहने लगे और आगे चलकर परदेशियों के प्रताप से वह उर्दू भी निकल आई जो यहाँ की परंपरागत राष्ट्रभाषा को 'सौत' समझने लगी। यहाँ की परंपरागत राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी है। हिंदी नाम हमारा नहीं हमारे घर का नहीं; फिर भी हमारे अपना लेने से वह हमारा हो गया और अब उससे उन लोगों का कोई नाता नहीं रहा जिनके बाप-दादों ने हमारी राष्ट्रभाषा को यह नाम दिया। ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण प्रत्यक्ष है। बात यह है कि हमने द्वेषवश अपनी भाषा को वही नाम दे दिया जो हमारे परदेशी भाइयों को अत्यंत प्रिय था। फिर हमारे परदेशी भाई हमारी 'हिंदी' को किस तरह अपना सकते हैं। इसलिए उनको खुश करने के लिये 'हिंदुस्तानी' का नाम चालू किया गया। पर हिंदुस्तानी का राग निराला निकला। वह गँवारों की ओर मुड़ निकली, अब उस पर भी परदेशियों की गहरी दृष्टि पड़ी और शब्दों के लिये बटवारा होने लगा। राष्ट्रभाषा का प्रश्न शब्दों का प्रश्न बन गया। और परदेशी शब्दों के लिये कठोर आग्रह होने लगा।

उर्दू के लोगों का दावा है कि उर्दू ही राष्ट्रभाषा है और वही हिंदू मुसलिम मेल से बनी है। उसी का नाम हिंदुस्तानी भी है। पर 'उर्दू' का इतिहास पुकारकर कहता है कि सच्ची बात कुछ और ही है। उर्दू की असलियत क्या है, इसका जान लेना

कुछ कठिन नहीं है। पहले मौलाना शिबली नोमानी जैसे परम खोजी की बात सुन लीजिए और देखिए तो सही कि उर्दू का रंग क्या है? वह किस ओर मुड़ी चली जा रही है। उनका विषाद है—

इस मौक़ा पर यह नुक्ता ख़ास लेहाज़ के क़ाबिल है कि अगरचे हमारे इंशापरदाज़ों ने संस्कृत और व्रजभाषा के इल्मअदब[१] के नुक्ता-नुक्ता को समझा और उससे बहुत फ़ायदा उठाया, लेकिन इसके फ़ैज़[२] से वही महरूम[३] रह गया जो सबसे ज्यादा हक़दार[४] था। यह ज़ाहिर है कि उर्दू भाषा से निकली और उसके दामन में पली लेकिन भाषा से जो सरमाया[५] उसको मिला, सिर्फ अल्फ़ाज़ थे। मज़ामीन[६] और ख़यालात[७] से उसका दामन ख़ाली रहा। बखिलाफ़ इसके अरबी ज़बान, जिसको भाषा से किसी किस्म का तआरुफ़[८] न था, वह संस्कृत और भाषा दोनों से मुस्तफ़ीद[९] हुई।

हिंदी 'मज़ामीन' और हिंदी 'ख़यालात' से विलायती अरबी का दामन तो भर गया पर हिंद की 'मुल्की जबान' यानी घर की उर्दू का दामन उनसे ख़ाली रहा। क्यों? क्या राष्ट्रनिष्ठा, देशप्रेम अथवा दीन या मज़हब के कारण? नहीं। उर्दू का राष्ट्र या दीन से कोई संबंध नहीं। उसमें हिंद और इसलाम दोनों की छीछालेदर है। उर्दू का दावा है—

मेरा हाल बहरे[१०] खुदा देखिए, ज़रा मेरा नश्वोनुमा[११] देखिए।
मैं शाहों की गोदों की पाली हुई, मेरी हाय यों पायमाली[१२] हुई।
निकाले ज़बाँ फिरती हूँ बावली, खुदाया मैं दिल्ली की थी लाड़ली।

१—विद्या-विनय। २—प्रसाद। ३—वंचित। ४—अधिकारी। ५—पूँजी। ६—विषय। ७—विचार। ८—लगाव। ९—लाभान्वित। १०—लिये, वास्ते। ११—वृद्धि। १२—पादमर्दन।

अदाएँ बलाकी सितमका जमाल[1],
यह सजधज क़यामत वह आफ़त की चाल।
मेरे इश्क़ का लोग भरते थे दम, नहीं झूठ कहती खुदा की क़सम।

इस दावे की पुष्टि जनाब 'अरशद' गोरगानी यों करते हैं—

किताबें जितनी हैं आसमानी ज़बाने उम्दा हैं सब की लेकिन
खुदा ने हरगिज़ न की इनायत किसी को इनमें ज़बाने उर्दू।

उर्दू किस सौभाग्यशाली पर नाजिल हुई? सुनें, उन्हीं का कहना है—

जनावे शाहबे क़ेराँ[2] प नाज़िल फ़क़त यह नेअमत खुदा ने की थी।
उन्हीं की औलाद है इनकी वारिस वही हैं पैग़ंबराने उर्दू।

और

ज़बाने उर्दू के हमीं हैं वाली[3] हमीं हैं मूजिद[4] हमीं हैं बानी[5],
मकीं[6] नहीं हम तो देख लेना रहेगा वीराँ मकाने उर्दू।

किंतु आजकल बहुत से लोग ऐसे निकल आए हैं जो अपने आप को उर्दू का वारिस समझते हैं और उर्दू को अपनी 'मादरी' ज़बान तक कह जाते हैं। उनकी इस चेष्टा को देखकर 'फ़रहंगे आसफ़िया' के विधाता मौलवी सैयद अहमद देहलवी को यह घोषणा करनी पड़ी—

हम अपनी ज़बान को मरहठीबाज़ों लावनीबाज़ों की ज़बान, धोबियों के खंड, जाहिल खयालबंदों के खयाल, टेसू के राग यानी बे सर व पा अल्फ़ाज़ का मजमूआ बनाना कभी नहीं चाहते, और न उस आज़ादाना उर्दू को ही पसंद करते हैं जो हिंदुस्तान के ईसाइयों, नव मुसलिम भाइयों, ताज़ा विलायत साहब लोगों,

---

१—सौंदर्य। २—सौभाग्यशाली, शाहजहाँ की उपाधि। ३—स्वामी ४—आविष्कर्ता। ५—प्रवर्तक। ६—गृही।

खानसामाओं, खिदमतगारों, पूरब के मनहियों[1] कैंप ब्वायों[2], और छावनियों के सत बेभड़े बाशिंदों ने एख्तयार कर रक्खी है। हमारे ज़रीफ़ुल्तबा[3] दोस्तों ने मज़ाक से इसका नाम पुड्डू रख दिया है। (फ़रहंगे आसफ़िया, सबब तालीफ़)

याद रहे 'फरहंगे आसफिया' के उदार लेखक ने नवमुसलिम भाइयों को भी उर्दू के टाट से बाहर कर दिया है और उनकी जबान को भी पुड्डू ही माना है। यह पुड्डू और कुछ नहीं हमारी आपकी हिंदी है। वह हिंदी है जिसके संबंध में एक उर्दू के हिमायती ने लिखा है--

हिंदी की दबे पाँव मगर निहायत मुस्तक़िल[4] तरक्की दरअस्ल उर्दू के गले की छुरी है जो एक दिन उसका खून करके रहेगी। हुकूमत भी रंगे ग़ालिब[5] का साथ देगी। (इफ़दाते मेहदी, मारिफ़ प्रेस, आज़मगढ़, पृष्ठ ३२८)

पर हिंदी है किसकी जबान ? उन्हीं हिंदू मुसलमानों और ईसाइयों की जो हिंदी हैं अहिंदी या परदेशी नहीं। परदेशी मुसलमानों ने क्या किया, जरा इसे भी सुन लें। वही सैयद अहमद फ़रमाते हैं—

उर्दू नज्म ने भी फ़ारसी ही की तर्ज एख्तयार की क्योंकि यह लोग तुर्कीउल्-नस्ल[6] थे या फ़ारसी-उल्-नस्ल या अरबी-उल्-नस्ल। यह हिंदीकी मुताबक़त[7] किस तरह कर सकते थे। (फ़रहंगे आसफ़िया, मुक़द्दमा, पृ० ८)

१--मनुष्यों। २—पड़ाव के चाकरों। ३--मनोविनोदी। ४--दृढ़। ५—विजयी। ६--तुर्की वंश। ७--अनुकूलता।

कहना न होगा कि यह इसी 'नस्ल' का नतीजा है कि शाह हातिम ने 'भाषा' को खदेड़कर उसकी जगह 'मुग़ली' ज़बान उर्दू को चालू कर दिया और निहायत दिलेरी के साथ अपने 'दीवानज़ादा' के दीबाचे में लिख दिया—

सिवाय आँ, ज़बाने हर दयार, ता बहिंदवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ़ नमूदः।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक पड़ोस की भाषा, यहाँ तक कि हिंदी को, जिसको भाषा कहते हैं, त्याग दिया।

और उर्दू के एक दूसरे उस्ताद जनाब 'सौदा' ने तो यहाँ तक दौड़ लगाई कि हिंदुस्तान उनके लिए रौरव नरक बन गया। यदि विवश न होते तो क्या करते? सुनिए तो सही, कितने पते की बात है—

गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा,
सिजदा न करूँ हिंद की नापाक ज़मीं पर।

स्मरण रहे कि अमीर खुसरो जैसे अनेक धार्मिक कवियों ने 'हिंदुस्तान' की भूरि भूरि प्रशंसा की है और इसे 'बहिश्त' ही मान लिया है क्योंकि बाबा आदम को बहिस्त से निकाले जाने पर यहीं शरण मिली थी और मोर सा बहिश्ती पक्षी भी यहीं पाया जाता है पर उर्दू के लाडलों की बात ही निराली है।

जो हो, उर्दू के तीसरे उस्ताद 'मीर' भी कुछ कम न निकले। उन्हें मार्मिक दुःख है कि धुनियाधकड़, बनियाबक्काल सभी शाइरी में मग्न हैं और इस तरह उनकी पाक ज़बान को नापाक कर रहे हैं। आप कुढ़ कर कह जाते हैं--

दख्ल इस फन में न था अजलाफ़[१] को,
क्या बताते थे यह सो असराफ़[२] को।
थे जो इस अय्याम में उस्तादे फ़न,
नाकसों[३] से वे न करते थे सखुन।
नुक्तापरदाज़ी[४] से अजलाफ़ों को क्या,
शेर से बज्ज़ाज़ो नद्दाफ़ों[५] को क्या।

मतलब यह कि उर्दू के आदि के तीनों उस्तादों ने मिलकर उर्दू की ज़बान को पक्की उर्दू क्या पूरा बिलायती बना दिया और फिर उस पर हम हिंदियों का कोई अधिकार नहीं रह गया हममें जो इसलाम के नामलेवा और सच्चे मुसलमान थे उनको भी इसी हिंदियत के नाते ज़बान की सनद न मिली और फलतः उर्दू धीरे धीरे हिंदी को सच्ची सौत समझने लगी। सौत भी कैसी फूहड़! 'अँगोछे' और 'धोतियों' पर रीझनेवाली और माँग में सेंदुर लगानेवाली—

अंगोछे की अब तुम फबन देखना, खुली धोतियों का चलन देखना।
वह सेंदूर बालों में कैसी जुटी,
किसी पार्क में या कि सुर्खी कुटी।"

इस अप्रिय प्रसंग को और अधिक बढ़ाना हमको इष्ट नहीं। यदि उर्दू अपने इतिहास को छिपाकर आज तरह तरह का अड़ंगा न लगाती और अपनी शान पर सती होती तो कोई बात न थी। पर इस राष्ट्रचेतना और इस विश्वसंकट के समय तो हमें उसी देवी की उपासना ठीक जँचती है जिसके 'सेंदुर' के विषय में मलिक मुहम्मद जायसी का उद्गार है—

१—कमीनों। २—शरीफों। ३—तुच्छों। ४—विषय-विलास। ५—धुनिया।

सेंदुर परा जो सीस उघारा, आगि लागि चह जग अँधियारा।

अस्तु, हमें यदि संसार के अंधकार को नष्ट करना है तो इस सिंदूर का स्वागत अवश्य करना है और करना है उसी 'अँगोछे' और 'धोती' का सत्कार जिसमें विश्व का सारा चमत्कार सिमट-कर खिल रहा है। उसकी अवहेलना तो भारत कर नहीं सकता। भारत को तो सदा से 'लँगोटी' का गर्व रहा है। वह 'गाढ़े' और 'खद्दर' को पूज्य समझता है कुछ घृणित या हेय नहीं। उसकी दृष्टि में बी उर्दू का 'गाढ़े की गोट' या 'गाढ़े की सारियों' से नफ़रत करना ठीक नहीं। 'दुलाई में अतलस की गाढ़े की गोट' तो पुरानी पड़ गई। एक 'साहबेकलाम' का कहना है—

अगर हिंदी ने रफ़्ता-रफ्ता हाथ पाँव निकाले तो यह ऐसा ही होगा जैसे बज़ादार[1] बीबियों में बड़े पायँचों की जगह जो .खुशअदाई से खोंसे जाते हैं गाढ़े गज़ों की सारियों की रवाज दिया जाय जिसे देहात की कसीफ़[2] औरतें निस्फ़[3] साक़[4] तक लपेट लेती हैं। (इफ़्दाते मेहदी, मारिफ़ प्रेस, आज़मगढ़, पृष्ठ ३२६)

अब तो आपने भी देख लिया कि वस्तुतः आज हमारे सामने न तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न है और न हिंदू-मुसलमान का झगड़ा। है तो केवल हिंदी और अहिंदी का विवाद। राजनीति के क्षेत्र में भी और भाषा के क्षेत्र में भी एक ओर तो देश के परदेशी मुसल-मान हैं और दूसरी ओर राष्ट्र की सनातन जनता। नवमुसलिम मज़हब के हिसाब से तो उनके साथ हैं पर दुनिया के खयाल, खून के विचार और ज़बान के लेहाज से हमारे साथ। क्योंकि —

'ग़ालिब' के खयालात से यह ग़लतफ़हमी[5] नहीं होनी चाहिए

१—सजीली। २—भद्दी। ३—आधी। ४—पिंडली। ५—मिथ्या धारणा।

कि ग़ालिब की जमाअत हिंदुओं की हिंदू होने की वजह से तहक़ीर[1] करती थी बल्कि इस रवैये की पुश्त पर हिंदी और ईरानी निज़ाअ[2] मुख़ासमत[3] और रक़ावत[4] कारफ़रमा[5] थी और इस मामले में ईरानी नज़ाद[6] हज़रात हिंदुओं और हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक निगाह से देखते थे। (ओ० कालिज मैगजीन, लाहौर, मई सन् १९३१ ई०, पृ० ३९)

अतएव भाषा के क्षेत्र में कोई हिंदू मुसलिम द्वंद्व नहीं। हाँ, हिंदी और अहिंदी का झगड़ा अवश्य है। अहिंदी होने के कारण उर्दू हमारी राष्ट्रभाषा हो ही नहीं सकती फिर उसके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। वह तो सदा परदेश की ही होकर रहेगी, देश की कभी नहीं।

उर्दू की स्थिति स्पष्ट हो जाने के बाद हिंदुस्तानी का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। वह तो यों ही बीच की तिसरैतिन समझ ली गई है। राजनीति के क्षेत्र में जो काम फिरंगी करते हैं भाषा के क्षेत्र में वही काम हिंदुस्तानी कर रही है। मौलाना शिबली ने ठीक ही कहा है—

हमेशा एक कशमकश[7] रहेगी। निसाब[8] बनाने में हिंदू और मुसलमान, दोनों अपनी अपनी क़ौमी ज़बान यानी अरबी और संस्कृत की तरफ़दारी करेंगे; और कभी कोई फ़रीक़ कामयाब होगा। (मक़ालात शिबली, जिल्द दोयम, पृ० ७५)

प्रतिदिन हो भी यही रहा है। किंतु किया क्या जाय? यदि दोनों को अलग अलग छोड़ दिया जाय तो फिर राष्ट्र का उद्धार किस तरह होगा? एक दूसरे को किस तरह समझ सकेंगे?

१—भर्त्सना। २—द्वंद्व। ३—विद्रोह। ४—शत्रुता। ५—कार्य-प्रेरक। ६—वंश। ७—खींच-तान। ८—पाठ्य।

निवेदन है कि दोनों में एकता है ! दोनों ही हिंदी हैं जो अपने आप को आज भी अहिंदी समझते हैं उन्हें हिंदी बनाने का प्रयत्न करना होगा। उन्हीं की भाषा कल फ़ारसी थी। समय के फेर से उन्हीं की भाषा आज उर्दू हो गई है ! कोई कारण नहीं कि उन्हीं की भाषा उन्हीं की कृपा से कल हिंदी क्यों न हो जाय। यदि वे सचमुच हिंद की संतान हैं तो हिंदी होकर रहेंगे और यदि ईरान, तुर्क या अरब की संतान हैं तो भी वही करेंगे जो उनके सगे संबंधी अपने देश के लिए कर रहे हैं। रही मज़हब की बात। सो खुद .कुरान शरीफ़ का फ़तवा है कि—

व मा अर्सल्ना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसाने क़ौम ही (सूरा इब्राहीम की आयत ४)

यानी और हमने तमाम (पहले) पैग़म्बरों को (भी) उन्हीं की क़ौम की ज़बान में पैग़म्बर बनाकर भेजा है। (अशरफ अली थानवी का उल्था)

अच्छा, तो हमारी 'क़ौमी ज़बान' क्या है ? उर्दू ? नहीं। वह तो हिंदी तुर्कों फ़ारसों और अरबों की ज़बान है। उसमें हिंद का हिंदीपन कहाँ ? तो फिर वह 'क़ौमी ज़बान' है कौन सी ? वही, वही 'हिंदी' जिसके लिये 'गाढ़े गज़ी' की सारी है। हाँ, वही हिंदी है जिसके बारे में 'बहरी' ने स्पष्ट कहा है—

हिंदी तो ज़बान है हमारी, कहते न लगे हमन भारी।

यदि आपको हिंदी का कोई शब्द भारी जान पड़ता है तो उसका प्रयोग न करें। खुशी से उसकी जगह किसी और अपने प्रिय शब्द का प्रयोग करें। पर कृपया भूल न जाँय कि वह इस देश की कमाई है, थाती है। क्या आपके कानों तक उनकी पुकार नहीं पहुँचती जो आपके बापदादों की बानी के जौहर थे ? सुनो।

वात बात में तुम्हें वे कितने इतिहास बता देते हैं। यदि उनकी पुकार कान में पड़ गई और तुम सचेष्ट हो गए तो तुम ही नहीं तुम्हारा राष्ट्र भी धन्य हो गया और फिर किसी में ताब न रही कि आँख दिखाए और तुमको एक तरह से जंगली सिद्ध करे। क्या कोई भी भारत का सच्चा सपूत परम खोजी अल्लामा शिबली नोमानी की इस खोज की दाद दे सकता है और क्षोभ तथा ग्लानि के मारे गलकर भस्म नहीं हो जाता--

हिंदू तो आज यह शिकायत कर रहे हैं कि मुसलमानों ने हिंदुस्तान में आकर मुल्क को तबाह कर दिया, लेकिन इन कोताह[1] नज़रों को मालूम नहीं कि मुसलमानों ने हिंदुस्तान की उफ्तादा[2] ज़मीन को चमनज़ार[3] बना दिया था। दुनिया जानती है कि हिंदू पहले पत्तों पर रख कर खाना खाते थे। नंगे पाँव रहते थे। ज़मीन पर सोते थे। बिन सिले कपड़े पहनते थे। तंग मकानों में बसर करते थे। मुसलमानों ने आकर उनको खानेपीने, रहने सहने, वज़ालिबास[4], फर्श-फुरुश,[5] जेब व जीनत[6] का सलीक़ा[7] सिखलाया। लेकिन यह मौक़ा इस मज़मून के फैलाने का नहीं। (मक़ालात शिबली, अनवार प्रेस, लखनऊ, पृ० १६८)

किंतु उनके परम शिष्य अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी ने कृपा कर इस 'मज़मून' को कुछ फैलाते हुए लिखा है कि--

इन मिसालों से मक़सूद[8] यह है कि मुसलमानों ने जब यहाँ क़दम रखा तो अपने पूरे तमद्दुन[9] व मुआसिरत[10], साज व सामान

१—संकीर्ण। २—ऊसर। ३—फुलवारी। ४—वेशभूषा। ५—डासनबिछावन। ६—सजधज। ७—ढंग। ८—अभिप्राय। ९—संस्कृति। १०—व्यवहार।

और अपनी इस्तेलाहात व[1] ईजादात[2] को साथ लेकर यहाँ वारिद[3] हुए; और इन सबके लिए नाम व इस्तेलाहात व अल्फ़ाज़ भी अपने साथ लाए और चूँकि यह हिंदुस्तान में बिलकुल नई चीजें थीं इसलिए हिंदुस्तान की बोलियों में इनके मुरादिफ़ात[4] की तलाश बेकार थी। और वही अल्फ़ाज़ हिंदुस्तान में रायज[5] हो गए। (नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० ३०)

हमारे घर के भाइयों और राष्ट्र के सपूतों की यह खोज और भी आगे बढ़ी। प्रोफेसर मुहम्मद अजमल खाँ को पंडित जवाहिर-लाल नेहरू के कहने से 'बुनियादी हिंदुस्तानी' की चिंता हुई और उन्होंने खोज निकाला कि यहाँ तो पहले कुछ था ही नहीं, जो कुछ दिखाई देता है सब मुसलमानों का किया हुआ है। देखिए न—

यहाँ लिबास, खोराक और मकानों की क़िस्में लिखने की गुंजाइश नहीं लेकिन इनमें से जितनी क़िस्में हैं वह सब और अगर सब नहीं तो ९९ फ़ी सदी ग़ैर हिंदुस्तानी हैं। इनमें से अक्सर ईरानी, तातारी और तुर्की तमद्दुन की याद दिलाती हैं। इसमें शक नहीं कि इनकी आमद का ज़रिया मुसलमान हुए लेकिन इस तमद्दुन को हिंदुस्तान के बाशिंदों ने हिंदुस्तान ही के रुपया से हिंदुस्तान ही के सन्नाओं[6] और मज़दूरों की मेहनत से तरक्की दी। मुसलमानों का अगर यह ख्याल हो कि इसलामी तमद्दुन किसी खास तर्ज़ लिबास व खोराक व मकान से वाबस्ता[7] है तो क़त्तयी ग़लत है इन चीज़ों का ताल्लुक ज्यादातर मुक़ामी आबोहवा और जुग़राफ़िया हालात से नशोनुमा पाता है। (उर्दू, सन् १९३९ ई०, पृ० ३८२)

१—संकेतों। २—आविष्कारों। ३—आगंतुक। ४—पर्यायों। ५—प्रचलित। ६—शिल्पियों। ७—आबद्ध।

खोराक के बारे में 'खाँ' महोदय का दावा है--

खोराक और ग़िज़ा[1] के सिलसिला में संस्कृत में रोटी तक के लिये कोई लफ्ज़ नहीं है। इसे गेहूँ से बनी हुई ग़िज़ा कहते थे। मु.ख्तलिफ़[2] सूबों में इसके अलहदा-अलहदा नाम हैं। अब तक हिंदुस्तान के देहातों में खाने की आम इस्तेमाल की चीज़ भुना हुआ ग़ल्ला है। चूँकि कच्ची और पक्की गिज़ा का ताल्लुक़ हिंदू धरम से है इसलिए किसी ऐसी ग़िज़ा का नाम पुरानी ज़बानों में नहीं पाया जाता जो छूतछात के असरात[3] से खाली हो और इसके साथ साथ इंसानी शिनअत[4] का भी इसमें दखल हो। हिंदुस्तान के अलावा रोटी हर जगह तनूर में पकती है और नानबाई, हलवाई, कबाबची, क़हवाफ़रोश वगैरह का तखैय्युल[5] ही ऐसी अक़वाम[6] से वावस्ता[7] है जिनमें छूतछात न हो (वही, पृ० ३८०)

रोटी के इस घोर युग में रोटी की बात यदि यहीं समाप्त हो जाती तो राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हम इसे इतना महत्त्व नहीं देते और इसे भी एक खुदाई शान समझकर कुछ आगे की बात बताते। पर करें क्या? राष्ट्रभाषा के परम भक्त देशरत्न राष्ट्रपति श्री राजेंद्र बाबू तक पर इसी असत्य उर्दवी खोज का प्रभाव पड़ गया है। आप कहते हैं --

कौन कह सकता है कि 'रोटी' जिसके बिना हम रह नहीं सकते, हिंदुस्तान में कहाँ से आई और इसका असली रूप क्या था? सुना है कि यह तुर्की शब्द है। (ना० प्र० पत्रिका, संवत् १९९६, पृ० ३८५ पर उद्धृत)

१—भोजन। २—विभिन्न। ३—प्रभावों। ४—शिल्प। ५—भाव ६—क़ौमों। ७—संबद्ध।

'तुर्की शब्द' के संबंध में तो इतना कह देना पर्याप्त था कि तुर्की भाषा में टवर्ग नहीं। परंतु जब हमारे एक सपादलक्षी हिंदी आलोचक भी 'रोटी' और 'नायक' को अहिंदी सिद्ध करने पर तुले हुए हैं तब उतने से ही काम न चलेगा। उन्हें दिनदहाड़े बताना होगा कि रोटी हिंदवी है—

नान बताज़ो खुब्ज़ रोटी हिंदवी। (खालिकबारी)।

यही नहीं बाबर बादशाह को भी यहाँ का 'रोटीपानी' ही बहुत दिखाई देता है। उसका कितना साफ़ कहना है—

मुजका न हुआ कुज हवसये मानिक वो मोती,
फुक़रा हालीन बस बुल्गुसिदुर[१] पानी वो रोती।

याद रहे उर्दू के कोषकारों ने भी रोटी को हिंदी शब्द ही लिखा है और उसे 'मुसलमान मुरदे के चहलुम का खाना' भी बताया है। रही 'संस्कृत में रोटी कोई लफ़्ज नहीं है' की बात। सो उसके विषय में निवेदन है कि ध्यान से पढ़ें और तनिक देखें तो सही कि स्थिति क्या है? 'भाव प्रकाश' का कहना है—

शुष्कगोधूमचूर्णेन किञ्चित् पुष्टाञ्च पोलिकाम्।
तप्तके स्वदयेत् कृत्वा भूयोऽङ्गारेऽपि तां पचेत्॥
सिद्धेषा रोटिका प्रोक्ता गुणानस्याः प्रचक्ष्महे।
रोटिका बलकृद्रुच्या बृंहणी धातुवर्द्धिनी।
वातघ्नी कफकृद् गुर्वी दीप्तानीनां प्रपूजिता॥

कहने का तात्पर्य यह कि 'रोटिका' स्वतः संस्कृत है; फ़ारसी, अरबी, तुर्की या तातारी नहीं। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि 'शष्कुलीशब्दमात्रेण किं दूरं योजनत्रयं' की कहावत आज भी इसी

१—मुझे माणिक्य और मोती की कुछ चाह नहीं है। दीनजनों की अवस्था में तो रोटी और पानी ही पर्याप्त है।

रूप में चली जा रही है। पाककला के विषय में इससे अधिक और क्या कहा जाय कि—

रसवती, पाकस्थान, महानस ये तीन नाम रसोईघर के हैं और जो उस रसोई के स्थान का अध्यक्ष है वह 'पौरोगव' संज्ञिक है। सूपकार, बल्लव, आरालिक, आंधसिक, सूद, औदनिक, ये पौरोगव सहित सात नाम रसोई बनानेवाले के हैं। आपूपिक, कांदविक, भक्ष्यकार; ये तीन नाम भक्ष्यकार यानी पुआ आदि पकवानों के बनानेवाले के हैं। इसको हलवाई भी कहते हैं। (अमरकोशः, मुंबई वैभवाख्ये मुद्रितः पृ० १६६, भाषाटीका)

अब तो आपको समझ में यह बात आ ही गई होगी कि किसी भी राष्ट्र के जीवन में शब्दों का क्या महत्त्व है और क्यों भारत में शब्दब्रह्म की इतनी प्रतिष्ठा है। फिर भी परदेशी संस्कृति-प्रेमियों के हृदय को अच्छी तरह समझने तथा इस दिवांधता को दूर करने के लिये उनके 'मतरूक' और 'मुब्तजल' के सिद्धांतों को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए। अच्छा हो, इसे भी किसी कुलीन देहलवी मुसलमान के मुँह से सुनें। लीजिए उसका कहना है—

आतिश व नासिख ने तो इतना ही किया कि जो अल्फाज करीबुल्मर्ग[1] थे उनका अमदन[2] तर्क[3] कर दिया। तरकीब नई थी। लोगों का पसंद आई। दूसरों ने उन अल्फ़ाज़ को भी तर्क करना शुरू कर दिया जो रोज़मर्रा[4] में जारी थे। मौलवी अली हैदर साहब तबातबाई लिखते हैं कि लखनऊ में एक साहब मीर अली औसत रश्क थे जिन्होंने चालीस पैंतालीस लफ़्ज़ शेर में बाँधने तर्क कर दिए थे

१—मृतप्राय। २—जान बूझकर। ३—त्याज्य। ४—बोलचाल।

और इस पर उनको बड़ा नाज़ था। शेख हजो शरफ मीर अली औसत से भी बढ़े हुए थे। उन्होंने असी बयासी लफ़्ज़ छोड़ दिए। (तसहीलुल्बलाग़त सज्जाद मंज़िल देहली, पृ० ४२)

इतने पर भी हमारी 'मुल्की और मुश्तरका' ज़बान के उस्तादों को कल न पड़ी। इन्हें इस क्षेत्र में कुछ और भी करना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि मुसलिम संस्कृति के प्रकांड पंडित अल्लामा शिबली को भी खीझकर कहना ही पड़ा—

उर्दू ज़बान में चूँकि एक मुद्दत तक बेहूदा मुबालिगा[1] और ख्यालबंदी की गर्मबाज़ारी रही, इसलिए वाक़आत के अदा करने के लिए जो अल्फ़ाज़ तरकीबें, इस्तेलाहात मुक़र्रर हैं इस्तेमाल में नहीं आईं। इसलिए आज नये सिरे से उनको इस्तेमाल किया जाय तो या इब्तज़ाल[2] यानी आमियानापन, या ग़राबत यानी रूखापन पैदा हो जाता है, नज़ीर अकबरावादी के कलाम में जो सूक़ियानापन[3] है इसका यही राज़ है।" (मवाज़ेना अनीस व दबीर, अल्नज़िर प्रेस, लखनऊ, १६२४ ई०, पृ० १६०)

'मतरूक' और 'मुब्तज़ल के 'फरमानों' से पूरा पड़ते न देखकर 'फतवा' से काम लिया गया और हिंद के ठेठ मुसलमानों को जो दिव्य पाठ पढ़ाया गया उसका परिणाम यह हुआ कि उर्दू और मुसलमान एक हो गए। उर्दू 'नबी की ज़बान' होकर ही रुक जाती तो भी ग़नीमत थी। बेचारे ठेठ मुसलमानों को कुछ तो नसीब होता। पर वहाँ तो वह रंग ग़ालिब हुआ कि कुछ कहते ही नहीं बनता। एक घटना आपके सामने है। समझ हो तो स्थिति को अच्छी तरह समझ लें और फिर राष्ट्रभाषा का

१—झूठ। २—सामान्यता। ३—बाज़ारीपन।

स्वरूप स्थिर करें। घटना हैदराबाद के निज़ाम राज्य की है। वहाँ के स्वर्गीय डिप्टीकमिश्नर मौलवी मुहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा साहब फरमाते हैं—

मेरा गुज़र एक बहुत ही छोटे गाँव में हुआ। वहाँ असामियों को तलब करके उनके हालात दरियाफ़्त किए गए तो एक मुसलमान भी लंगोटी बाँधे आया और उसने अपना नाम अशवंत खाँ बताया। मैंने उससे उर्दू में गुफ़्तगू करनी चाही। मगर जब वह अच्छी तरह न समझ सका तो मरहठी में बातचीत की जिसमें वह खूब फ़र्राटे उड़ाता था और यह देखकर मैंने उससे पूछा कि आया वह अपने घर में भी मरहठी बोला करता है। यह सुनते ही उसका चेहरा सुर्ख हो गया और कहने लगा "साहब मैं मरहठी क्यों बोलने लगा! क्या मैं मुसलमान नहीं?" ऐसी ही हालत ब्रह्मा में भी देखी कि गो मुसलमानों की मादरी ज़बान ब्रह्मी है लेकिन वह उर्दू को अपनी क़ौमी और मज़हबी ज़बान समझते हैं" (ख्यालाते अज़ीग़, पृ० १७१: ज़माना प्रेस, कानपुर)

'मतरूक' 'मुब्तज़ल' और 'मज़हब' की त्रिपुटी में अलख जगानेवाली उर्दू ज़बान की माया आपके सामने है। उसका सच्चा हाल यह है कि—

हिंदुओं के अदब में जो खूबियाँ हैं उर्दू ज़बान उनसे महरूम रही। संस्कृत ज़बान दुनिया की वसीअतरीन[1] ज़बानों में है और उसका दरजा लातनी, यूनानी और अरबी से कम नहीं है। यूरप की ज़बानों ने, जो तरक्कीयाफ्ता कहलाती हैं, लातनी और यूनानी ज़बानों के अदब से फ़ायदा उठाया है क्योंकि लातनी और यूनानी उसी बर्रे-आज़म[2] की ज़बानें थीं जिनमें यह तरक्कीयाफ्ता ज़बानें बोली जाती हैं। मगर

१—विस्तृततम। २—महाद्वीप।

हमारी ज़बान ने जिस बर्रेआज़म यानी एशिया में नशोनुमा हासिल की उसकी दो बड़ी ज़बानों यानी अरबी और संस्कृत में से सिर्फ अरबी ज़बान के अदब से कुछ फ़ैज़ हासिल किया है। संस्कृत के अदब से उसने कोई फ़ायदा नहीं उठाया। लातनी और यूनानी की तरह संस्कृत ज़बान भी मर गई यानी कहीं बोली नहीं जाती मगर जो ज़बानें इससे मुश्तक[1] हुईं, यानी हिंदी, मरहठी, गुजराती, बंगाली वगैरह उनके अदब का असर भी उर्दू ज़बान पर नहीं पड़ा। हालां कि उर्दू के रक़बा के साथ उन ज़बानों का रक़बा इश्तेसाल[2] रखता है और इन ज़बानों के बोलनेवाले उर्दू बोलनेवालों के साथ बराबर मिलते-जुलते और आपस में रस्मोराह[3] रखते हैं। अगर इन ज़बानों के अदब का असर हमारी ज़बान पर पड़ता तो, इसमें ज़रा शक नहीं, उर्दू ज़बान को सहीह मानों में मुल्की ज़बान होने का फ़ख़ हासिल हो जाता और हिंदुओं को मुसलमानों की तरह इस ज़बान के मालिक होने का एकसाँ हक़ होता। (उर्दू, सन् १९२५ ई०, पृ० ३७८)

उर्दू के परदेशीपन और अराष्ट्रीय प्रवृत्ति का परिचय आवश्यकता से अधिक दे दिया गया। अब यहाँ यह स्पष्ट कर देना है कि जिस प्रकृति के आधार पर वह अपने आप को देशी या 'हिंदुस्तानी' ज़बान कहती है वह वस्तुतः हिंदी है। अतएव प्रकृति की दृष्टि से उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकृति का नाम हिंदी रहे या हिंदुस्तानी? जहाँ तक पता है हिंदुस्तानी के पक्ष में अब तक एक भी ऐसी दलील सामने न आई जो उसे हिंदी से बढ़कर सिद्ध कर दे। सच पूछिए तो 'उर्दू' की तरह 'हिंदुस्तानी' शब्द भी हिंदिओं के लिये अपमानजनक हो गया है और फिरंगियों की रंगसाज़ी की गवाही

१—उत्पन्न। २—लगाव। ३—रीति-नीति।

देता है। मज़हब की दृष्टि से देखा जाय तो 'हिंदी' अरबी ज़बान का लफ़्ज़ है और हिंदुस्तानी खुरासानी या फ़ारसी। हिंदुस्तानी का 'हिंदू' तो यारों को नहीं खटकता पर वह 'हिंदी' उनकी पाक निगाह में गड़ जाती है जो सच पूछिए तो उन्हीं की देन है। इसका भी एक रहस्य है। 'हिंदी' में वह जादू है और है वह राष्ट्र-गौरव जो लड़ाकू अरबों को भी यह सबक़ सिखा सकता है कि 'हिंदी तलवार' और 'हिंदी नेज़ा' का गुण-कीर्त्तन किस तरह इसलाम के पूर्वपुरुष किया करते थे और 'मसहफ़' उठानेवाले मियाँ 'मसहफ़ी' भी अभी उस दिन अपनी अनोखी ज़बान को 'हिंदवी' ही कहते थे। उनकी लाचारी पर ग़ौर तो कीजिए—

मसहफ़ी फ़ारसी को ताक़ पर रख
अब है अशआर हिंदवी का रवाज

लाचारी इसलिए कि—
(क्या रेख़ता कम है 'मसहफ़ी' का बू आती है उसमें फ़ारसी की।)

अस्तु, यह इसी फ़ारसी की बू का असर है कि हज़रत 'अरशद' गोरगानी का तुर्रा है कि—

ज़बाने उर्दू का था जो कुरआँ तो 'मसहफ़ी' उसके मसहफ़ी थे,
ग़लीज़ लफ्ज़ों से मंतरों से भरी है वह ही ज़बाने उर्दू।

'ग़लीज़ लफ्ज़ों और मंतरों' से मुग़लज़ादे गोरगानी अरशद का अभिप्राय क्या है इसके कहने की आवश्यकता नहीं। उर्दू में पढ़ाया तो यह जाता है—

मालूम है 'हाली' का है जो मौलिदोमंशा[1]
उर्दू से भला वास्ता हज़रत के वतन को!

१—जन्मस्थान।

उर्दू के धनी वह हैं जो दिल्ली के हैं रोड़े,
पंजाब को मस[1] उससे न पूरब न दकन को।
बुलबुल ही को मालूम हैं अन्दाज़ चमन के,
क्या आलमे गुलशन की खबर ज़ाग़[2] वो ज़गन[3] को॥

किंतु हिंदी शब्द ही नहीं, हिंदी भाषा में भी पाक इसलाम की पूरी पूरी प्रतिष्ठा है और नूर मुहम्मद ने तो साफ़ साफ़ कह भी दिया है—

दीन जेंवरी करकस माजेउँ।

जिसे इसमें तनिक भी संदेह हो वह हिंदी के सूफ़ी कवियों का अध्ययन करे और देखे कि सच्चे इसलाम की आत्मा कहाँ बोल रही है—'शराब' या 'सलात' में। फ़ारस या हिंदुस्तान में। यही क्यों ? यदि शीआ और सुन्नी का समन्वय देखना हो तो हिंदी का पाठ करो। जायसी के 'आख़िरी कलाम' को पढ़ो और देखो कि हिंदी किस 'हुमा' का नाम है।

राष्ट्रभाषा के स्वरूप की चर्चा हो चुकी और यह भी बता दिया गया कि किसी भी राष्ट्र के जीवन में उसके शब्दों का क्या महत्त्व होता है। आप जानते ही हैं कि हमारे 'क्षौम' और 'कौशेय' किस बात की गवाही देते हैं। पर हमारे बड़े से बड़े मौलाना यह नहीं समझ सकते कि इनका अर्थ क्या है। उनके यहाँ तो इनका नाम लेना भी हराम है। पर हमारी राष्ट्रभाषा इनको छोड़कर अपने अतीत और अपनी राष्ट्रीयता का गर्व नहीं कर सकती। वह अन्य भाषाओं के सामने डट कर सिद्ध नहीं कर सकती कि उसकी कोख के सपूत उस समय क्षुमा (अलसी) और कोश (रेशम के कोआ) से वस्त्र बनाया करते थे जब आजकल का सभ्य संसार

१—स्पर्श। २—कौआ। ३—चील।

बनचर की दशा में था। अतएव हमारा तो निश्चित मत है कि हम अपनी भाषापरम्परा को छोड़ नहीं सकते और हमारी राष्ट्रभाषा भी राष्ट्र की भाषा को तिलांजलि दे फ़ारसी-अरबी या उर्दू नहीं बन सकती।

फ़ारसी-अरबी शब्दों का कोई झगड़ा हमारी राष्ट्रभाषा के सामने नहीं है। 'मतरूक' और 'मुब्तज़ल' से उसका दामन पाक है। उसका मौलवी बच्चा 'फ़ारसी अरबी' झाड़ सकता है पर उसका हर एक बच्चा उसके लिये विवश या बाध्य नहीं किया जा सकता। उसकी भाषा उसकी रुचि और विषय के अनुकूल होगी। किसी कोष या लुग़त के मुताबिक़ नहीं। यदि इतने से किसी को सन्तोष नहीं होता तो न सही। वह चाहे जिस 'कामकाजी' या 'मुगली बानी' की ईजाद करे पर कृपया राष्ट्रभाषा को बदनाम न करे। संसार की कोई भी राष्ट्रभाषा परदेशी शब्दों पर नाज़ नहीं करती बल्कि उलटे उन्हें 'धत्त' ही सुनाती है। हिन्दी तो 'धत्त' का नाम भी नहीं लेती। फिर उस पर यह वज्रपात कैसा ?

राष्ट्रभाषा का कागदी स्वरूप यानी लिपि भी विवादग्रस्त है। जो लोग नागरी को अच्छी नहीं समझते वे शौक़ से अपनी किसी अच्छी लिपि का अपने अच्छरों में व्यवहार करें और चाहें तो किसी प्रदर्शिनी में उसका उद्घाटन भी कराते रहें पर कृपया भूल न जायँ कि यह वही लिपि है जिसमें लोदियों और सूरियों के फारसी फ़रमान तक लिखे गए और अपनी साधुता की रक्षा करने में समर्थ रहे। आज अरबी लिपि के पुजारियों को जानना होगा कि क्यों डाक्टर हफ़ीज़ सैयद तथा उनके आलोचक स्वनामधन्य मौलाना डा० अब्दुल हक़ एक पद का अर्थ ठीक ठीक न समझ सके। देखिए कितना सीधा पद और कितना सादा अर्थ है, पर

वही लिपि की दुरूहता के कारण कैसा पहाड़ हो रहा है। 'बहरी' कहता है—

परगट बुरा माने गुपुत बलि गए सो कहो वह कौन थे।

डाक्टर हफ़ीज़ 'गुपुत' को 'कपट' पढ़ते हैं तो डाक्टर हक़ 'बलि' को 'बल'। 'बल' की बला में दोनों बलबला रहे हैं। बलिहारी है ऐसी लिपि को और बलिहारी है उस बुद्धि को जो उसे राष्ट्रलिपि बनाना चाहती है और निरक्षर जनता को इसी के द्वारा साक्षर बनाना चाहती है। नहीं ऐसा हो नहीं सकता। 'बलि' को भूल कर भी 'बल' मत बनाओ, नहीं तो कोई हिंदुस्तानी का लाल उसे 'बिल' वा 'बुल' बाँच जायगा और आप बिलबिला कर रह जाँयँगे। ऐसी छबीली अनहोनी पर क्यों मरे जाते हो? हिंदी के क्यों नहीं हो रहते? अरे! नागरी के नागर बनो उर्दू के बागर नहीं।

———

३. राष्ट्र-भाषा संबंधी दस प्रश्न

[श्री मोहनदास करमचन्द गान्धी]

प्रश्न १ :—फारसी लिपि का जन्म हिन्दुस्तान में नहीं हुआ। मुगलों के राज्य में यह हिन्दुस्तान में आई, जैसे अँगरेजों के राज्य में रोमन लिपि। पर राष्ट्रभाषा के लिए हम रोमन लिपि का प्रचार नहीं करते, तो फिर फारसी लिपि का प्रचार क्यों करना चाहिए?

उत्तर :—अगर रोमन लिपि ने फारसी लिपि के समान ही घर किया होता, तो जो आप कहते हैं, वही होता। मगर रोमन लिपि तो सिर्फ मुट्ठी[1] भर अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही है, जब कि फारसी तो करोड़ों हिन्दू-मुसलमान लिखते हैं। आपको फारसी और रोमन लिपि लिखनेवालों की संख्या ढूँढ़ निकालनी चाहिए।

१—महात्मा जी का यह कथन कितना ऊपरी और आवेशपूर्ण है। रोमन लिपि का व्यवहार फारसी लिपि से कम भले ही हो पर वह 'मुट्ठी भर अँगरेजी पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित' नहीं है प्रत्युत बहुत से फारसी-अरबी के मुल्ला भी उसे पहचानते और अपनाते भी हैं। फारसी-लिपि को 'करोड़ों हिंदू-मुसलमान' कहाँ लिखते हैं? इतने तो उसे जानते भी नहीं हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि रोमन लिपि का व्यवहार व्यापक है परन्तु फारसी-लिपि का सीमित। हाँ, उस सीमा के भीतर वह भले ही रोमन-लिपि से अधिक प्रचलित है। किन्तु वहाँ भी उनका अनुपात 'मुट्ठी भर' और 'करोड़ों' का नहीं है। दूसरे प्रश्न विदेशीपन का था, संख्या का नहीं।

प्रश्न २:—अगर आप हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए उर्दू सीखने को कहते हों, तो हिंदुस्तान के बहुत से मुसलमान उर्दू नहीं जानते। बंगाल के मुसलमान बंगला बोलते हैं और महाराष्ट्र के मराठी। गुजरात में भी देहात में तो वे गुजराती ही बोलते हैं। दक्षिण भारत में तामिल वगैरः बोलते होंगे। ये सब मुसलमान अपनी प्रान्तीय भाषाओं से मिलते-जुलते शब्दों को ज्यादा आसानी से समझ सकते हैं। उत्तर भारत की तमाम भाषाएँ संस्कृत से निकलती हैं, इसलिये उनमें परस्पर बहुत ही समानता है। दक्षिण भारत की भाषाओं में भी संस्कृत के बहुत शब्द आ गये हैं। तो फिर इन सब भाषाओं के बोलनेवालों में अरबी-फारसी-जैसी अपरिचित भाषाओं के शब्दों का प्रचार क्यों किया जाय ?

उत्तरः—आपके प्रश्न में तथ्य अवश्य है; मगर मैं आपसे कुछ ज्यादा विचार करवाना चाहता हूँ। मुझे कबूल करना चाहिए कि फारसी लिपि सीखने के लिये जो आग्रह मैं करता हूँ, उसमें हिंदू-मुसलिम एकता की दृष्टि रही है। देवनागरी और फारसी लिपि की तरह हिंदी और उर्दू के बीच भी बरसों से झगड़ा चला आ रहा है। इस झगड़े ने अब जहरीला रूप पकड़ लिया है। सन् १९३५ में हिंदी साहित्य सम्मेलन ने इन्दौर में हिन्दी की व्याख्या में फारसी लिपि को स्थान दिया। १९२५ में कांग्रेस ने कानपुर में राष्ट्रभाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया। दोनों लिपियों की छूट दी गई थी, इसलिये हिंदी और उर्दू को राष्ट्रभाषा माना गया। इस सब में हिंदू-मुसलिम एकता का हेतु तो रहा ही था। यह सवाल मैंने आज नहीं उठाया। मैंने इसे मूर्त स्वरूप दिया, जो प्रसंगानुकूल ही था। इसलिये अगर हम राष्ट्रभाषा का सम्पूर्ण

विकास[1] करना चाहे, तो हमें हिंदी व उर्दू को और देवनागरी व फारसी लिपि को एकसा स्थान देना होगा। अन्त में तो जिसे लोग ज्यादा पचायेंगे वही ज्यादा फैलेगी।

बहुतेरी प्रान्तीय भाषाएँ संस्कृत से निकट सम्बन्ध रखती हैं और यह भी सच है कि भिन्न-भिन्न प्रांतों के मुसलमान अपने-अपने प्रांत की ही भाषाएँ बोलते हैं। इसलिए यह ठीक ही है कि उनके लिये देवनागरी लिपि और हिंदी आसान रहेगी। यह कुदरती लाभ मेरी योजना से चला नहीं जाता। बल्कि मैं यह कहूँगा कि इसके साथ मेरी[2] योजना में फारसी लिपि सीखने

१—महात्माजी का यह तर्क विलक्षण है। 'राष्ट्रभाषा का संपूर्ण विकास' एक बात है और 'राष्ट्र-लिपि' का समुचित उपयोग दूसरा। यदि आप प्रमाण चाहते हैं तो कल तक के 'खलीफा' के देश टर्की को लें। वहाँ की राष्ट्रभाषा तो तुर्की है परन्तु राष्ट्र-लिपि कुछ हेर-फेर के साथ रोमन। महात्मा जी चले तो थे हिंदू-मुसलिम एकता को लेकर और टूट पड़े राष्ट्रभाषा पर जो न्याय नहीं नीति की बात भले ही हो। विचार करने की बात है कि जब इस्लाम के अड्डे में अरबी लिपि में राष्ट्र भाषा का विकास न हो सका तब संस्कृत भूमि भारत में उसका 'सम्पूर्ण विकास' किस न्याय से होगा।

२—महात्मा जी की यह योजना यदि व्यक्तिगत 'लाभ' की दृष्टि से है तो उससे हमारा कोई विरोध नहीं, किन्तु यदि राष्ट्र की समष्टि-दृष्टि से है तो उससे हमारा गहरा मतभेद है। हम उसे राष्ट्र के लिये घातक समझते हैं। कारण, हम सभी 'योग' को 'क्षेम' नहीं मानते। कहते हैं कि मधु और घृत का समयोग विष हो जाता है। रही एकता की बात, सो उसका तो निश्चित नियम है 'समान शील और व्यसन' 'हिन्दी' और 'उर्दू' का शील और 'व्यसन' समान नहीं है अतएव

का लाभ और मिलता है। आप इसको बोझ मानते हैं। लाभ मानना कि बोझ यह तो सीखनेवाले की वृत्ति पर अवलम्बित है। अगर उसमें उमड़ता हुआ देश-प्रेम होगा तो वह फारसी लिपि और उर्दू भाषा को बोझरूप कभी न मानेगा। और जबर्दस्ती को तो मेरी योजना में स्थान ही नहीं है। जो इसमें लाभ समझेगा, वही दोनों लिपि और दोनों भाषा सीखेगा।

प्रश्न ३ :—हिन्दुस्तात का बहुत बड़ा हिस्सा नागरी लिपि जानता है; क्योंकि बहुत सी प्रान्तीय भाषाओं की लिपि नागरी अथवा नागरी से मिलती-जुलती है। पंजाब, सिन्ध और सरहदी सूबों में नागरी का प्रचार कम है। क्या ये लोग आसानी से नागरी सीख नहीं सकते ?

उत्तर :—इसका जवाब ऊपर दिया जा चुका है। सरहदी सूबेवालों को और दूसरों को देवनागरी तो सीखनी ही होगी।

प्रश्न ४ :—भाषा ज्यादातर तो बोलने के लिये है। बोलने और वातचीत करने के लिये लिपि की जरूरत नहीं। लिपि बहुत

उनमें सख्य हो नहीं सकता। जिस दिन 'उर्दू' में 'देश-प्रेम' उमड़ेगा उसी दिन वह हिन्दी हो जायगी। कोई भी 'उर्दू' से अभिज्ञ सच्चा देश प्रेमी, देश के नाम पर, उसका स्वागत कर नहीं सकता। क्योंकि उसमें हिन्दू तो क्या देशी मुसलमान भी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं और सभी देशी वस्तुओं के बहिष्कार का भरसक प्रयत्न किया गया है। रही हिन्दू-मुसलिम-एकता की बात, सो वह तो इस दोहरी योजना के कारण देखते-देखते और भी दो भिन्न भिन्न धाराओं में बँट गई है। तो अब वह कौन-सा जादू ऐसा काम करेगा जिससे चने की दो दालें फिर चना बनकर अपनी सृष्टि बढ़ाएँगी। क्या किसी लासा-लूसी से यह योजना सफल हो सकती है ?

गौण वस्तु है। अगर राष्ट्रभाषा मातृभाषा की लिपि द्वारा सिखाई जाय, तो क्या वह ज्यादा आसानी से नहीं सीखी जा सकती ? अगर ऐसा किया जाय, तो राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें क्या नुकसान है ?

उत्तर :—आपका कहना सच है। मैं मानता हूँ कि अगर हिंदी और उर्दू प्रांतीय भाषाओं के द्वारा ही दिखाई जायें, तो वे आसानी से सीखी जा सकती हैं। मैं जानता हूँ कि इस किस्म की कोशिश दक्षिण के प्रान्तों में हो रही है, पर वह पद्धतिपूर्वक नहीं हो रही। मैं देखता हूँ कि आपका सारा विरोध इस मान्यता के आधार पर है कि लिपि की शिक्षा बोझरूप है। मैं लिपि की शिक्षा को इतना कठिन नहीं मानता परंतु प्रांतीय लिपि के द्वारा राष्ट्रभाषा का प्रचार किया जाय, तो उसमें मेरा कोई विरोध हो ही नहीं सकता। जहाँ लोगों में उत्साह होगा, वहाँ अनेक पद्धतियाँ साथ-साथ चलेंगी।

प्रश्न ५ :—अगर हम मान भी लें कि जब तक पंजाब, सिंध और सरहद्दी सूबे के लोग नागरी नहीं सीख लेते तब तक उनके साथ मिलने-जुलने के लिए उर्दू जानने की आवश्यकता है, तो इसके लिए कुछ लोग उर्दू सीख लें—मसलन्, प्रचारक लोग। सारे हिंदुस्तान को उर्दू सीखने की क्या जरूरत है ?

उत्तर :—सारे हिन्दुस्तान के सीखने का यहाँ सवाल ही नहीं। मैं मानता ही नहीं कि सारा हिन्दुस्तान राष्ट्रभाषा सीखेगा। हाँ, जिन्हें राष्ट्र में भ्रमण करना है, और सेवा करनी है, उनके लिए यह सवाल है जरूर। अगर आप यह स्वीकार कर लें कि दो भाषा और दो लिपि सीखबे से सेवाक्षमता बढ़ती है, तो आपका विरोध और आपकी शंका शान्त हो जायगी।

प्रश्न ६—आजकल राष्ट्रभाषा नागरी व फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है। जिसे जिस लिपि में सीखना हो सीखे। हर

एक शख्स को लाजिमी तौर पर दोनों लिपियाँ सीखनी ही चाहिए, यह आग्रह क्यों किया जाता है ?

उत्तरः—इसका भी एक ही जवाब है। मेरे आग्रह के रहते भी सिर्फ वे ही लोग इसे स्वीकार करेंगे, जो इसमें लाभ देखेंगे। जिन्हें एक ही लिपि और एक ही भाषा से संतोष होगा, वे मेरी दृष्टि में आधी राष्ट्रभाषा जाननेवाले कहलाएँगे। जिन्हें पूरा प्रमाणपत्र चाहिए, वे दोनों लिपियाँ और दोनों भाषाएँ सीखेंगे। इससे तो आप भी इनकार न करेंगे कि देश में ऐसे लोगों की भी काफी संख्या में जरूरत है। अगर इनकी संख्या बढ़ती न रही, तो हिंदी और उर्दू का रूप सम्मिलित न हो पायेगा और न कांग्रेस की व्याख्यावाली एक हिंदुस्तानी भाषा कभी तैयार[४] हो सकेगी। एक ऐसी भाषा की उत्पत्ति तो हमेशा इष्ट है ही, जिसकी मदद से हिंदू और मुसलमान दोनों एक-दूसरे की बात आसानी से समझ सकें। ऐसे स्वप्न का सेवन हम में से बहुतेरे कर रहे हैं किसी दिन वह सच्चा भी साबित होगा।

४—महात्मा गांधी की कांग्रेसवाली हिंदुस्तानी अभी तैयार नहीं हुई। उसकी तैयारी की योजना हो रही है। सो तो ठीक है। पर उसे अभी से 'बोल-चाल' की भाषा, 'मातृभाषा' और 'राष्ट्रभाषा' कहा क्यों जा रहा है ? हमारा सीधा पक्ष तो यह है कि कांग्रेस अँगरेजों की देखादेखी यहाँ की सीधी हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहने लगी और कुछ परदेशियों के दबाव के कारण दोनों लिपियों को अपनाने लगी। महात्मा जी कहते हैं कि हिन्दुस्तानी जैसी किसी नई भाषा के बिना हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे को समझेंगे कैसे ? हमारा उत्तर है—जैसे समझते आए हैं और अँगरेजी शासन के पहले जैसे समझते रहे हैं; और आज भी तो एक दूसरे को समझ ही रहे हैं ? फिर यह कल्पना

प्रश्न ७:—अहिन्दी-भाषी प्रांतों के लोगों के लिये, जो राष्ट्र-भाषा नहीं जानते एक साथ दो लिपियों में राष्ट्रभाषा सीखना क्या जरूरत से ज्यादा बोझिल न होगा? पहले एक लिपि द्वारा वह अच्छी तरह सीख ली जाय, तो फिर दूसरी लिपि तो बड़ी आसानी से सीख ली जा सकेगी।

उत्तर:—इसका पता तो अनुभव से लगेगा। मैं मानता हूँ कि जो इनमें से एक भी लिपि नहीं जानता, वह दोनों लिपियाँ एक साथ नहीं सीखेगा। वह स्वेच्छा से पहली अथवा दूसरी लिपि पहले सीखेगा और बाद में दूसरी। शुरू की पाठ्यपुस्तकों में शब्द दोनों में लगभग एक ही होंगे। मेरी दृष्टि में मेरी योजना एक महान् और आवश्यक प्रयोग है। यह राष्ट्र को पुष्टि देनेवाला सिद्ध होगा और कांग्रेस के प्रस्ताव को अमली जामा पहनाने में इसका बहुत बड़ा हिस्सा रहेगा। इसलिए मुझे आशा है कि लाखों सेवक और सेविकाएँ इस योजना का स्वागत करेंगी।

प्रश्न ८:—भाषा के स्वरूप में देशकाल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते ही रहेंगे। इसे कोई रोक नहीं सकता। इससे राष्ट्रभाषा में विदेशी भाषा के जो बहुत शब्द आ गये हैं, और रूढ़ हो गये हैं, वे अब निकाले नहीं जा सकते। परंतु परंपरा से राष्ट्रभाषा की लिपि तो नागरी ही चली आती है। बीच में मुगल राज्य के वक्त फारसी लिपि आ गई। अब मुगलों का राज्य नहीं है, इसलिये जिस तरह गुजराती और मराठी में

क्यों? स्मरण रहे 'हिंदुस्तानी' पर जब तक फारसी का आवरण है तभी तक वह हिंदी से दूर है, जहाँ उसकी फारसी लिपि हटी कि वह हिंदुस्तान के परदेशी लोगों की कैद से छूटकर स्वदेशी बनी और हिन्दू-मुसलिम-विरोध का सारा टंटा दूर हुआ।

बहुत से फारसी-अरबी और अँगरेजी शब्द होते हुए भी इन भाषाओं ने अपनी लिपि नहीं छोड़ी, उसी तरह राष्ट्रभाषा भी विदेशी शब्द को कायम रखते हुए अपनी परंपरागत नागरी लिपि को ही क्यों न अपनाये रहे ?

उत्तर :—यहाँ परंपरागत वस्तु छोड़ने की नहीं, बल्कि उसमें कुछ इजाफा करने की बात है। अगर मैं संस्कृत जानता हूँ और साथ ही अरबी भी सीख लेता हूँ; तो इसमें बुराई क्या है ? मुमकिन है कि इससे न संस्कृत को पुष्टि मिले, न अरबी को फिर भी अरबी से मेरा परिचय तो बढ़ेगा न ? सद्ज्ञान[५] की वृद्धि का भी कभी द्वेष किया जा सकता है क्या ?

प्रश्न ६:—भारतीय भाषाओं के उच्चारण को व्यक्त करने की सबसे ज्यादा योग्यता नागरी लिपि में है और आजकल की फारसी लिपि इस काम के लिये बहुत ही दोषपूर्ण है। क्या यह सच नहीं ?

५—महात्माजी ने 'सद्ज्ञान' के अमोघ अस्त्र का प्रयोग कर ही दिया। तनिक ध्यान से पढ़ें तो पता चले कि प्रश्न तो है 'लिपि' का और महात्माजी प्रसंग खड़ा कर देते हैं 'भाषा' का और समाधान करते हैं 'सद्ज्ञान' की दुहाई दे। समझ में नहीं आता कि अरबी फारसी अथवा उर्दू पढ़ लेने से नागरी लिपि में 'इजाफा' क्या होगा। महात्माजी 'क़' 'ख़' और 'ग़' की ओर संकेत करते हैं ? नहीं उनके सामने तो 'सद्ज्ञान' की राशि है ! कोरे ज्ञान की सो भी नहीं भला फारसी लिपि का सत्ज्ञान से क्या संबंध है ? रही 'उर्दू की ज़बान'। सो यदि 'सद्ज्ञान' ही की बात है और मुसलमानों (?) को ही खुश करना है तो उनकी राजभाषा फारसी को ही क्यों न सीखा जाय ? 'आखिर' कल तक हमारे पुरखा तो राजभाषा के रूप में उसे सीखते ही थे ?

उत्तरः—आप ठीक कहते हैं, परंतु आपके विरोध में इस प्रश्न के लिए स्थान नहीं है। क्योंकि जो चीज यहाँ है, उसका तो विरोध है ही नहीं[६]। परस्पर वृद्धि करने की बात है।

प्रश्न १०:—राष्ट्रभाषा की क्या आवश्यकता है? क्या एक मातृभाषा और दूसरी विश्वभाषा काफी न होगी? इन दोनों भाषाओं के लिये एक रोमन लिपि हो तो क्या बुरा है?

उत्तरः—आपका यह प्रश्न आश्चर्य में डालनेवाला है। अँगरेजी तो विश्वभाषा है ही, मगर क्या वह हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा बन सकती है? राष्ट्रभाषा तो लाखों लोगों को जाननी चाहिए। वे अँगरेजी भाषा का बोझ[७] कैसे उठा सकेंगे? हिंदुस्तानी स्वभाव से राष्ट्रभाषा है क्योंकि वह लगभग २१ करोड़ की मातृभाषा है। संभव है कि २१ करोड़ की इस भाषा को बाकी के अधिकतर लोग आसानी से समझ सकें। लेकिन अँगरेजी तो एक लाख की भी मातृभाषा शायद ही कही जा सके। अगर हिंदुस्तान को एक राष्ट्र बनाना है, अथवा एक राष्ट्रभाषा है, तो हमें एक राष्ट्रभाषा तो चाहिए ही। इसलिये मेरी दृष्टि से अँगरेजी विश्वभाषा के रूप में रहे और शोभा पाये, इसी तरह रोमन लिपि भी विश्वलिपि के रूप में रहे और शोभा पाये—रहेगी और शोभेगी—हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा की लिपि के रूप में कभी नहीं।

———

६—इसे हम क्या कहें, सत्यप्रेम या देशनिष्ठा? वस्तुतः यहाँ की 'चीज' है क्या कुछ इस पर भी विचार होना चाहिए? अपना दोष भी क्या अपने आदर का पात्र होता है? परस्पर वृद्धि होती कैसे है, कुछ इसका भी तो ध्यान रखना होगा!

७—महात्माजी ने किसी 'लाभ' को 'बोझ' तो माना—'उर्दू' का न सही अँगरेजी का सही।

४. डॉक्टर ताराचन्द और हिन्दुस्तानी

[महात्मा गांधी]

श्री मुरलीधर श्रीवास्तव एम० ए० ने डाक के थैले के लिये नीचे लिखा प्रश्न भेजा था:—

"जब मन में किसी चीज के लिये पक्षपात पैदा हो जाता है, तो मनुष्य इतिहास को भी विकृत बनाने बैठ जाता है। आपकी तरह डॉक्टर ताराचंद भी हिंदुस्तानी के चुस्त हिमायती हैं। उन्हें अपने विचार रखने का उतना ही अधिकार है, जितना आपको या मुझे अपने विचार रखने का है। 'उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) का साहित्य व्रजभाषा के साहित्य से अधिक पुराना है और उसके उत्साह में उन्होंने यह कहकर कि १६ वीं सदी से पहले व्रज में कोई चीज लिखी ही नहीं गई, व्रजभाषा के इतिहास को बहुत गलत तरीके से पेश किया है उनके कथनानुसार १६ वीं सदी में सूरदास ही पहले कवि थे, जिन्होंने व्रज में अपनी रचनाएँ कीं। चूँकि गत २६ मार्च के 'हरिजन' में आपने इन विद्वान् डॉक्टर साहब के एक पत्र का अवतरण दिया है, और चूँकि 'हरिजन' की प्रतिष्ठा और उसका प्रचार व्यापक है, इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि इस भूल की ओर ध्यान दिलाया जाय। सूरदास से पहले के व्रज-साहित्य के लिये केवल कबीर की रचनाएँ ही पढ़ लेनी काफी होंगी—अमीर खुसरो की तो बात ही क्या, जिनकी कुछ कवितायें व्रजभाषा में भी मिलती हैं। सूरदास से पहले के कई संतों और भक्तों की अनेक छोटी-छोटी रचनाएँ व्रज में पाई जाती हैं, और

वे हिन्दी साहित्य के किसी भी प्रामाणिक इतिहास में देखी जा सकती हैं।"

पत्र-लेखक के इस पत्र का जो अंश प्रस्तुत प्रश्न से सम्बन्ध नहीं रखता था, उसे मैंने निकाल दिया है। यह पत्र मैंने काका साहब कालेलकर के पास भेज दिया था। उन्होंने इसे डाक्टर ताराचंद के पास भेजा था। डाक्टर ताराचंद ने इसका नीचे लिला जवाब भेजा है। जो अपनी कथा आप कहता है :—

मैंने अपनी जो राय दी थी कि ब्रजभाषा का साहित्य सोलहवीं सदी से ज्यादा पुराना नहीं है, उसके कारण इस प्रकार हैं:—

१—ब्रजभाषा एक आधुनिक भाषा है, जो तृतीय प्राकृत या 'न्यूइंडोआर्यन' वर्ग की मानी जाती है। इस वर्ग का जन्म मध्यम प्राकृत या 'मिडिल इंडो-आर्यन' से हुआ है। दुर्भाग्य से मध्यम और तृतीय के बीच की अवस्थाओं का निश्चित रूप से कोई पता नहीं लगाया जा सकता, लेकिन ज्यादातर विद्वान् इस बात में एक राय हैं कि 'मध्यम प्राकृत' का समय ईस्वी सन् पूर्व ६०० से ईस्वी सन् १००० तक रहा।

२—मध्यम प्राकृतों को, जो एक जमाने में सिर्फ बोली भर जाती थीं, महावीर और बुद्ध द्वारा चलाये गए धार्मिक आन्दोलनों के कारण साहित्यिक, विकास करने का उत्तेजन मिला। इन प्राकृत भाषाओं में पाली सबसे महत्त्व की भाषा बन गई, क्योंकि वह बौद्धों के पवित्र धर्मग्रंथों को लिखने के लिये माध्यम-स्वरूप अपनाई गई थी। महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान अर्धमागधी का रहा, जिसमें जैनियों के धर्मग्रंथ लिखे गये। इनके सिवा भी कुछ और प्राकृत भाषाएँ उन दिनों प्रचलित थीं; मसलन्, महाराष्ट्री, जिसमें गीत और कविता लिखी जाती थी और शौरसेनी, जिसका उप-

योग नाटकों में स्त्री-पात्रों[1] की भाषा के रूप में किया जाता था, वगैरः।

३—ईस्वी सन् की छठी सदी में आते-आते प्राकृत भाषाएँ स्थिर और मृत भाषाएँ बन गईं थीं। साहित्य तो तब भी उनमें लिखा जाता था, लेकिन उनका विकास बंद हो चुका था। इसी सदी में सामान्य बोलचाल की भाषाओं का, जिनमें से साहित्यिक प्राकृत का जन्म हुआ था, साहित्य की दृष्टि से उपयोग होने लगा। प्राकृत भाषाओं के इस साहित्यिक विकास के प्रचार को अपभ्रंश के नाम से पहचाना जाता है। इसका समय ईस्वी सन् ६०० से १००० तक रहा। इन अपभ्रंश भाषाओं में एक नागर[2] भाषा ने महत्त्व का स्थान प्राप्त किया। उत्तर[3] हिन्दुस्तान के ज्यादातर हिस्सों में इसी

१—डाक्टर ताराचंद को पता नहीं कि नाट्यशास्त्र में स्पष्ट लिखा है—

"सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत्॥" १७।४७

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि शौरसेनी ही उस समय की चलित राष्ट्रभाषा है।

२—डाक्टर साहब ने बड़ी चातुरी से गोलमाल कर दिया है। अच्छा और उचित तो यह था कि 'नागर' की प्रकृति अथवा उसकी जननी 'प्राकृत' का पता बताते और फिर अपने उदार पांडित्य का प्रदर्शन करते।

३—दक्षिण भारत भी इससे अछूता न बचा था। यदि सर जार्ज ग्रियर्सन की 'भाषा पड़ताल' की भूमिका पृ० १२४ को देखें तो आपकी आँख खुले और पता चले कि वास्तव में वस्तुस्थिति क्या है।

नागर के विविध रूप साहित्यिक अभिव्यक्ति के वाहन बनकर काम में आने लगे थे। लेकिन नागर और उसके विविध रूपों के सिवा शौरसेनी-जैसी दूसरी प्राकृत भाषाओं के भी अपभ्रंशों का विकास हुआ था।

४—हिन्दुस्तान की आधुनिक भाषाओं का या तृतीय प्राकृतों का विकास इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। नागर अपने एक प्रकार द्वारा राजस्थानी और गुजराती भाषाओं की जननी बनी, जिसे टेस्सीटोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है।

शौरसेनी अपभ्रंश का रूप हेमचन्द्र के (सन् ११७२) प्राकृत व्याकरण में प्रगट हुआ है लेकिन शौरसेनी अपभ्रंश का नागर के साथ कोई सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है। मालूम होता है कि शौरसेनी अपभ्रंश के रूप में और भी परिवर्तन हुए और वे प्राचीन पश्चिमी हिंदी अवहत्थ, काव्य भाषा आदि विविध नामों से पुकारे गये।

५—इस भाषा के सामने आने पर मध्यम प्राकृत भाषाएँ मंच से हट जाती हैं और तृतीय प्राकृत या 'न्यूइंडो-आर्यन' भाषाओं का समय शुरू होता है। पुरानी पश्चिमी हिन्दी, जो नवीन मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहला रूप है, ११ वीं सदी में निश्चित रूप धारण करती मालूम होती है। इसी पुरानी पश्चिमी हिन्दी से उत्तरी मध्य देश की हिन्दुतानी (खड़ी) निकली मध्यदेश की ब्रज निकली और दक्षिण की बुंदेली निकली। १२ वीं सदी में ये सब बोलियाँ थीं। आगे की कुछ सदियों में इन्होंने साहित्यिक रूप धारण किया।

६—इन भाषाओं के विकास का जो अध्ययन मैंने किया है, उससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुस्तानी (खड़ी) ही

वह भाषा थी, जिसका साहित्यिक[४] भाषा के रूप में सबसे पहला विकास हुआ। १४ वीं सदी के आखिरी पचीस सालों से लेकर अब तक हमें हिंदुस्तानी (दक्खिनी उर्दू) का सिलसिलेवार इतिहास मिलता है। दूसरी तरफ १६ वीं सदी से पहले की ब्रज-भाषा का इतिहास बहुत ही शंकास्पद[५] है।

७—आइये, १६ वीं सदी से पहले के तथाकथित ब्रजभाषा-साहित्य का कुछ विचार किया जाय।

(अ) पृथ्वीराजरासो[६] का रचयिता चन्दबरदाई वह पहला

४—डाक्टर साहब सम्भवतः 'बाबावाक्यं प्रमाणं' के पथिक हैं और 'साहित्यिक भाषा' एवं 'भाषा' के भेद से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अन्यथा उनकी लेखनी की जीभ से ऐसी भोंड़ी बात न निकलती। हिन्दुस्तानी के प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ कहाँ हैं! 'दक्खिनी' का साहित्यिक भी इतना प्राचीन कहाँ है?

५—डाक्टर साहब को कुछ 'ग्वालियरी' का भी पता है या यों ही 'दक्खिनी' बूक रहे हैं। अच्छा होता यदि डाक्टर महोदय ग्वालियर के राजा मानसिंह के 'मानकुतूहलम्' का अवलोकन और संगीत-परम्परा का कुछ अध्ययन करते, एवं यह भी जान लेते कि कुछ विद्वान् महाराष्ट्री (गीत-भाषा) को भी शौरसेनी का ही एक विकसित रूप समझने लगे हैं। (सन् १९४२, देखिए-इंडो आर्यन एंड हिन्दी, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद, सन् १९४२, पृ० ८५-६.)

६—ध्यान देने की बात है कि उनके विरोधी ने कहीं भूलकर भी 'पृथ्वीराजरासो' अथच 'चन्दबरदाई' का नाम नहीं लिया है; परन्तु हिन्दुस्तानी के पुरोहित पंडित ताराचन्द उसी को जाली ठहराने में लगे हैं! क्यों? तो क्या अर्थी सचमुच दोष को नहीं देखता? हिन्दुस्तानी के उपासक सिद्ध तो यही करते हैं।

कवि है, जिसने, कहा जाता है कि ब्रज (पिंगल) का उपयोग किया था। यह चंदबरदाई पृथ्वीराज (१२ वीं सदी) का समकालीन माना जाता है। रासो के सम्बंध में एक प्रबल मत यह है कि वह नकली काव्य है। बुहलर, गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, ग्रियर्सन और दूसरे विद्वान् उसकी प्रामाणिकता में संदेह रखते हैं उसकी भाषा में आधुनिक और प्रचलित भाषा का अजीब मिश्रण है। उसकी कथा-वस्तु इतिहास के विपरीत पड़ती है और उसके रचयिता के बारे में भी शक है। इन प्रमाणों के आधार पर पंडित रामचन्द्र शुक्ल इस नतीजे पर पहुँचे थे कि 'यह ग्रंथ साहित्य के या इतिहास के विद्यार्थी के किसी काम का नहीं है।'

(आ) अमीर खुसरो दूसरा ग्रंथकार है, जिसके लिये दावा किया जाता है कि वह ब्रज का लेखक था। सन्१३२५ में उसकी मृत्यु हुई। हिन्दी में उसकी कविताओं, पहेलियों और 'दोसखुनों' का कोई प्रामाणिक हस्तलिखित ग्रंथ अभी तक मिला नहीं है। लाहौर के प्रोफेसर महमूद शेरानी ने उस बात को अच्छी तरह साबित कर दिया है कि खालिक़बारी (हिंदी और फारसी शब्दों का पद्यबद्ध कोश), जो ख़ुसरो की रचना कही जाती है, उसकी रचना नहीं हो सकती। उसकी हिंदी कविता की भाषा इतनी आधुनिक है कि भाषाशास्त्र का एक साधारण जानकार भी यह ताड़े बिना नहीं रह सकता कि वह १३ वीं सदी की नहीं हो सकती। उसकी अधिकांश रचनाएँ बिलकुल आधुनिक हिंदुस्तानी या खड़ी बोली में हैं और कुछ पर ब्रज की छाप है। डॉक्टर हिदायत हुसेन ने ख़ुसरो की रचनाओं की एक प्रामाणिक सूची तैयार की है जिसमें वे उसकी हिंदी[७] कविताओं को कोई स्थान

७—कौन कहे कि डाक्टर ताराचन्द 'आँधर कूकुर बतासै भूकै'

नहीं दे सके हैं। कुछ हिंदी लेखकों ने खुसरो के खिज्र खाँ और देवलरानी नामक काव्य का यह अंश पढ़ा है, जिसमें हिंदी की तारीफ की गई है। इस पर से उन्होंने यह नतीजा निकाला कि खुसरो हिंदी का प्रशंसक और कवि था। लेकिन उस अंश को ध्यान से पढ़ने से यह बिलकुल साफ हो जाता है कि वहाँ खुसरो का मतलब[८] ब्रज या हिंदुस्तानी से नहीं था इस

को चरितार्थ करते हैं और आँख होते हुए भी अपनी आँख से काम नहीं लेते। उनके उर्दू के पक्के मौलवी कुछ भी कहते रहें पर अल्लामा सैयद सुलेमान नदवी की घोषणा है—

अमीर (खुसरो) को अपने हिन्दी कलाम पर जो नाज़ था वह उनके इस शेर से नुमायाँ है……

चू मन तूतिये हिन्दम् अर रास्त पुर्सी,
जे मन हिन्दवी पुर्स ता नगज़् गोयम्।"

कितनी विलक्षण बात है कि उधर तो खुसरो यह अभिमान करते हैं कि 'वस्तुतः मैं हिन्दी तूती हूँ और यदि तू सच सच पूछे तो मुझसे हिन्दवी में पूछ जिससे मैं बढ़िया कहूँ' और इधर हमारे सपूत डाक्टर साहब इधर-उधर की बातों में यह उड़ा देना चाहते हैं कि वास्तव में अमीर खुसरो ने हिन्दी में भी कुछ रचना की। हम अभी डाक्टर ताराचन्द से केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जनाब ज़रा उक्त सैयद साहब की 'नुकूशे सुलैमानी' का पृष्ठ ४७ भी देखलें। आशा है, आपको पता हो जायगा कि भाषा के क्षेत्र में आप कितने पानी में हैं।

८—न सही। पर कृपया यह तो बताइए कि उसका 'मतलब' किससे था। 'संस्कृत' तो सम्भवतः आपको इष्ट नहीं, क्योंकि उसी के विनाश के लिये तो यह हिन्दुस्तानी का चक्र चला है। तो फिर अमीर

नगण्य[१] से प्रमाण के आधार पर ब्रज के इतिहास का ठेठ खुसरो से संबंध जोड़ना विज्ञानसम्मत तो नहीं कहा जा सकता।

(इ) आगे चलकर यह कहा गया है कि नामदेव, रैदास, धना, पीपा; सेन, कबीर आदि संत और भक्त ब्रज के कवि थे। इनकी बानी और पद गुरुग्रन्थ में दिये गये हैं। वे कहाँ तक प्रामाणिक माने जा सकते हैं, सो एक अनसुलझी समस्या ही है। नामदेव एक मराठा संत थे, जो १३ वीं सदी में हो गये; उन्होंने हिन्दी में कुछ लिखा था या नहीं, सो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुरुग्रंथ का संकलन १७ वीं सदी के शुरू में हुआ था। दूसरे सन्तों और भक्तों की रचनाओं के कोई प्रामाणिक हस्त-लिखित ग्रंथ भी नहीं मिल रहे हैं।

इन संतों और भक्तों में १५ वीं सदी के कबीर ही सबसे ज्यादा मशहूर हैं। गुरुग्रंथ में उनकी बहुत सी रचनाएँ पाई जाती हैं। उनकी भाषा पर पंजाबी का ज़बर्दस्त असर है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजी द्वारा संपादित कबीर की ग्रंथावली प्रकाशित की है, जो सन् १५०४ के एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर तैयार की गई कही जाती है। लेकिन इस तिथि की प्रामाणिकता के संबंध में भी गंभीर शंकाएँ उठाई गई हैं (देखिए, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल कृत 'हिंदी काव्य में निर्गुणवाद'), बहरहाल, इस संस्करण की भाषा भी गुरुग्रंथ में पाये जानेवाले पदों की भाषा से मिलती-जुलती है,

---

खुसरो की उस हिंदी-प्रशंसा का अर्थ क्या? अरे आप कुछ भी कहें, अमीर की साखी तो 'हिंदी' के पक्ष में ही है, हिंदुस्तानी अथवा 'अरबी-फारसी' के पक्ष में कदापि नहीं।

१—क्या आपको यह भी बताना होगा कि खुसरो की जन्मभाषा ब्रजभाषा ही थी और वे जन्मे भी थे ब्रजभाषा के 'एटा' प्रांत में?

और बहुत ज्यादा पंजाबीपन लिये है। कबीर ने खुद[1] कहा है कि उन्होंने पूरबी बोली का उपयोग किया है, और उनकी कई ऐसी रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा पर राजस्थानी का बहुत प्रभाव मालूम होता है, ऐसी हालत में कबीर के ग्रन्थों की भाषा के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इस सवाल को यह कहकर हल करने की कोशिश की है कि कबीर ने अपनी साखियों में साधुकरी (सधुक्कड़ी) का और रमैनी व शब्दों में काव्य-भाषा या ब्रज का उपयोग किया है।

लेकिन उनका यह हल शायद ही सन्तोषजनक हो। क्योंकि इससे कबीर की अपनी बात का खंडन होता है। दूसरे, प्रामाणिक दस्तावेजों[2] के अभाव में इसको सिद्ध करना भी सम्भव नहीं है।

८—इस प्रकार जितनी ही आप इन साहित्यिक रचनाओं की जाँच-पड़ताल करते हैं, उतनी ही मज़बूती के साथ आपको इस

१—खुले, डाक्टर साहब खूब खुले। हिन्दुस्तानी के डाक्टर ताराचंद जो ठहरे! 'गुरु ग्रंथ साहब' तो प्रमाण नहीं, स्वयं डाक्टर साहब प्रमाण हैं। कारण, हिन्दुस्तानी के भक्त और एकता के पुजारी जो हैं। नहीं तो आप किस आधार और किस बूते पर कह सकते हैं कि 'कबीर ने खुद कहा है कि उन्होंने पूरबी बोली का उपयोग किया है!' क्या महात्मा जी एवं क़ाका कालेलकर उनसे उक्त प्रमाण का 'दस्तावेज' माँग सकते हैं अथवा 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर सभी कुछ सम्भव और प्रमाण होता रहेगा? 'पूरबी बोली' का अर्थ यह कैसे हो गया कि वस्तुतः इसी बोली में उन्होंने कविता भी की है?

२—डाक्टर साहब को फिर बताया जाता है कि कुछ संगीत-भाषा का अध्ययन करें और कृपया 'ग्वालियरी' को भूल न जाएँ। ग्वालियर आज भी संगीत का अड्डा है। कबीर के 'पद' गाने ही

नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि इन रचनाओं की भाषाओं के बारे में आम तौर पर लोगों की जो राय बनी हुई है, दरअसल उसके लिए बहुत कम आधार है। कुछ दूसरी बातें भी परिणाम पुष्ट करती हैं। यह तो एक जानी हुई बात है कि कोई भी बोली या ज़बान तब तक साहित्य के पद और प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होती, जब तक उसकी पीठ पर कोई मजबूत सामाजिक बल न हो। यह बल[1] या तो धार्मिक हो सकता है या राजनैतिक! पाली और धर्ममागधी की जो प्रतिष्ठा बढ़ी, सो इसलिये कि ये दोनों बौद्ध और जैन सुधारों की वाहन बनी थीं। हिन्दुस्तानी ने जो साहित्यिक दर्जा हासिल किया, सो इसलिये कि उसे मुस्लिम उपदेशकों और बादशाहों का सहारा मिल गया था। राजस्थानी, जो १४ वीं, १५ वीं और १६ वीं सदियों में उत्तरी हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से की साहित्यिक जबान थी, इसलिये बढ़ी और लोकप्रिय हुई कि उसके पीछे मेवाड़ के महान् सिसोदियाओं का बल था। जब मुग़लों ने मेवाड़ के राणाओं को हरा दिया, तो राजस्थानी भी एक प्रादेशिक भाषा बनकर रह गई।

इसी तरह जब हम ब्रजभाषा का विचार करते हैं, तो हमें १६ वीं सदी तक उसका समर्थ करनेवाली किसी राजनैतिक या धार्मिक हलचल का पता नहीं चलता। ब्रज कभी किसी सत्ता का

हैं। उनकी गीत भाषा ग्वालियरी अथवा ब्रज नहीं तो क्या उर्दू या हिन्दुस्तानी होगी ?

१—क्या डाक्टर ताराचंद यह बताने की कृपा करेंगे कि अवधी भाषा में साहित्य का निर्माण किस प्रकार हुआ और उसके काव्य-प्रयोग का कारण क्या हुआ ? उसे भी जाने दीजिए। मैथिली का इतिहास क्या है ?

राजनैतिक केंद्र[1] नहीं रहता। श्री वल्लभाचार्य के ब्रज में आकर[2] बसने और वहाँ कृष्ण भक्ति के अपने संप्रदाय का प्रचार शुरू करने से पहले एक धार्मिक केंद्र के नाते भी ब्रज का कोई महत्त्व न था। स्पष्ट ही वल्लभाचार्य के इस आंदोलन ने ब्रज की बोली[3] को वह बढ़ावा दिया, जिससे वह एक साहित्यिक भाषा का रूप धर सकी। उत्तरी हिंदुस्तान में सूरदास ने और बल्लभाचार्य के दूसरे शिष्यों ने (अष्टछाप) ब्रजभाषा के प्रमुत्व को इस कदर बढ़ाया कि उसका एक रूप सुदूर बंगाल में भी कृष्णभक्ति को व्यक्त करने के माध्यम के रूप में अपनाया गया।[4]

१—यदि यह ठीक है तो प्राकृतों में शौरसेनी को इतना महत्त्व क्यों मिला और क्यों वही शिष्ट प्राकृत बनी ?

२– श्री वल्लभाचार्य क्या, उनके पुत्र श्री विट्ठल जी भी उनके निधन के उपरांत बहुत दिनों तक 'अडेल' में ही रहे और फिर जाकर ब्रज में बस रहे।

३—डाक्टर साहब को पता नहीं कि श्री वल्लभाचार्य के अनेक शिष्य उनके संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व भी ब्रजभाषा के कवि थे और 'स्वामी' के रूप में ख्यात भी थे। इतिहास का यह अछूता और अधकचरा ज्ञान किसी डाक्टर का तो कुछ बिगाड़ नहीं सकता पर किसी परीक्षार्थी का सर्वस्व हर सकता है। शोध की दृष्टि से देखो तो पता चले कि वल्लभाचार्य ने वस्तुतः क्या किया। ब्रजभाषा-साहित्य को जन्म दिया अथवा स्थिति को अनुकूल बना उससे लाभ उठाया। स्मरण रहे, श्री वल्लभाचार्य के उदय के पहले ही कृष्ण-लीला का विस्तार हो चुका था और ब्रजभाषा में न जाने कितनी पद-रचना हो चुकी थी।

४—बंगाल कितने दिनों से ब्रजभक्त है इसका पता 'जयदेव'

९—कबीर की और दूसरे भक्तों की रचनाएँ, फिर असल भाषा कुछ ही क्यों न रही हो, खास तौर पर बरज़बान याद कर ली जाती थीं; और इस तरह उनका मौखिक प्रचार ही अधिक होता था। जब ब्रज की बाढ़ ज़ोरदार बनी, तो बड़ी आसानी से उनकी रचनाओं पर भी ब्रज का असर पड़ा और उनमें ब्रजपना[1] आ गया।

१०—जिन कारणों से मैं यह मानता हूँ कि ब्रजभाषा में ऐसा कोई असली[2] साहित्य नहीं है, जो १६ वीं सदी से पहले का

और 'चंडीदास' बता सकते हैं। 'ब्रजबुली' साहित्य का श्रेय वल्लभाचार्य को नहीं गौरांग प्रभु को है। चैतन्य के शिष्यों वा बंगालियों को कृष्णदास ने किस प्रकार खदेड़ा इसको 'वार्ता' में पढ़ देखिए। यह जान लीजिए कि 'वैभव बढ़ाने' के लिए ही यह कांड रचा गया। हाँ, ब्रज-साहित्य-उत्कर्ष में अवश्य ही वल्लभाचार्य का विशेष हाथ है, पर उदय में नहीं।

१—उर्दू का इतिहास पुकारकर बताता है कि उर्दू ब्रज को 'मतरूक' कर आगे बढ़ी और उसके प्रभाव तथा भ्रष्ट लिपि के कारण ही ब्रज के अनेक रूप खड़ी बोली के रूप पढ़े गये। इसी से 'आजाद' ने उर्दू को ब्रजभाषा की बेटी कहा है। 'ब्रजपना' 'साखी' में क्यों नहीं आया? कुछ इसका भी विचार है? 'साखी का प्रचार 'रमैनी' और 'शब्द' से कहीं अधिक है। समझा न?

२—डाक्टर साहब से हमारा साग्रह अनुरोध है कि कृपा करके १६ वीं शती से पहले की हिंदुस्तानी यानी उर्दू के **असली साहित्य** को प्रकट करें और एक बार डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की नवीन पुस्तक 'इंडो आर्यन ऐण्ड हिंदी' का आँख खोलकर अध्ययन करें और फिर देखें कि वस्तुस्थिति वस्तुतः क्या है। उक्त पुस्तक गुजरात

कहा जा सके, वे कारण ऊपर मैं संक्षेप में दे चुका हूँ। लेकिन इस तरह के विचार सिर्फ मेरे ही नहीं हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेंद्र वर्मा ने भी, जो सचमुच ही हिंदुस्तानी के खास पक्षपाती नहीं हैं, हिंदी साहित्य के[1] अपने इतिहास में और व्रजभाषा के व्याकरण में हिंदी विचारों को व्यक्त किया है, जो उनकी पुस्तकों में देखे जा सकते हैं।"

— — —

वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद से साढ़े तीन रुपये में मिल जायगी और आशा है डाक्टर साहब को कुछ ठीक ठीक सुझा सकेगी। डाक्टर साहब को समझ लेना चाहिये कि 'दक्खिनी' उर्दू नहीं है। उर्दू से उसका स्पष्ट भेद समझना हो तो 'दक्खिनी' 'आगाह' का यह शब्द सुनें और इसकी पंडित-शैली को भी देखें। कहते हैं—

"और उर्दू के भाके में नहीं कहा। क्या वास्ते कि रहनेवाले यहाँ के इस भाके से वाक़िफ़ नहीं है। ऐ भाई! यह रिसाले दक्खिनी ज़बान में हैं।" (दास्ताने उर्दू, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा, पृ० ४८)

१—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा के उक्त इतिहास का पता नहीं। हाँ, यदि डाक्टर साहब का तात्पर्य डाक्टर रामकुमार वर्मा के इतिहास से है तो बात ही और है। हमें उसके संबंध में कुछ नहीं कहना है।

५—हिन्दुस्तानी

[श्री काका कालेलकर]

किसी समस्या को हल करने की कोशिश में हम कभी-कभी नई समस्याएँ पैदा करते हैं। राष्ट्रभाषा की समस्या हल करते-करते हिंदी और हिंदुस्तानी का सवाल खड़ा हुआ। राष्ट्रभाषा का कार्य क्या है, यह जब तक हमने तय नहीं किया है, तब तक इसमें से अनेक गुत्थियाँ पैदा होनेवाली हैं।

यह देखकर कि देश में चंद लोग हिंदी को राष्ट्रभाषा कहते हैं और चंद हिंदुस्तानी को, एक मित्र ने बीच का रास्ता निकाला है। वे कहते हैं, हिंदी तो हमारी राष्ट्रभाषा है, और हिंदुस्तानी[1] सारे देश की सामान्य बोलचाल की भाषा।

जो लोग मानते हैं और कहते हैं कि हिंदुस्तान में दो राष्ट्र हैं एक हिंदुओं और दूसरा मुसलमानों का, वे तो आसानी से कह सकते हैं कि हिंदी हिंदुओं की राष्ट्रभाषा है,—उर्दू मुसलमानों की और हिंदुस्तानी जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। इनके विचार में हिंदुस्तान के लिए दो राष्ट्रभाषाएँ हो सकती हैं, अगर इन्हें पूछा

१—इस प्रसंग में भूलना न होगा कि डाक्टर सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या जैसे भाषामनीषी इसे 'हिंदुस्थानी' कहते हैं. कुछ 'हिंदुस्तानी' नहीं। कारण, उनकी शुद्ध दृष्टि में 'हिंदुस्तानी' भी 'उर्दू' का ही पर्याय है कुछ 'हिंदी' का नहीं। आज भी महाराष्ट्र और बंगाल प्रभृति प्रांत हिंदी को ही हिंदुस्थानी कहते हैं कुछ 'उर्दू' को नहीं। उर्दू तो उनकी दृष्टि में 'मुसलमानी' है।

जाय कि फिर पारसियों का और ईसाइयों का क्या? बौद्धों का और यहूदियों का क्या? तो वे कहेंगे कि वे भी अपनी-अपनी भाषाएँ चलायें, हमें एतराज नहीं देश के जितने टुकड़े हो जायँ, अच्छे ही हैं।

जो लोग कहते हैं कि हिंदुस्तान हिंदुओं का ही है, उनका रास्ता भी बिलकुल आसान है। वे कहेंगे कि दूसरे सब धर्मों के लोग हिंदुस्तान में आश्रित होकर ही रह सकते हैं, और उन्हें हिंदुओं की हिंदी ही राष्ट्रभाषा के तौर पर सीखनी होगी।

लेकिन देश में राष्ट्रीय वृत्ति के असंख्य लोग हैं, जो हिंदुस्तान को हिंदू मुस्लिम, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी सबका स्वदेश[1] मानते हैं। वे दो भाषाओं का पुरस्कार किस तरह से कर सकते हैं।

हम जानते हैं कि हिंदी ही को राष्ट्रभाषा कहनेवाले लोगों में भी ऐसे बहुत से लोग हैं जो बिलकुल राष्ट्रीय वृत्ति के हैं। वे हिंदी

१—परंतु विचारणीय बात यह है कि क्या स्वयं मुसलिम भी हिंदुस्तान को अपना 'स्वदेश' मानते हैं। और तो और, उर्दू के प्रसिद्ध स्व० कवि सर शेख मोहम्मद इक़बाल जो मूलतः कश्मीरी ब्राह्मण थे और कभी 'हिंदी है हम वतन है हिंदोस्ताँ हमारा' का पाठ पढ़ाते थे अंत में 'मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा' का डंका पीटकर मरे। उर्दू साहित्य में तो कोटियों प्रमाण भरे हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलिम कभी भी हिंदुस्तान को अपना 'स्वदेश' नहीं समझते। उनका 'स्वदेश' तो ईरान-तूरान अथवा अरब है। यहाँ तक कि होते-होते आजमगढ़ के स्व० मौलाना शिबली भी 'त्रिनवली' से 'नुअमानी', हिंदी से ईरानी बन गए।

में से अरबी फारसी के रूढ़[1] शब्दों का बहिष्कार नहीं चाहते। हिंदी सब की भाषा है, केवल हिंदुओं की नहीं। हिंदी के ऊपर पारसी ईसाई आदि सबों का उतना ही अधिकार है जितना हिंदुओं का है इसलिये राष्ट्रभाषा के प्रश्न को सांप्रदायिक नहीं बनाना चाहिए, ऐसा भी वे कहते हैं। उर्दू के खिलाफ उनकी इतनी[2] ही शिकायत है कि उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों की भरमार हद से ज्यादा है। अरबी और फ़ारसी दोनों भाषाएँ न हिंदुस्तान में बोली जाती हैं, न उनका अध्ययन हिंदुस्तान के अधिकांश लोग करते हैं। राष्ट्रभाषा तो ऐसी हो कि जिसमें देशी शब्द[3] ज्यादा हों और प्रांतीय भाषाओं के लिए वह

१—ध्यान देने की बात है कि अरबी-फारसी रूढ़ शब्दों का बहिष्कार कोई भी विवेकशील कट्टर हिंदी-भक्त भी नहीं चाहता है पर वह यह मान नहीं सकता कि किसी टोली विशेष में प्रचलित सभी अरबी-फारसी शब्द रूढ़ अथवा ठेठ हो चुके हैं।

२—यदि बात यहीं होती तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न कभी सुलझ गया होता। उर्दू के प्रति हमारी सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उसकी प्रवृत्ति अरबी-फारसी वा अहिंदी है। उसका इस राष्ट्र से नाता नहीं। वह सदा इस राष्ट्र से बिचकती और ईरान-तूरान वा अरब का दम भरती है। वह जन्मी तो यहाँ पर हो गई परितः वहाँ की। उसने अपने कुल को त्याग कर दूसरे के कुल को अपना लिया।

३—हमें इस व्यापक भ्रम से शीघ्र मुक्त होना चाहिए। वास्तव में भाषा शब्दों के जोड़ से नहीं बनती कि उसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों का अनुपात निकाला जाय। भाषा तो किसी राष्ट्र वा व्यक्ति की व्यक्ति का नाम है। वह अपने राष्ट्र वा व्यक्ति की प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकती। राष्ट्रभाषा में हम इसी 'प्रवृत्ति' को ढूँढ़ते हैं, कोरे शब्दों को नहीं।

बहुत-कुछ नज़दीक हो। जिन लफ़्ज़ों को अधिक से अधिक लोग जानते हैं, वे कहीं से भी आये हों, राष्ट्रभाषा के ही समझे जाने चाहिए।

उर्दू के बारे में उनकी दूसरी शिकायत यह है कि उर्दू की लिपि परदेश से आई हुई है, अवैज्ञानिक है, और उसका प्रचार बिलकुल परिमित है। राष्ट्रभाषा की लिपि तो स्वदेशी ही होनी चाहिए। अधिक से अधिक लोग समझ सकें, वैसी ही होनी चाहिए। और अगर वह वैज्ञानिक है, तो और भी अच्छा। कम से कम राष्ट्रलिपि ऐसी न हो, कि जिसमें देशी ध्वनियाँ ठीक-ठीक व्यक्त ही न हो सकें, और जो देशी शब्दों को तोड़-मरोड़कर उनका रूप ही बिगाड़ डाले।

सबसे पहले हमें यह समझना चाहिए कि राष्ट्रभाषा का सवाल केवल वैज्ञानिक नहीं है। वह मुख्यतः सामाजिक है। उसमें राजनैतिक और ऐतिहासिक बातें भी आ सकती हैं, लेकिन मुख्यतया राष्ट्रभाषा का सवाल सामाजिक और राष्ट्र संघटन का है। एक राष्ट्रीयता को दृढ़ करने की दृष्टि से ही राष्ट्रभाषा का महत्त्व है।

हमें एक राष्ट्रीयता के महत्त्व के तत्त्व प्रथम सोच लेने चाहिएँ।

हिंदुस्तान एकजिन्सी राष्ट्र नहीं है। यह भिन्न जाति के, भिन्न-भिन्न संप्रदाय के, भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले लोगों का, लेकिन एक ही समृद्ध और संगठित संस्कृति का, एक राष्ट्र[१] बन चुका

१—यदि अपराध क्षमा हो तो इतना और निवेदन कर दिया जाय कि उक्त राष्ट्र की एक 'राष्ट्रभाषा' भी कभी की बन चुकी है और

है। इसी को मजबूत बनाने का सवाल है। जहाँ-जहाँ विविधताएँ एकता को तोड़ने की कोशिश करती हैं, वहाँ वहाँ उन पर अंकुश चलाकर उन्हें एकता की मददगार बनाना है। इसलिये हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा में विविधता के सब तत्त्वों को स्वीकार करते हुए, उसमें एकता को दृढ़ करने की कोशिश करनी है। अहिंसा, प्रेम प्रेमोचित त्याग और सर्वसमन्वय के मार्ग से ही हम भारतवर्ष की मूलभूत एकता को दृढ़ कर सकते हैं।

हिंदुस्तानी को सिर्फ़ बोल-चाल की भाषा कहना और उसे राष्ट्रभाषा का स्थान न देना, हिंदुस्तान की एकराष्ट्रीयता को कमज़ोर बनाना है[1]।

जब हिंदुस्तान की संस्कृति ही संमिश्र (कॉम्पोजिट) है, तब कोई भी भाषा तब तक हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती,

---

जैसे आज उस राष्ट्र के विच्छेद का काम 'मुसलिम लीग' कर रही है वैसे ही उस 'राष्ट्रभाषा' के विच्छेद का काम कभी (मोहम्मदशाह रंगीले के शासन १७४४-१७४५ ई० में) उर्दू (दरबार) के ईरानी-तूरानी दल ने किया था। अस्तु राष्ट्र के क्षेत्र में जो 'पाकिस्तान' है भाषा के क्षेत्र में वही 'उर्दू' है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

१--यह तर्क नहीं अभिशाप है जो मूलतः भाषाओं की अनभिज्ञता के कारण उठा है और पटु परदेश-प्रिय मुसलमानों के घोर प्रयत्न के कारण प्रचार में आया है। इसे हम चाहें तो इस रूप में भी समझ सकते हैं कि जैसे 'पाकिस्तान' ने 'दारुल इसलाम' की जगह ली वैसे ही हिंदुस्तानी ने उर्दू की। रंग वही पर ढंग में थोड़ा अंतर है।

जब तक उसमें संस्कृति के इन सब संमिश्र तत्त्वों का अंतर्भाव न हो। राष्ट्रभाषा ऐसी होनी चाहिए कि जो हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सबों को अपनी सी लगे।

जो लोग मानते हैं कि प्रांतीय भाषाओं में केवल प्रांतीय संस्कृति ही व्यक्त होगी, और हिंदी में राष्ट्रीय संस्कृति, वे बड़ी ग़लती करते हैं। असल बात तो यह है कि प्रांतीय संस्कृति जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। प्रांतीय भाषाओं में अपनी-अपनी विशेषताएँ हो सकती हैं लेकिन प्रांतीय साहित्य में यह जरूरी नहीं है कि वह केवल प्रांतीय ही हों। किसी भी प्रांतीय भाषा ने यह निश्चय नहीं किया है कि उसकी विविधता और समृद्धि हिंदी की विविधता और समृद्धि से कम हो। जो अच्छी-अच्छी बातें बँगला साहित्य में पाई जाती हैं, उन सबको मराठी या गुजराती में लाने की मेरी कोशिश रहेगी ही। कन्नड़ तेलगू या तामिल भाषा बोलने वाले लोगों को क्या इससे संतोष होगा कि चूँकि अन्य प्रांतीय साहित्य में जो कुछ अच्छा है, वह हिंदी में पाया जाता है, इसलिये उसका अनुवाद अपनी भाषा में न हो, तो भी चलेगा? हर एक प्रांतीय भाषा दिन पर दिन समृद्ध होती ही चलेगी।

१—क्या कोई भी अभिज्ञ व्यक्ति यह सिद्ध कर सकता है कि हिंदी में 'इन संमिश्र तत्त्वों' का अभाव है? हम नहीं समझ पाते कि वस्तुतः श्री काका कालेलकर का इष्ट क्या है। सच तो यह है कि जो हिंद को अपना नहीं समझता वही उसकी राष्ट्रभाषा हिंदी से भी दूर भागता है। कोई कहने को कुछ भी कहे पर इतिहास और साहित्य की साखी तो यही है। देखने का कष्ट करें।

हिंदी-भाषी लोग अगर अन्य प्रांतों से ज्यादा उत्साही रहे, और उन्होंने अपनी सब भगिनी भाषाओं से जोरों से लोहा लेना शुरू किया तो उसकी समृद्धि बढ़ेगी ही। लेकिन हिंदी की अपेक्षा यह दीख पड़ती है; कि हिंदी जिनकी जन्मभाषा नहीं है, ऐसे लोग हिंदी सीखें और अपने अपने प्रांत में जो कुछ भी हो, उसका हिंदी में अनुवाद करके अपनी बड़ी बहन के ख़ज़ाने में उतना करभार[१] पहुँचा दें।

यह तो तब हो सकेगा, जब हिंदी अपनी प्रांतीयता छोड़कर, और सांप्रदायिक न रहकर, राष्ट्रीय यानी संमिश्र रूप धारण करेगी—अर्थात् जब वह हिंदुस्तानी[२] बनेगी। हिंदी में इस राष्ट्रीयता को धारण करने के सब तत्त्व हैं इसलिये हिंदी को ही हिंदु-

---

१—हिंदी अपनी छोटी बहिनों से 'कर' नहीं चाहती। वह तो चाहती है कि उसे अपना 'ज्येष्ठांश' मिले और सभी बहिनों की अनुपम राशि एकत्र रहे। उसका हृदय इतना उदार रहे कि सदा की भाँति सभी बहिनें उसे अपनी माता के स्थान पर पायें और उसके स्नेह से अपने को और भी स्निग्ध करें।

२—कितनी विलक्षण सूझ है। सच है—'आरत के चित रहत न चेतू।' हिंदी में 'प्रांतीयता' है तो कौन सी, कुछ इसे भी तो बताना चाहिए या यों ही हिंदुस्तानी के जोम में कुछ भी लिख जाना ही स्वधर्म है। रही 'सांप्रदायिकता' की बात। सो उसके विषय में मौन रहना ही उचित है क्योंकि हिंदू कुछ भी करे वह मुसलिम-दृष्टि में असांप्रदायिक हो नहीं सकता। क्या महात्मा गांधी पर भी इसी 'सांप्रदायिकता' का आरोप नहीं होता! फिर इस हौवा का भय क्या?

स्तानी का रूप देने की कोशिश की गई। लेकिन चंद लोग इस कोशिश को हज़म नहीं कर सके। उन्हें डर लगा कि हिंदुस्तानी बनते-बनते शायद हिंदी-उर्दू बन जायगी। इस वास्ते उन्होंने हिंदी को हिंदी ही रखकर, हिंदी और उर्दू को राष्ट्रभाषा का स्थान देना पसंद किया। जो भाषा अंतर्प्रांतीय बोलचाल की, यानी सांस्कृतिक विनिमय की भाषा नहीं बन सकती, वह हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा भी नहीं बन सकती। न हम उसे राष्ट्रभाषा कह सकते हैं।

अब श्रेय इसी में है कि हम हिंदी को राष्ट्रभाषा का एक अंग कहें—हम चाहें तो उसे प्रधान अंग कह सकते हैं—किंतु हिंदी और उर्दू मिलकर[1] ही राष्ट्रभाषा बन सकती है। उसका नाम हिंदुस्तानी है, इस बारे में देश में अब कहीं[2] भी मतभेद नहीं रहा।

वही संस्कार-संपन्न हिंदुस्तान की बोलचाल की अर्थात् सांस्कृतिक व्यवहार की भाषा है।

———

१—इस न्याय के आधार पर हम चाहें तो कह सकते हैं कि [प]ाकिस्तान और हिंदुस्तान मिलकर ही राष्ट्र बन सकता है और उसका [न]ाम है गड़बड़िस्तान। अतः यदि हमें गड़बड़िस्तान प्रिय है तो हमें [']हिंदुस्तानी' का स्वागत करना ही चाहिए नहीं तो 'न नव मन तेल [हो]ई न राधा नचिहैं' की कहावत तो प्रसिद्ध ही है।

२—कहिए इस 'कहीं' का अर्थ कोई क्या समझे? सच है, [']दहुँ आँख-कतहुँ कोउ नाहीं।'

६—हिंदुस्तानी का आग्रह क्यों

'जितने मुँह उतनी बात' की कहावत हिंदुस्तानी पर अक्षरशः सत्य उतरती है। जिसे देखिये वही हिंदुस्तानी पर कुछ कहने के लिये मुँह खोले खड़ा है पर जानता इतना भी नहीं कि वस्तुतः हिंदुस्तानी आंदोलन का रहस्य क्या है और किस प्रकार वह हिंदी को चरने के लिये खड़ा हुआ है। सबसे पहले उस फोर्ट विलियम कालेज (स्थापित १८०० ई०) को ही ले लीजिये जिसके विषय में बार बार अनेक मुँह से अनेक रूप में कहा गया है कि वही नागरी वा उच्च हिंदी को जन्म दिया गया और वहीं से डाक्टर गिलक्रिस्ट के प्रभुत्व एवं श्री लल्लूजी लाल के प्रयत्न से हिंदी का प्रसार हुआ। परंतु वहाँ होता क्या है, इसे स्वयं उन्हीं डाक्टर गिलक्रिस्ट के मुँह से सुन लीजिए और सदा के लिए टाँक लीजिए कि वस्तु-स्थिति सचमुच क्या है। अच्छा तो स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट कहते हैं—

"In the Hindoostanee, as in other tongues, we might enumerate a great diversity of styles, but for brevity's sake I shall only notice three here, leaving their sub-divisions to be discussed along with the history of the language, which has been reserved for the second volume. Ist, The High court or persian style, 2nd, the middle or genuine Hindoostanee style, 3rd, the vulgar or Hinduwee.

In the more elevated poems of Souda, Wulee, Meerdurd, and others, and in the effected pompous, pedantic language of literature and politics, the first is predominant and leans to Arabic and Persian agreeable to circumstances.

The elegy of Miskeen, the satires of Souda, Hindoostanee Tales, and the Articles of War in the Oriental Linguist, the speech of well-bred Hindoostanee Monshees and servants are the best specimens I can recollect of the middle style while the 3rd or Hinduwee is evident in Mr. Fostor's unaffected translations of the Regulations of Government, in all or the greatest part of Hindoostanee composition written in the Nagree character, in the dialect of the lower order of servants and Hindoos, as well as among the peasantry of Hindoostan........ The Preference which I give the middle style over the others must appear in every page of my works, as it is in truth central regulator or tongue by which we perceive the ascending and descending scales on either side." (Appendix to Gilchrist's Dictionary).

डाक्टर गिलक्रिस्ट ने अभी अभी जो कुछ कहा है उसका

सारांश यह है कि वैसे तो सभी भाषाओं की भाँति हिंदुस्तानी की भी कई शैलियाँ हैं किंतु उनमें से तीन मुख्य हैं जिनमें से पहली तो दरबार और ऊँची उर्दू शाइरी की शैली है और दूसरी अच्छे मुंशियों और हल्की उर्दू शायरी की। रही तीसरी, सो उसके विषय में उक्त डाक्टर साहब का कहना है कि वह फूहड़ों और सरकार की उन कानून की पोथियों की भाषा है जिनकी रचना उस समय फोर्ट विलियम में हिंदी भाषा व 'नागरी अक्षर' में की गई थी। इनमें तो स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट ने जिस शैली को सदा प्रोत्साहन दिया वह मध्य की मुंशी शैली अर्थात् स्पष्टतः हल्की उर्दू थी।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि फोर्ट-विलियम-सरकार ने जिस जनवाणी और जिस जनलिपि का उपयोग अपने आईन के अनुवादों में किया था उसी लोक-वाणी और उसी लोक-लिपि की उपेक्षा उसी के फोर्ट-विलियम कालेज में उसी के डाक्टर गिलक्रिस्ट के कर-कमलों के द्वारा हुई और हिंदुस्तानी हिंदुस्थानी वा हिंदी न रहकर पक्की हिंदोस्तानी वा उर्दू बन गई। उसकी लिपि भी नागरी से फारसी हो गई। हाँ, इस प्रसंग में कभी भी भूलना न होगा कि फोर्ट-विलियम की सरकार के कागदों में कहीं भी 'हिंदुस्तानी भाषा' और 'फारसी अक्षर' का विधान नहीं है। अर्थात् डाक्टर गिलक्रिस्ट की हिंदुस्तानी कहीं भी नहीं है। वहाँ तो फारसी भाषा और फारसी अक्षर एवं हिंदी (हिंदुस्तानी एवं नागरी भी) भाषा और नागरी (कहीं-कहीं हिंदी भी) अक्षर का ही विधान है तात्पर्य यह कि वहाँ की जन-वाणी और यहाँ की जन-लिपि की उपेक्षा इसी फोर्ट-विलियम कालेज की उपज है जिसके उत्पादक स्वयं श्रीमान् डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब ही हैं।

डाक्टर गिलक्रिस्ट की देख-रेख में जो भाषा पनपी उसी को लक्ष्य कर सर सी० ई० ट्रेवेल्यन जो बाद में मद्रास के गवर्नर (१८५८-६० ई०) हो गये थे, सन् १८३४ ई० में लिखते हैं—

"The Arabian Hindoostanee, which has grown up at Calcutta under the fostering patronage of Government, and is spoken by the Moonshees of the College of Fort William, and the Mouluvees and students of the Mahomedan College, is quite a different language from that which prevails in any other part of India." (Application of the Roman Alphabet by M. Williams. M. A. Longman, London, 1869, p. 29)

सारांश यह कि अरबी हिंदुस्तानी जो कलकत्ता में सरकार के पालन-पोषण में बढ़ी और फोर्ट विलियम कालेज में मुंशियों में बरती गई और मोहेम्मेडन कालेज में मौलवियों और विद्यार्थियों में चलती रही हिंदुस्थान के किसी खंड की भी भाषा से सर्वथा भिन्न थी। अरबी हिंदुस्तानी जो ठहरी। स्मरण रहे डाक्टर गिलक्रिस्ट इसी के भक्त थे।

अच्छा, तो डाक्टर गिलक्रिस्ट की उक्त हिंदुस्तानी नीति का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि १९ वीं शती के मध्य में हिंदुस्तानी का अर्थ हिंदी नहीं केवल उर्दू हो गया और वह उर्दू के पर्याय में हिंदी के साथ द्वंद्व भाव से चलने लगा फलतः हिंदी और उर्दू के द्वंद्व ने हिंदी और हिंदुस्तानी के द्वंद्व का रूप धारण कर लिया। इस समय हिंदुस्तानी किस शैली का नाम था इसका यथार्थ बोध सर रिचर्ड टेंपुल के इस कथन से हो जाता है—

"The tongue of Moslems in India was wont largely to be Persian, but since the middle of the century (19th) it has become Hindoostanee, formerly called urdu, which is still the official language of the courts in the districts round Lahore, Delhi, Agra, Lucknow. Elsewhere the official language of the courts is the language of the region, that is to say, Bengali for Bengal, Oriya for Orissa. Hindi for Behar and Benares, Mahratti for Nagpore and the Central Deccan to Bombay, Gujerathi for the Western Coast, Telegu for the Southern Deccan and the Eastern Coast, Kanarese for the South, Western Coast, and Tamil for the Southern peninsula. Of these main Languages, all save the Hindoostanee and the Tamil are derived from Sanskrit." (Progres of India etc. in the Century, The nineteenth century Series W. & R. Chamlns, London, 1902. P. 181.)

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से सर रिचर्ड टेंपुल का यह कथन कि हिंदुस्तानी संस्कृत से नहीं निकलती है, खटक सकता है पर सोचिए तो सही उर्दू का संस्कृत से मूल वा प्रकृति के अतिरिक्त कोई और भी संबंध है ? स्मरण रहे, सर रिचर्ड टेंपुल कोई साधारण जीव न थे। वे ईस्ट इंडिया कंपनी के एक सामान्य कर्मचारी से बढ़कर बंबई प्रांत के गवर्नर (१८७७-८०) ;

गये थे और भारत के विषय में जो कुछ लिखते थे प्रमाण की दृष्टि से देखा जाता था। उनके कथन पर आपको विचार करना ही होगा और यह भी बताना ही होगा कि हिंदुस्तानी टाटबाहर क्यों है?

डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिंदुस्तानी किस प्रकार हिंदी से उर्दू हो गई यह तो प्रगट हो गया पर अभी यह देखने में नहीं आया कि फोर्ट विलियम की हिंदी, हिंदुस्तानी वा नागरी क्या हुई, अथवा स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट की फूहड़ वा 'हिंदुई' कहाँ गई। कहने की बात नहीं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने जिसे 'वल्गर' फूहड़ वा गवाँरी कहकर टाल दिया था वही देश की सच्ची भाषा हिंदुई वा हिंदी थी। उसी को भाषाविदों ने 'प्रकृति वा मूल भाषा माना और उसी के महत्त्व वा प्रतिष्ठा के लिये हिंदी का आंदोलन भी खड़ा हुआ। परंतु उस समय तक डाक्टर गिलक्रिस्ट की नीति इतना फल ला चुकी थी कि उसके सामने हिंदी का सफल होना असंभव था। फिर भी इस आंदोलन का प्रभाव इतना तो पड़ा ही कि उच्च हिंदी को भी हिंदुस्तानी का अंग मान लिया गया। प्रसंगवश यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि जहाँ 'हिंदुस्तानी' शब्द उर्दू का पर्याय हो गया वहीं सदा से 'हिंदुस्तानी' शब्द का वाचक रहा है। आज या कल से नहीं, प्रत्युत बहुत पहले से यह 'हिंदुस्तानी' शब्द 'हिंदी' के पर्याय के रूप में चला आ रहा है और बहुत से पुराने अंगरेजों के लेखों में पाया भी जाता है। परिणाम यह हुआ कि भाषाविदों ने भ्रमवश हिंदुस्तानी को तो देश-भाषा मान लिया और हिंदुस्थानी वा हिंदी को उसकी शैली का पद दिया। सरकार अथवा गिलक्रिस्ट की कृपा से कैसी उलटी गंगा बही! बात यह थी कि मुगल-शासन की अधीनता में काम करने के कारण अंगरेज बहादुरों को फारसी ही अत्यंत

प्रिय थी। निदान 'हिंदुस्तानी' का फारसी रूप ही सरकार को ग्राह्य हुआ। और भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में भी वही हिंदुस्तानी नाम चलता रहा और कांग्रेस ने भी उसी को अपनाया। परिणाम यह हुआ कि 'हिंदुस्तानी' शब्द के भीतर अनेक संकेत आ मिले और वह संदेह का कारण हो गया। आज स्थिति यह हो रही है कि इसी 'हिंदुस्तानी' को प्रमादवश राष्ट्रभाषा का नाम दिया जा रहा है—व्यवहार में इसका अर्थ निकलता है कि वास्तव में उर्दू ही राष्ट्रभाषा है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रयोग की वहुलता से हिंदुस्तानी उर्दू के पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध है और वह मूल हिंदुस्तानी अथवा ठेठ हिंदी से सर्वथा भिन्न है। हिंदी, हिंदुस्तानी एवं उर्दू की इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये डाक्टर सुनीतिकुमार जैसे अद्वितीय भाषाशास्त्री ने लिखा है—

"Hindi is the oldest and simplest names for the current speech of Northern India (from the East of the Panjab to Bengal) after the Turkey conquest in the 12th-13th centuries, and I use it in its old connotation which is still present among the masses. Hindustani is a much later, and a more cumbrous formation as a pure Persian work, it has largely come to mean something synonymous with the Mohammedan form of the Hindi speech, namely, urdu, with its superabundance of Persian and Perso-Arabic words to the restriction and exclusion of the native Hindi and Sanskrit

elements. Some students of Indian Linguistics, and political and social workers of the Indian National Congreess and other organisations, have sought to employ this Persian word Hindoostanee in a wider sense, to mean the basic speech underlying both High-Hindi (Nagari-Hindi) and Urdu, but in spite of their efforts, most Englishmen and other forigners and a good many Indian Musalmans still continue to look upon the two terms Hindustani and Urdu to mean the same style of the Hindi Language, written in the Persian script and preferring a Perso-Arabic vocabulary." (Indo-Aryan and Hindi, Gujrat Vernacular society Ahmedabad—1942, P. 131.)

डाक्टर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने थोड़े में स्थिति स्पष्ट कर दी और यह भी भलीभाँति बता दिया कि हिंदुस्तानी लाख प्रयत्न करने पर भी उर्दू ही का साथ दे रही है। उन्होंने यह भी सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि उन्हें परंपरागत हिंदी शब्द ही क्यों प्रिय है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही कह संतोष करना चाहते हैं कि हिंदी जैसे प्यारे, सारगर्भित और निर्दोष शब्द को छोड़कर कलहप्रिय आधुनिक हिंदुस्तानी शब्द को ग्रहण करना बुद्धिमत्ता नहीं, विद्या नहीं, विवेक नहीं और चाहे जो कुछ हो।

हाँ, तो उक्त चाटुर्ज्या महोदय का यह भी कहना है कि कांग्रेस जो ठेठ हिंदुस्तानी भाषा के आधार पर हिंदू-मुसलिम-समझौता

की दृष्टि से फारसी-अरबी के विदेशी शब्दों एवं देशी तथा संस्कृत शब्दों के समयोग से एक नई भाषा वा शैली का निर्माण कर उसे हिंदुस्तानी के नाम से चालू करना चाहती है वह व्यवहार में ऐसी फारसीमयी हिंदुस्तानी हो जाती है जिसे बंगाली, महाराष्ट्री, गुजराती, आंध्र, द्राविड़, उड़िया आदि नहीं समझ पाते और जिसे विहार, युक्तप्रांत, राजस्थान, मध्यप्रांत की जनता भी अपनी भाषा नहीं समझती। हाँ, उक्त प्रांतों की मुसलिम-मंडली तथा पंजाब और पश्चिमी युक्तप्रांत के कुछ पढ़े-लिखे हिंदू और सिख उसे अवश्य समझ लेते हैं। तात्पर्य यह कि राष्ट्र की दृष्टि से उसे कोई विशेष महत्त्व नहीं मिल सकता। समूचे देश के विचार से हिंदुस्थानी अर्थात् हिंदी भाषा और नागरी लिपि का ही स्वागत होगा क्योंकि इन्हीं से अन्य प्रांतों की एकता सिद्ध होती है। अच्छा, तो उनका मूल कथन है –

"The Congress is now proposing to create, out of the common Khari-Boli or Theth basis of Hindusthani, which forms the bedrock on which both Literary High - Hindi and Urdu stand, a New Speech or New Literary style, with the avowed intention of holding a just and proper balance between the foreign Persian and Arabic words in sisted on by the Musalman leaders and the native Hindi and Sanskrit words insisted upon by Hindus of the Hindusthani area and of the rest of the country. In practice, this amounting to persianised Hindusthani,

which Gujratis, Bengalis, marathas, Oriyas and the people of the South do not understand (and yet they are required to adopt this form of Hindusthani as the 'National Language' of India), and with which the masses in Bihar and U. P. Rajputana and Central India, and the Central Provinces, do not wholly feel at home, accustomed as they are to a Sanskritic vocabulary. Only the Musalman elite of the U. P., Bihar, Hindi-speaking Central Provinces and the Punjab, and a good many educated Hindus and Sikhs of Western U. P. and Punjab, may find this language convenient.

"It should be understood clearly that the attraction for Hindu Hindusthani which peoples of Eastern U. P, Bihar, Nepal, Bengal, Assam, Orrisa, Andhra, Tamil-Nadu, Karnata, Kerala, Maharashtra, Gujarat and Rajasthana feel depends, primarily on two things—its Devanagari Script, and its Sanskrit Vocabulary"" (do. P. 222)

अस्तु, हिंदुस्तानी के बारे में अब तक जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि उसका मूल रूप और उसका मूल अर्थ चाहे जो कुछ रहा हो पर गत डेढ़ सौ वर्षों से उसका व्यवहार प्रायः हल्की उर्दू के अर्थ में ही होता आ रहा है और फलतः आज भी जब कभी हिंदी अथवा ठेठ हिंदुस्तानी को छोड़कर किसी

हिंदुस्तानी की चिंता की जाती है तब वह तुरंत अरबी-फारसी की ओर दौड़ जाती है और उस मुंशी-शैली के रूप में सामने आती है जिसका प्रचलन फोर्ट-विलियम कालेज में डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब की कृपा से किया गया था जिसका प्रचार तभी से सरकार द्वारा हो रहा है। निदान विवश हो हमें यह कहना पड़ता है कि यदि सचमुच हम राष्ट्रभाषा की खोज में हैं तो हमें उसी हिंदी वा नागरी वा हिंदुस्तानी को अपनाना चाहिए जो देवनागरी-लिपि में लिखी जाती और देश की सभी देशभाषाओं की भाँति समय पड़ने पर संस्कृत से सहायता लेती है, कुछ उस हिंदुस्तानी को नहीं जो जन्मी तो हिंदुस्थान में ही पर हिंदुस्थान से उसकी कोई ममता नहीं रही—उसकी देशभाषाओं से उसे प्रेम नहीं, उसकी परंपरागत राष्ट्रभाषा से उसका संबंध नहीं - और जो लिखी तो जाती फारसी-लिपि में है और सदा लपकती रहती है अरबी फारसी की ओर ही। हम उर्दू के विरोधी नहीं, पर कभी उसे राष्ट्रभाषा का पर्याय मानने से रहे। इतिहास पुकार कर कह रहा है कि वह दरबार की शैली है, फारसी की जगह दरबार में फैली और दरबार के साथ ही इधर-उधर बढ़ती रही। दरबार चाहे तो आज भी उसका सत्कार कर सकता है और फारसी की भाँति उसे भी पाठ्यक्रम का अंग बना सकता है; पर एक काव्य भाषा के रूप में हाँ, किसी राष्ट्रभाषा के रूप में कदापि नहीं। भारत की राष्ट्रभाषा तो नागरी थी, है, और वही रहेगी भी। चार दिन के लिये चाहे जिस किसी की चाँदनी हो, पर सदा की चाँदनी तो उसी की है।

हाँ, दिल्ली के तबलीगी नेता ख्वाजा हसन निजामी ने ठीक ही कहा है कि—

यह हिंदी ज़बान ममालिक मुत्तहदा अवध और रुहेलखंड (युक्तप्रांत) और सूबा बिहार और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अकसर देशी रियासतों में मुरव्वज (प्रचलित) है। गोया बंगाली और बरमी और गुजराती और मरहठी बगैरा हिंदुस्तानी ज़बानों से ज्यादा रिवाज हिंदी यानी नागरी ज़बान का है। करोड़ों हिंदू औरत मर्द अब भी यही ज़बान पढ़ते हैं और यही ज़बान लिखते हैं, यहाँ तक कि तक़रीबन् एक करोड़ मुसलमान भी जो सूबा यू० पी० और सूबा सी० पी० और सूबा बिहार के देहात में रहते हैं या हिंदुओं की रियासतों में बतौर रिआया के आबाद हैं और उनको हिंदू-रियासतों के खास हुक्म के सबब से हिंदी ज़बान लाजमी तौर से हासिल करनी पड़ती है, हिंदी के सिवा और कोई ज़बान नहीं जानते। (कुरान मजीद की भूमिका हिंदी अनुवाद, सन् १९२६ ई०)

ख्वाजा हसन निज़ामी जैसे मजहबी नेता ने स्पष्ट शब्दों में मान लिया है कि उत्तर भारत अथवा ठेठ हिंदुस्तान की बोल-चाल और बात-व्यवहार की भाषा 'हिंदी वा नागरी ही है। परंतु इसी को एक दूसरे मुसलिम विद्वान् अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी साहब भी इस रूप में कहते हैं—

हमारे बुजुर्गों ने इस ज़बान को दो क़िस्मों में तक़सीम किया था। एक का नाम 'रेखता' जो ग़ज़ल की ज़बान थी और दूसरे का नाम 'हिंदी' बताया था जो आम बोलचाल की ज़बान थी। 'हिंदी' का लफ़्ज़ छिन गया। अब जो कुछ हम चाहते हैं वह यह है कि आप इसके पुराने नाम 'हिंदी' की जगह इसके दूसरे पुराने नाम हिंदुस्तानी' को रवाज दीजिये, ख्वाह अपनी ग़ज़लों का नाम रेखता की जगह उर्दू ही रखिए। इसमें कोई हर्ज नहीं, मगर अपनी इल्मी, तालीमी वतनी और सियासी तहरीक़ात में आम तौर से इसको हिंदुस्तानी के सही

नाम से याद करके साबित कीजिए कि यह पूरे मुल्क हिंदुस्तान की ज़बान है और इसका यही नाम इसके पूरे मुल्क की ज़बान होने की दलील है। (नुक़ूशे सुलैमानी, दारुलमुसन्नफ़ीन, आज़मगढ़, पृ० १९१)

'इंडिया मुसलिम एजुकेशनल कांफ्रेंस' की अलीगढ़ की इजलास (सन् १९३७ ई०) में अल्लामा सैयद सुलैमान साहब ने जो कान भरा वह यह है—

"लेकिन हम अपने बदगुमान दोस्तों को बावर (सचेत) करना चाहते हैं कि यह ल.फ्ज 'हिंदुस्तानी' मुसलमानों के इसरार (आग्रह) से और मुसलमानों की तिफ्लतसल्ली (फुसलावे) के लिये रखा गया है और इससे मुराद हमारी वही ज़बान है जो हमारी आम बोलचाल में है। हमको जो कुछ शिकायत है वह यह है कि हिंदी और हिंदुस्तानी को हममानी और मुरादिफ (पर्याय) क्यों ठहराया गया है।' (वही, पृ० १०९)

यदि बात यहीं तक रहती तो कोई बात न थी; पर घोषणा तो यहाँ तक हो चुकी है कि—

"यह समझना भी दुरुस्त नहीं कि इस तजवीज़ को पेश करनेवालों का यह मकसद (उद्देश्य) है कि हम अपनी ज़बान में कोई ऐसी तबदीली कर लें जिनमें वह 'हिंदी' या हिंदी के क़रीब बन जाय। हाशा व कल्ला (कदापि) इस क़िस्म की कोई बात नहीं है, बल्कि बेऐनही (वस्तुतः) इसी उर्दू, इसी ज़बान, इसी बोलचाल को जो हम बोलते हैं हम हिंदुस्तानी कहते हैं।" (वही)

अस्तु, मुसलमान चाहें तो उर्दू को 'अपनी ज़बान के रूप में पढ़ें पर राष्ट्रभाषा तो वह होने से रही। आज भी लगभग एक

करोड़ मुसलमान तो नागरी ही जानते हैं, फिर उर्दू के लिये इतना आग्रह क्यों ? याद रहे हिंदुस्तानी का नकली नाम भी उसके लिये अधिक दिन तक नहीं चल सकता। राष्ट्रभाषा के रूप में तो हिंदी का ही सदा स्वागत होता रहा है और फलतः होना भी चाहिए। यही विद्या है, यही विवेक है। वैसे आपकी इच्छा।

७—हिंदी-हिंदुस्तानी का उदय

हिंदी-साहित्य-संमेलन के प्राण और राष्ट्र के कर्मठ नेता श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टंडनजी ने कुछ दिन हुए 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' के संबंध में हिंदी-साहित्य संमेलन की नीति' नाम का जो वक्तव्य निकाला है उससे इस विनीत का भी कुछ संबंध है, अतएव इस विषय में उसका मौन रह जाना कुछ अनर्थ का ही कारण समझा जायगा, 'आज्ञागुरूणामविचारणीया' का परिचायक नहीं। निदान विवश हो, संक्षेप में, उत्तर, समाधान अथवा प्रतिवाद न कर थोड़े में उस स्थिति को स्पष्ट कर देना है जिसके कारण हिंदी-साहित्य-संमेलन का नाता हिंदुस्तानी से जुड़ गया है और विनीत लेखक ने लिख दिया है—

'हिंदी साहित्य-संमेलन की नागपुर की बैठक में एक अद्भुत बात यह निकल आई कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी या हिंदुस्तानी न रहकर 'हिंदी हिंदुस्तानी' हो गया और इसने धीरे धीरे फिर हिंदी उर्दू प्रश्न को उभार दिया। 'हिदी-हिंदुस्तानी' का नामकरण यद्यपि नवीन न था तथापि उसके प्रयोग में आ जाने से संप्रदाय विशेष में बड़ी खलबली मची और इस बात की भरपूर चेष्टा की गई कि 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का रहस्य खोल दिया जाय। सच पूछिए तो 'हिंदी हिंदुस्तानी' कोई भेदभरी बात नहीं है बल्कि उलझन से बचने का एक सहज उपाय है। इस उपाय को अमोघ अस्त्र समझना भारी भूल है।"

(भाषा का प्रश्न, ना० प्र० सभा, पृ० ६३)

इसमें तो संदेह नहीं कि प्रकृत पंक्तियों में कहीं 'संमेलन' की भर्त्सना नहीं है। हाँ, उसकी किसी 'बैठक' का उल्लेख अवश्य है। श्रद्धेय टंडनजी का यह कहना अक्षरशः सत्य है कि 'संमेलन' के किसी 'अधिवेशन' ने 'हिंदी-हिंदुस्तानी' को राष्ट्रभाषा का पर्याय घोषित नहीं किया किंतु उनका यह बताना कि 'संमेलन का उससे कोई नाता नहीं' ठीक नहीं। यदि विश्वास न हो तो उसी 'हिंदी-साहित्य-संमेलन' के मद्रासवाले अधिवेशन में आ जाइये। आपके सामने खुले अधिवेशन में पास होता है कि—

'यह संमेलन गवर्नमेंट आफ इंडिया कानून की भाषा संबंधी नीति का विरोध करता है। संमेलन इस बात पर जोर देता है कि केंद्रीय व्यवस्थापक सभा का कार्य हिंदी हिंदुस्तानी में तथा प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं कार्य प्रांतीय भाषाओं में हुआ करे।

हिंदी-साहित्य-संमेलन के मद्रास के इस छठे प्रस्ताव की 'हिंदी हिंदुस्तानी' को अच्छी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसके आठवें प्रस्ताव को भी सामने रख लें और फिर प्रत्यक्ष देख लें कि 'हिंदी-साहित्य-संमेलन' किस प्रकार और कहाँ तक स्वय 'हिंदी-हिंदुस्तानी' को अपना रहा है और साथ ही 'केंद्रीय व्यवस्थापक सभा' एवं 'अखिल भारतीय समिति और कार्यसमिति' को भी इसके लिये निमंत्रण देता है। 'व्यवस्थापक सभा' का प्रस्ताव पहले आ चुका है। अब कांग्रेस संबंधी प्रस्ताव को लीजिए—

यह संमेलन कांग्रेस की कार्यसमिति से अनुरोध करता है कि वह ऐसा निश्चय करे कि भविष्य में कांग्रेस की और उसकी अखिल भारतीय समिति और कार्यसमिति की कार्रवाई में अंग्रेजी भाषा का उपयोग

नहीं किया जायगा और उसके बदले में हिंदी यानी हिंदुस्तानी भाषा का उपयोग किया जायगा और उसके बदले में हिंदुस्तानी ही इस्तेमाल की जायगी। लेकिन जो मेंबर हिंदी यानी हिंदुस्तानी में अपना मतलब पूरी तरह से नहीं समझा सकेगा वह अंग्रेजी भाषा का उपयोग कर सकेगा।

यह कहना ज़रूरी नहीं है कि जो मेंबर हिंदी हिंदुस्तानी न जानने के कारण अपनी प्रांतीय भाषा में बोलना चाहे उसे कोई प्रतिबंध नहीं है। और संमेलन की राय है कि ऐसी हालत में आवश्यकता होने पर अनुवादक रखे जायँ। यदि किसी को अंग्रेजी में समझाने की आवश्यकता पैदा हो तो प्रमुख की संमति से कोई भी सदस्य अंग्रेजी का उपयोग कर सकेगा।

अस्तु, कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारा हिंदी अभिमानी हिंदी-साहित्य-संमेलन 'संस्कृताभासी' हिंदी के पक्षपाती मद्रास प्रांत में पहुँचकर अपने खुले अधिवेशन में 'हिंदी' की उपेक्षा कर उसी हिंदी-हिंदुस्तानी' को अपनाता है जिसके निराकरण के लिये आज उसके प्राण श्रद्धेय टंडन जी तत्पर हैं। और अपनाता ही क्यों? वह तो कांग्रेस से लेकर 'केंद्रीय व्यवस्थापक सभा' तक उसका प्रसार चाहता है। फिर आज हिंदी-साहित्य-संमेलन को 'हिंदी-हिंदुस्तानी' से परहेज क्यों? हमें तो आश्चर्य यह देखकर होता है कि हिंदी के लिये प्राण निछावर करने वाले हमारे टंडन जी भी उस अधिवेशन में इसी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का प्रयोग कर जाते हैं। कहते हैं—

हमारी हिंदी हिंदुस्तानी, में सांप्रदायिकता नहीं मुसलमानों ने हिंदी साहित्य में बहुत काम किया है। (श्रीटंडन जी का पृ० ३)

पूछिए तो अब कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं रही, हिंदी-साहित्य-संमेलन का सच्चा रूप इतने ही से अच्छी तरह सामने आ गया, पर हमें भूत की चर्चा से भविष्य में लाभ उठाना है। हिंदी-साहित्य-संमेलन की आज की नीति से हिंदी को और भी आगे बढ़ाना है। अतएव यहाँ इस संमेलनी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' के इतिहास पर भी विचार कर लेना चाहिए।

अच्छा तो इस संमेलनी हिंदी-हिंदुस्तानी का मूल स्रोत कहाँ है? संभवतः आप भी श्री टंडन जी के साथ यही कहेंगे कि भारतीय साहित्य-परिषद् के प्रथम अधिवेशन में। हाँ, ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी साहित्य संमेलन ने नागपुर के अपने निजी अधिवेशन में कोई भी हिंदी हिंदुस्तानी नाम का खुला प्रस्ताव पास नहीं किया। उसके किसी प्रस्ताव में हिंदी-हिंदुस्तानी का व्यवहार हुआ अथवा नहीं, यह हम कुछ भी नहीं कह सकते। कारण, हमारे पास प्रस्तावों की सूची अथवा उक्त अधिवेशन का कोई विवरण नहीं। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह काशी में (नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में भी) नहीं मिल सका। पर इतना अवश्य है कि उक्त अधिवेशन का लगाव कुछ न कुछ उक्त परिषद् से भी अवश्य था। क्या लगाव था, यह अभी खुल जाता है। भारतीय साहित्य परिषद् के मुखपत्र हंस की वाणी पर ध्यान दीजिये। उसमें से कितनी ठोस ध्वनि निकलती है—

भारतीय सा० परिषद् के कार्य को चलाने के लिये हिं० सा० संमेलन ने एक समिति चुनी है। इसके सभापति महात्माजी हैं, लेकिन उप-सभापति राजेन्द्र प्रसादजी ही उसका सारा काम करेंगे। यदि महज जरूरत हुई, तो महात्माजी को किसी खास बात को हल करने के लिये

तकलीफ़ दी जायगी, इस तरह का निश्चय हुआ। इस परिषद् के मंत्री कन्हैयालाल मुंशी और काका साहब कालेलकर चुने गए। परिषद् का कार्यालय वर्धा में रखना तय हुआ।"

(हंस, मई सन् १९३६ ई०, पृ० ६१५)

प्रसंगवश यहाँ इतना और जान लीजिए कि महात्मा गांधी जी इंदौर के अधिवेशन के सभापति थे और राजेन्द्रप्रसादजी इस नागपुर अधिवेशन के। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि इसी हिंदी-साहित्य-संमेलन ने जिसके पास आज भारतीय साहित्य परिषद् का कोई लेखा नहीं, उसी नागपुर के खुले अधिवेशन में प्रस्ताव किया था —

'अपने पिछले (इंदौर के) अधिवेशन में संमेलन ने जो समिति देश की भाषाओं के साहित्यिकों के साथ संबंध स्थापित करने के लिए बनाई थी, उसके संयोजक कन्हैयालाल मुंशी की रिपोर्ट को सुनकर यह संमेलन समिति के कार्य पर बधाई देता है और उसके उद्योग द्वारा स्थापित 'हंस' मासिक के नवीन क्रम तथा भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना का स्वागत करता है। यह संमेलन भारतीय साहित्य परिषद् के मंतव्यानुसार इन नीचे लिखे हुए सात व्यक्तियों को परिषद् की बनाई हुई, संस्थापित समिति के लिये नामजद करता है—

१ पुरुषोत्तमदासजी टंडन, २ प्रेमचन्द्रजी, ३ पं० रामनरेशजी-त्रिपाठी, ४ देव शर्मा 'अभय', ५ ब्रिजलालजी बियानी, ६ पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी और ७ पं० जयचन्द्रजी विद्यालंकार।

साथ ही उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त बाबू राजेंद्रप्रसादजी, कन्हैयालाल मुंशी, काका कालेलकर और हरिहर शर्मा की एक समिति नियुक्त करता है, जिसका कर्तव्य होगा कि भारतीय साहित्य-परिषद् के कार्य के संबंध में संमेलन की ओर से ध्यान और सहयोग देता रहे,

और समय समय पर स्थायी समिति को परिषद् के संबंध में सूचना देता रहे, तथा संमेलन के अगले अधिवेशन के पहले उस विषय में रिपोर्ट उपस्थित करे। इस समिति के संयोजक काका कालेलकर होंगे।"

उस समिति के संयोजक काका कालेलकर ने क्या किया, यह तो एक प्रकार से प्रकृत प्रसंग के बाहर की बात हुई। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि हिंदी-साहित्य-संमेलन भारतीय-साहित्य परिषद् पर अपनी देखरेख रखना चाहता है। किसी प्रकार उससे तटस्थ रहना नहीं चाहता। यही क्यों ? इसी का तो यह परिणाम है कि संमेलन के अगले अधिवेशन (मद्रास) में हिंदी की जगह प्रस्तावों में हिंदी-हिंदुस्तानी का व्यवहार होता है और उसे राष्ट्र-भाषा का पर्याय समझा जाता है। फिर यह कहना कि भारतीय-साहित्य-परिषद् का संमेलन से कोई संबन्ध नहीं कहाँ तक न्यायसंगत है, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। हमें यहाँ तो केवल इतना और निवेदन कर देना है कि इस भारतीय-साहित्य-परिषद् के सभापति महात्मा गांधी का भी कहना यही है—

खत भेजने वाले सज्जन पूछ सकते हैं कि हिंदी या हिंदुस्तानी का हठ छोड़कर सीधा सादा हिंदुस्तानी शब्द क्यों नहीं काम में लाया जाता ? मेरे पास इसके लिये सीधीसादी एक ही दलील है। वह यह है कि मेरे सरीखे नये व्यक्ति के लिये २५ बरस की पुरानी संस्था को अपना नाम बदलने के लिये कहना गुस्ताखी होगी, फिर तब जब कि उसका नाम बदलने की ऐसी कोई जरूरत भी साबित नहीं की गई है। नई परिषद् पुरानी संस्था की ही उपज है।

(हंस, जुलाई सन् १९३६ ई०, पृ० ९८)

एक बात और। यदि विचार से देखा जाय तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य-परिषद् के सभापति महात्मा गांधी; उस समय तक हिंदी-साहित्य-संमेलन के भी सभापति थे। उनकी जगह देशरत्न राजेंद्रबाबू को नहीं मिली और दूसरे दिन काम चलाने के लिये राष्ट्रपति जवाहरलाल परिषद् के सभापति बने। इसका प्रधान कारण चाहे जो रहा हो। पर इतना तो निर्विवाद है कि फिर परिषद् के उपसभापति वही साहित्य-संमेलन के सभापति राजेन्द्रबाबू हो जाते हैं और पं॰ जवाहरलाल नेहरू सदस्य मात्र हो जाते हैं। निदान, हमें विवश हो मानना पड़ता है कि भारतीय-साहित्य-परिषद् का हिंदी-साहित्य-संमेलन से गहरा लगाव था। उसको संमेलन से बिल्कुल अलग दिखा देना असंभव है। ठीक वैसा ही तो नहीं, पर बहुत कुछ उसी ढंग का लगाव संमेलन और परिषद् में रहा जैसा आज संमेलन और उसी की राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का है। एक ओर आप संमेलन की प्रचारसमिति को रखिए और दूसरी ओर राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति को तो आप को प्रत्यक्ष दिखाई देगा कि यही संबंध साहित्यपरिषद् और भारतीय-साहित्य-परिषद् में भी बहुत कुछ काम कर रहा था। अस्तु, महात्मा गांधी का यह कहना कि भारतीय-साहित्य-परिषद् के लिये हिंदी शब्द का बहिष्कार करना इसलिये अनुचित है कि यह वस्तुतः उसी का बच्चा है, अक्षरशः ठीक है।

भारतीय-साहित्य-परिषद् में हिंदी-हिंदुस्तानी का प्रस्ताव तो पास हुआ किंतु हिंदी-हिंदुस्तानी की खान कहीं और ही है। हम देखते हैं कि परिषद् के स्वागताध्यक्ष काका कालेलकर जी अपने अभिभाषण में बारबार इसी हिंदी-हिंदुस्तानी का प्रयोग करते हैं। उनका कहना है—

जिन्होंने इस प्रवृत्ति का आरंभ किया है वह इस निश्चय पर आ

गए हैं कि राष्ट्रभाषा हिंदी-हिंदुस्तानी में ही हमारा सारा व्यवहार चलेगा। और—

जब हिंदी-हिंदुस्तानी में हमारा अंतर्प्रांतीय व्यवहार चलेगा तब हमें सब प्रांतों के लिए सुलभ राष्ट्रभाषा का सर्वसाधारण स्वरूप भी गढ़ना होगा।

अंत में आपका अनुरोध है कि—

अगर इस संगठन को सफल बनाना है, तो आप कृपया अपनी हिंदी या हिंदुस्तानी हमारे लिये जिस तरह हो आसान कीजिये। हम संस्कृत का पक्ष नहीं लेते बल्कि हिंदी-हिंदुस्तानी की विफलता टालना चाहते हैं। (हंस, मई सन् १९३६ ई०, पृ० ६६-७)

स्वागताध्यक्ष ही नहीं परिषद् के सभापति महात्मा गांधी जी भी इसी हिंदी-हिंदुस्तानी की गोहार लगाते हैं। आप कहते हैं—

मुंशीजी और काका साहब ने हमारा मार्ग एक हद तक साफ कर रखा है। व्यापक साहित्य का प्रचार व्यापक भाषा में ही हो सकता है। ऐसी भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा हिंदी-हिंदुस्तानी ही है। हिंदी-को हिंदुस्तानी कहने का मतलब यह है कि उस भाषा में फारसी मुहावरे के शब्दों का त्याग न किया जावे।

(महात्मा गांधी का अभिभाषण, वही, पृ० ७२)

प्रश्न उठता है कि यह हिंदुस्तानी कहाँ से आ गई कि परिषद् के स्वागताध्यक्ष और सभापति दोनों ही इसी पर लट्टू हो रहे हैं, तो इसके संबंध में उर्दू के विधाता मौलवी अब्दुल हक का कहना है कि—

२९ मार्च को संमेलन के (मद्रास के) दूसरे दिन के इजलास में महात्मा गांधी ने इसकी तशरीह की कि वह हिंदी या हिंदुस्तानी

या उर्दू के बजाय हिंदी हिंदुस्तानी का लफ़्ज़ क्यों इस्तेमाल करते हैं। उन्होंने कहा कि यह सवाल सब से पहले १९१८ ई० में उठाया गया था और इंदौर की सदारत के वक्त उन्होंने मिस्टर पुरुषोत्तमदास ठंडन से जो दरअस्ल संमेलन के बानी-मुबानी हैं, इसकी तशरीह भी कर दी थी। (उर्दू, अप्रैल सन् १९३७ ई०, पृ० ४२६)

अस्तु, हिंदी-साहित्य-संमेलन के इंदौर के अधिवेशन में जो हिंदी-हिंदुस्तानी की बात हुई उसी का यह नतीजा है कि नागपुर में उसकी धूम मची है और मद्रास में तो उसी का बोल बाला हो गया है, और हिंदी साहित्य-संमेलन के प्रस्तावों में भी ठाट से उसका प्रयोग हो रहा है।

हाँ, तो इंदौर में भी महात्मा गांधी की व्याख्या काम कर गई। वहाँ राष्ट्रभाषा की जो परिभाषा की गई वह वस्तुतः हिंदुस्तानी कही जाने वाली चीज की परिभाषा थी, कुछ राष्ट्रभाषा अथवा सरल बात व्यवहार की बोल चाल की चलित हिंदी की नहीं। क्योंकि उसमें साफ कहा गया कि जो नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती हो।

(संमेलन की शिमला में स्वीकृत नियमावली, पृ० २)

हिंदी-साहित्य-संमेलन की नियमावली किस प्रकार हिंदी-हिंदुस्तानी का पोषण कर रही है, उसकी चर्चा हम फिर करेंगे। यहाँ केवल इतना और जान लीजिए कि संमेलन की इस राष्ट्रभाषा की परिभाषा से महात्मा गांधी का गहरा लगाव है। महात्मा गांधी की हिंदी-हिंदुस्तानी की व्याख्या यह है—

जिस भाषा को आम तौर पर उत्तर भारत के हिंदू और मुसलमान

बोलते हैं। वह भाषा हिंदी या हिंदुस्तानी है, चाहे वह देवनागरी अक्षरों में लिखी जाय, चाहे उर्दू खत में।

(हंस, जुलाई सन् १९३९ ई०, पृ० १०३)

साहस तो नहीं होता, पर कहना यही है कि संमेलन की परिभाषा महात्मा गांधी की व्याख्या से भी कहीं आगे बढ़ गई है। महात्मा गांधी ने 'चाहे' शब्द का प्रयोग कर लिपि को गौण ठहरा दिया है तो संमेलन ने 'लिखी जाती हो' का विधान कर भाषा को लिपियों में जकड़ दिया है। 'नागरी लिपि' और 'उर्दू खत' की योग्यता को तुल्य बनाकर संमेलन ने 'टका सेर मूली टका सेर खाजा' को चरितार्थ कर दिया है। पता नहीं, कैथी, वा रोमी लिपि में लिखी हिंदी या हिंदुस्तानी राष्ट्रभाषा हो सकती है अथवा नहीं। संमेलन और महात्मा गांधी की परिभाषा तो इसके प्रतिकूल है।

जो हो इतना तो निर्विवाद है कि हिंदी-साहित्य-संमेलन ने परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में हिंदी-हिंदुस्तानी को महत्त्व दिया है और अंत में मद्रास में जाकर उसे अपना भी लिया है। निदान, श्रद्धेय टंडन जी का नियमावली की दुहाई दे स्थिति को उलझा देना ठीक नहीं। जान पड़ता है कि संमेलन के कागदपत्रों की जांच ठीक से नहीं हुई और सच्ची सामग्री श्री टंडन जी के सामने न आ सकी। नहीं तो इस प्रकार की धांधली न मचती। संक्षेप में, हमें निवेदन यह कर देना है कि हमने किसी प्रमाद या भ्रम में आकर हिंदी-साहित्य-संमेलन का उल्लेख नहीं किया है बल्कि सोच समझकर खूब छानबीन कर ही हिंदी-साहित्य-संमेलन की नागपुर की बैठक का निर्देश किया है और दावे के साथ स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही 'एक अद्‌भुत बात निकल आई

और राष्ट्रभाषा का…नाम हिंदी हिंदुस्तानी हो गया' का प्रयोग किया है। हाँ, 'अधिवेशन' की जगह 'बैठक' का प्रयोग जान बूझ कर किया गया है। 'निकल आई' और 'हो गया' में यह भाव भरा गया है कि यह घटना परिस्थिति के कारण घटी है कुछ संमेलन की कर्मशीलता और प्रस्ताव के द्वारा नहीं। आशा है, संमेलन अब जिस बात को अनुचित समझता है उससे मुक्त हो जाने का प्रयत्न अगले (पूना में होने वाले) अधिवेशन में करेगा और खुले अधिवेशन में खुलकर हिंदी का प्रतिपादन करेगा, किसी हिंदी-हिंदुस्तानी का समर्थन कदापि नहीं।

———

८—हिंदुस्तानी की चौथी पोथी

युक्तप्रांत की बिसखोपड़ी रीडरों से यदि होनहार बच्चों को बचाने का प्रयत्न न किया गया तो 'स्वराज्य का स्वप्न देखना तो दूर रहा' कहीं 'स्व' भी देखने को नसीब न होगा। उधर उर्दू के समझदार आचार्य तो इस चिंता में लगे हैं कि उर्दू को स्वदेशी बनाने के लिए बाध्य करें और इधर 'हिंदुस्तानी' के विधाता इस फेर में पड़े हैं कि हिंदी को अहिंदी कर उसे उर्दू से कुछ और भी आगे बढ़ा दें जिस से उर्दू परस्त परदेशी अपने आपको स्वदेशी समझ लें। परिणाम यह हुआ है कि युक्तप्रांत की रीडरों में हिंदी छंदों का 'बायकाट' कर दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया गया है कि उर्दू भाषा ही नहीं उर्दू शायरी भी घर घर छा गई है। मुई हिंदी तो अब काशी के पंडितों अथवा सम्पूर्णानंदी† लोगों के मुँह क्या पोथों में रह गई है जो केवल चिढ़ाने के लिए बाहर निकाली जाती है। नहीं तो आम जनता की भाषा तो भूल गया, जबान तो उर्दू है—वह उर्दू जिस में हिंदी छंद का नाम नहीं। परंतु हिंदी को प्रसन्न करने और अपने को सच्ची हिंदुस्तानी सिद्ध करने के लिए कुछ हिंदी भी तो जरूरी है? लीजिए वह आपके सामने है। आप ही न्याय की नजर से देख

---

† बाबू संपूर्णानंदजी हिंदी में प्रचलित विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं चाहते पर साथ ही प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी उचित समझते हैं। यह दूसरी बात उर्दू-भक्तों को सह्य नहीं है इसलिए जो हिंदी शत प्रतिशत विदेशी शब्दों से युक्त नहीं है उसे वे कभी कभी 'संपूर्णानंदी' हिंदी के नाम से पुकारते हैं।

कर इंसाफ़ करें कि 'हिंदुस्तानी की चौथी पोथी' में अहिंदियत कहाँ है ? 'किताब की जगह 'पोथी' तक लिख दिया, फिर भी आप उसे पूजा की दृष्टि से नहीं देखते !

ठीक है। पर जरा हमें कुछ दूर तक देखने की आदत पड़ गई है और स्वभावतः हम भीतरी बातों पर विशेष ध्यान देते हैं। राग को रंग से अधिक महत्त्व देते हैं।

याद रहे हिंदुस्तानी के पुजारी हिंदुस्तानी पर किसी दूसरी भाषा का अनुशासन नहीं चाहते और उन्हीं विदेशी शब्दों को अपनाते हैं जिन्हें जनता ने अपना लिया हो। अब तनिक ध्यान से देखिए तो सही कि 'जरासीम' किस भाषा का शब्द है और किस प्रकार बच्चों की बोली में आ गया है। देखिए 'बीमारी के जरासीम आदमियों में पहुँच जाते हैं—(पृ० ३६)' और आपके बच्चे चट 'जरासीम' का अर्थ समझ जाते हैं। पर यह 'जरासीम' है क्या बला ? उत्तर के लिए व्यग्र न हों। देखें—

बीमारी के हजारों कीड़े जिनको जरासीम कहते हैं मक्खी की टाँगों से चिपट जाते हैं। (पृ० १३६)

अंगरेजी आपकी राजभाषा है। 'जरासीम' 'जर्म्स' का अरबी रूप है। अरबों को इस बीमारी का पता नहीं, पर 'जरासीम' उनको इसका मालिक बना देता है। पर क्या स्वयं अरब इसका अर्थ जानते हैं ? नहीं। यह तो हिंदुस्तानी बच्चों के लिए हिंदुस्तानी ईजाद है। हिंदुस्तान की जबान अरबी नहीं तो और क्या हो सकती है ? हिंद महासागर से अरब का लगाव है, न कि इंगलैंड का। यही कारण है कि अंगरेजी की जगह हिंदुस्तानी अरबी के लिए जोर लगाया जा रहा है। 'हिंदु-

स्तानी अरबी' इसलिए कि अरब लोग इस अरबी को नहीं समझते।

हिंदुस्तान एक खेतिहर देश कहा जाता है। इसलिए किसानों के बच्चों को बताया गया है—

सींचाई के लिहाज से जमीनें तीन प्रकार की होती हैं। चाही, बारानी, नहरी। चाही जमीन तो वह है जिसको कुओं के पानी से सींचा जाता है। बारानी वह है जिसमें खेती बारिश के पानी से होती है। नहरी जमीन उसे कहते हैं जिसमें नहरों से आबपाशी होती है। (पृ० ३१)

नहर के पाठ में 'चाही' और 'बारानी' की जरूरत क्यों पड़ी, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता तो यह जान लेने की है कि अब आपके बच्चों को वर्षा या बारिश से संतोष न होगा। उन्हें विवश हो इस 'बारानी' का जाप करना पड़ेगा। इसी तरह कुएँ की जगह 'चाह' का प्रचार किया जायगा और आप चाहें या न चाहें पर आपके लाड़ले लड़कों को 'चाही' सीखना पड़ेगा। खैर, यहाँ तक तो कोई बात नहीं। आपके लड़के सहज में ही मौलवी साहब बन सकते हैं। पर कृपया यह तो कहें कि आपके देश में ताल-पोखरों से भी कुछ सींचने-साँचने का काम होता है अथवा नहीं? यदि हाँ, तो यह 'चाही' और यह 'बारानी' उसके किस काम के हैं। हमारी दृष्टि में तो इस 'चाही' और इस 'बारानी' ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि हमारे परदेशी अथवा उनके अंधभक्त देशी विधाताओं की दृष्टि किधर है और कहाँ से उन्हें जीवन की शुभ्र प्रेरणा मिल रही है।

हाँ तो हिंदुस्तानी की चौथी पोथी के लेखकों का दावा है—

यह रीडरें कैरिकुलम टेक्स्टबुक कमेटी युक्तप्रांत के अनुसार तैयार की गयी हैं। तमाम विषयों पर जो कैरिकुलम में अवस्थित हैं बड़ी सुंदरता से प्रकाश डाला गया है। भाषा का ऐसा प्रयोग, किया गया जो न केवल युक्तप्रांत बल्कि तमाम भारतवर्ष के शिक्षित घरानों में बोली और समझी जाती है। जिसको वास्तव में भारतीय भाषा कहा जा सकता है।
(वही भूमिका)

'कैरीकुलम टेक्स्टबुक कमेटी' तो कुछ रही ही होगी। उसके घरों का हाल हम क्या जानें। किंतु 'भारतवर्ष' और भारतीय भाषा की पहचान कुछ हमें भी है। इसलिए हम युक्तप्रांत की सरकार से यह जान लेने की धृष्टता करते हैं कि किन भारतीय शिक्षित घरों में 'धृतराष्ट्र' को 'धृतराष्टर' 'द्रुपद' को 'द्रपद' 'युधिष्ठिर' को 'युधिष्टर' और 'बाप' को 'अब्बा' कहते हैं। क्या किसी भी सच्चे भारतीय शिक्षित हृदय से ऐसे अपभ्रष्ट शब्दों का प्रयुक्त होना संभव है? हैरान होने की बात नहीं; कुछ समझ से काम लेने का समय है। सुनिये तो किसी गाँव का मुखिया अपने गाँव के चमार को किस प्रकार याद करता है--

मियाँ पलटू! बस खैर इसी में है कि नुकसान भर दो वरना फिर तुम मुझे जानते ही हो (वही, पृ० ६०)

फिर वही मुखिया साहब अपने साथियों से फरमाते हैं—
मियाँ हमारे गाँव के चमारों में यह सबसे ज्यादा सियाना है।
(पृ० ६१)

'अब्बा', 'मियाँ' और 'धृतराष्टर' से शिष्ट घरों का पता चल गया। यदि फिर भी कुछ संदेह शेष रह गया तो उस पोथी

में प्रयुक्त 'जनना' 'जामन' 'खंबा' 'भूक' आदि रूपों को देखिए और अच्छी तरह जान लीजिए कि अब आपके बच्चे आपकी भाषा नहीं समझ सकते। अब तो आप की उदार और सच्ची सरकार उन्हें उन परदेशियों की जबान सिखाने पर उतारू है जो विवशता के कारण यहाँ पर बस गये हैं पर गुलामी करते हैं किसी कल्पित अरब और फारस की और इसी से बोलते हैं राष्ट्र' को 'राष्टर'! और इसी का तो यह नतीजा है कि बच्चों की इस चौथी पोथी में 'कपूर' को 'काफूर' और अफीम को 'अफ्यून' कर दिया गया है? मानों स्वयं इनका इस देश से कोई नाता नहीं। पर दुनिया जानती है कि 'काफूर' किस 'कर्पूर' का अरबी रूप है और 'अफ्यून' भी 'अहिफेन' का। 'अस्पताल' भी 'शफाखाना' हो गया है। अस्पताल को समझता कौन है?

किंतु पाठक कहीं यह न समझ लें कि इस पोथी की जबान सचमुच उर्दू है। नहीं। उर्दू किसी ऐसी पोथी में उतर ही नहीं सकती। इसलिए इस पोथी की जबान उर्दू नहीं, उर्दू की बाँदी है जिसे इसके समझदार लेखकों ने हिंदुस्तानी के प्रिय नाम से याद किया है और जगह जगह पर अपनी हिंदुस्तानी घिस-घिस का पता भी दे दिया है और इस 'पोथी' में न तो लिंग-भेद का झगड़ा है और न किसी व्याकरण या शुद्ध रूप की पाबंदी। कहीं 'तरफ' को हम स्त्री के रूप में पाते हैं तो कहीं पुरुष के रूप में। उसके लिंग का पता नहीं। कहीं आप को 'फटकरी' और 'दरिया' दिखाई देंगे तो कहीं 'फिटकरी' और 'दरया'। एक ही शब्द 'बलगम' कहीं 'मलगम' दिखाई देता है तो कहीं और भी बढ़कर बढ़िया 'गलगम'। 'दिक' का यह गलगमी पाठ कितना हिंदुस्तानी है, इसे आप ही समझें।

कुछ और निवेदन करने के पहले इस पोथी के कतिपय मंत्र वाक्यों को सामने रख दें। संभव है, आपकी समझ में उनके असली रूप आ जाँय। सबसे पहले हाथ लगाओ लहर खुदा का बूझ फैला*मेरा' (पृ० ५५) को लीजिये।

इस 'फैला' को सामने रखकर 'शहर को समझ तो लीजिए—

शहर की मक्खियाँ और भौरे इन फूलों पर आकर इकट्ठे हो जाते हैं। (पृ० ९३)

और अब यदि—काफ़ी रकम न मिले तो फिर आप स्वयं बिक सकते हैं। (पृ० १०१)

उधर कौरवों ने द्रोपदी को जीत कर पांडवों के सताने के लिये द्रोपदी की साड़ी उतारनी चाही। इसपर झगड़ा होने लगा। भीष्म ने बीच बचाव किया। (पृ० १३६)

देखा आपने ? किस खूबी से 'कृष्ण' का नाम उड़ा दिया और एक नया भारत खड़ा कर दिया गया। भाई ! सच बात तो यह है कि भीष्म पितामह भी भरी सभा में उसी अन्नदोष के कारण यह अनर्थ चुपचाप देखते रह गये थे जिस अन्नदोष के कारण हमारी देशी सरकार के सचिव तथा अन्य महानुभाव इस भाषा की चीरहरण-लीला को मौन हो देखते रहे हैं। नहीं तो 'द्रौपदी' को 'द्रोपदी' क्यों लिखा जाता और 'भीष्म' 'बीच बचाव' क्यों करते ? अरे ! क्या सचमुच कौरवों का शासन आ गया है जिसमें सबके सब वही दुःशासन हो रहे हैं ?

अच्छा यही सही। पर कृपया यह तो बताने का कष्ट करें कि आखिर राजा राममोहन राय ने क्या अपराध किया है कि

उनको १८२० ई० में ही दफना दिया जाता है। कुछ दिन और जीते तो देहली दरबार का काम ही कर जाते। हम तो यही मानते थे कि राजा राममोहन राय सन् १८३३ ई० में मरे थे और मरे थे इंगलैंड में मुगल सरकार के काम से।

बाबा तुलसी की भी कुछ यही दशा है। बेचारे 'कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई' कहकर मर गये पर हमारे हिन्दुस्तानी दोस्तों का काम इससे न चला। उन्हें खुलकर लिखना ही पड़ा कि 'उन्होंने हिन्दी तर्जुमे में असल रामायण को चार-चाँद लगा दिए।' (पृ० ११)

'चार चाँद' आपके लिये चाहे जो कुछ हो, पर हमारे लिये तो वह 'चार लात लगा दिए' के तुल्य ही है। ऐसी ही मुहावरों की दुर्गति इस पोथी में जगह-जगह की गई है। उर्दू तो उन्हें सह नहीं सकती। कोदो दलने के लिये इसी हिन्दुस्तानी की छाती काफी चौड़ी है। पर बात यहीं नहीं रह जाती। 'संवत् सोलह सौ इकतीसा' भी इस 'हिंदुस्तानी पोथी' में सन् १५५४ ई० हो जाता है। जाने कहाँ का गणितशास्त्र युक्तप्रांत में टपक पड़ा है। हम लोग तो यही जानते थे कि सामान्यतः वि० सं० में से ५७ घटा देने से ईसवी सन् की प्राप्ति हो जाती है पर अब देखते यह हैं कि ७७ (१६३१–१५५४) घटाने की नौबत आ गयी।

प्रसंग बढ़ाने से कोई लाभ नहीं, पर पद्य की चर्चा है आवश्यक। पद्य के क्षेत्र में हिन्दी उर्दू का कोई मेल नहीं। उर्दू यहाँ सोलहो आना अहिंदी बन चुकी है, और उर्दू के विद्वानों ने दावे के साथ कहना भी शुरू कर दिया है कि हिन्दी में छन्द ही कहाँ हैं। हिन्दी बच्चों की पोथी में हिंदी छदों का अभाव किस भाव का

द्योतक है यह हम नहीं कह सकते, पर इतना जानते अवश्य हैं कि हमारी इस हिंदुस्तानी की पोथी में शेर मात्र को 'दोहा' लिखा गया है और पद्य का प्रयोग स्त्री-लिंग में किया गया है। इसके पद्य हैं भी बड़े ढब के। तनिक गुनगुनाइये तो सही। कितना सरस राग है—

ऐ भोले भाले बच्चों नादानों नातवानों।
सरपर बड़ों का साया साया ईश्वर का जानों ॥ (पृ० १६६)

साया ईश्वर का जानो गद्य है वा पद्य ?

चाहे जो हो, किसी प्रकार इसका अर्थ तो आपकी समझ में आ गया। अब एक दूसरा पद्य लीजिए और अपने ज्ञानकी परीक्षा तो कर लीजिए। कितना सटीक कहना है—

फागन का है महीना गर्मी का दौर आया।
महका हुआ है जंगल बागों में मौर आया ॥

× × ×

यह शाखें करवटें यहाँ जूँ जूँ बदल रही है।
बस कैरियाँ ही साँचे, साँचे में ढल रही है ॥

× × ×

यह कैरियाँ नहीं हैं, बच्चे हैं दूध पीते
जो दूधके सहारे, इस झूलेमें हैं जीते
जड़ने जमीनकी छाती, से भर रखे हैं शीशे
पहुँचाते मुँह तलक हैं नलियाँ रबड़ की रेशे। (पृ० ६५-६)

कहिये आया कुछ समझ में ? यदि हाँ तो बच्चे को समझा देखिए, कितनी सरलता से क्या कुछ समझता है ? जो हो, अंत

में हमें दिखा यह देना है कि इस पोथी में अंगरेजी की चाशनी भी कुछ कम चोखी नहीं है। प्रमाण के लिये उसका एक महावाक्य लीजिए।

हर एक उम्मीदवार अपने हलके के राय देनेवाले से मिलता है और उनसे कहता है कि वह डिस्ट्रिक्ट उनकी भलाईका काम करेगा और वह अपनी राय उसे दें। (पृ० ५७–५८)

अब यदि आप इसे हिंदुस्तानी समझते हैं तो समझते रहें पर यह हमारे देश की भाषा तो है नहीं। यह तो प्रत्यक्ष ही किसी अंगरेजी वाक्य का उलथा है जो कुछ उर्दू के सहारे हिंदुस्तानी अक्षरों में ढाल दिया गया है। व्याकरण की दृष्टि से जहाँ 'देने वाले' की जगह 'देने वालों' चाहिए वहीं 'वह' की जगह 'वे'। माना 'लखनऊ' की कृपा से 'वे' उर्दू से उठ गया पर अभी वह हिंद क्या स्वयं देहली में भी तो चलता फिरता दिखाई देता है, फिर कोई हिंदुस्तानी उसे क्यों छोड़ दे। रही सीधे और टेढ़े अथवा 'डाइरेक्ट' और 'इनडाइरेक्ट' की बात। सो हमारी भाषा सीधी है, टेढ़ी नहीं। इनडाइरेक्ट से उसका क्या काम? यदि समझ हो तो उसके स्वरूप को पहचानो और अपने भोले-भाले बच्चों को इस भूतनी से बचाओ। नहीं तो हिंदुस्तानी की 'हुमा' तो आपको बादशाह बना देगी पर आपकी संतानों के लिये रहेगी वह 'हौवा' ही।

———

९—बिहार और हिंदुस्तानी

बिहार के कुछ 'साहित्य सेवियों' की ओर से 'बिहार और हिंदुस्तानी' नाम की एक छोटी सी पुस्तिका, विद्यापति हिंदी सभा, दरभंगा से निकली है। उसके स्वाभिमानी लेखक का कहना है कि—

श्री चंद्रबली पांडेयजी की पुस्तक ('बिहार में हिंदुस्तानी') में जगह जगह पर यह ध्वनि टपकती है कि बिहारियोंको शुद्ध भाषा लिखना और बोलना नहीं आ सकता। एक जगह तो उन्होंने यहाँ तक लिख मारा है 'भाषाके क्षेत्रमें बिहारी सज्जन किस दृष्टि से देखे जाते हैं, इसके कहनेकी कदाचित् कोई आवश्यकता नहीं।'

यदि इतने अपमान पर भी बिहारी सज्जन मुँह नहीं खोलते तो इसके दो ही मानी निकलते, या तो वे नितांत अयोग्य हैं अथवा स्वाभिमानशून्य। परंतु श्री चंद्रबली पाण्डेयजी को जानना चाहिए कि बिहारमें भी योग्यता और स्वाभिमान रखनेवाले लोग हैं और समय पड़ने पर आक्रमण का भरपूर जवाब दे सकते हैं। उनके अनौचित्यपूर्ण कथनका प्रतिवाद करने के लिये ही जवान में यह पुस्तक लिखी गयी है। यदि वे 'वाद प्रतिवाद का' सिलसिला आगे बढ़ाना चाहें तो हम सहर्ष उसके लिये तैयार हैं (दो शब्द, २-३)

समझ में नहीं आता कि हम किस विषय को लेकर परस्पर भिड़ें। हमारे 'वाद-प्रतिवाद का सिलसिला' क्योंकर आगे बढ़े? 'भाषा के क्षेत्र में' हमारी भी वही स्थिति है जो 'बिहारी' सज्जनों की। हमारी जन्म भाषा 'पछाहीं' नहीं 'पूर्वी वा भोजपुरी' है।

भोजपुरी की गणना 'बिहारी' के भीतर ही होती है, बाहर कदापि नहीं।

रही बिहारियों के 'अपमान' की बात सो उसके विषय में हमारा कथन यह है—

हाँ, बिहार के प्रसंग में इस मागधी की भी कुछ चर्चा हो जानी चाहिये। भाषा के क्षेत्र में बिहारी सज्जन किस दृष्टि से देखे जाते हैं, इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। उर्दू के लोग उनकी जबान से कितनी दूर रहना चाहते हैं, इसका कुछ पता शेख इमामबख्श नासिख की उस करनी से लगाया जा सकता है जिसका परिचय उन्होंने अजीमाबाद (पटना) से भागते समय दिया था। बिहारियों के बीच रहने से उनकी जबान खराब हो रही थी। पर हिंदीका आचार्य भिखारीदास भाषाको कोई छुईमुई जैसी चीज नहीं समझता। उसकी दृष्टि में उसमें मागधी का भी उचित पुट दिया जा सकता है। भला कौन कह सकता है कि कितने दिनों से हमारे देश के आचार्य भाषा के 'षट्रस' में मग्न हैं और अन्य भाषाओं के सुघर शब्दों को अपनाने में लीन। (बिहार में हिंदुस्तानी, पृ० ४१-४२)

उक्त अवतरणों में बिहारी सज्जनों का अपमान है अथवा मान, इसका निर्णय हम उन्हीं की न्यायबुद्धि पर छोड़ देते हैं और इस प्रसंग का एक दूसरा अवतरण उनके सामने रख देते हैं। यह अवतरण 'उर्दू की उत्पत्ति' नामक लेख से लिया गया है जो अब 'भाषा का प्रश्न' (ना० प्र० सभा काशी से प्राप्य) नामक पुस्तक में छपा है। प्रकृत पुस्तक के पृ० १३१ पर आपको दिखाई देगा—

साहब किबलः। आपने किराया दिया है, बेशक गाड़ी में बैठिए। मगर बातों से क्या तअल्लुक? उसने कहा—'हज़रत क़्या मुज़ायकः

है राह का शग़ल है, बातों में ज़रा जी बहलता है।' मीर साहब बिगड़ कर बोले कि—'ख़ैर, आपका शग़ल है, मेरी ज़बान ख़राब होती है।

मीर साहब बेदिमाग कहे जाते हैं। यह उनकी बेदिमागी हो सकती है, पर बात यहीं समाप्त नहीं होती। शेख इमाम बख़्श नासिख, जो आधुनिक उर्दू के विधाता और जबान के पक्के पहलवान हैं, (इसी पहलवानी के लिये नासिख की उपाधि से विभूषित हैं) अजीमाबाद (पटना) से भाग पड़े। वह इसलिये नहीं कि वहाँ आवभगत की कमी पड़ी बल्कि इसलिये कि वहाँ रहने से उनकी ज़बान बिगड़ती थी। चाँदनी पड़ने से माशूक का बदन मैला हो या न हो, किंतु बाहरी जबान कानमें पड़ने से इन लोगों का (मुँह) जरूर मैला हो जाता था। तभी तो इस तरह जनता क्या भद्र पुरुषों से किनारा कसते थे और कमरे में बैठे बिठाये अरबी फारसी के बलपर जबान का दंगल मारते थे और शागिर्दों की वाहवाही और शरीफों की खूब खूब में मग्न होकर हिंदी जबान का खून कर जाते थे और इमाम नासिख, इमाम नासिख के रोब में जबान के गाजी बन जाते थे।''

और,—हाँ, तो इमाम नासिख लखनवी थे। देहली का शायद उन्होंने मुँह भी नहीं देखा था। दिल्लीवालो के लिये वे भी पूरबी थे। उन्हें ज़बान का इतना नाज क्यों हुआ कि पटना से भाग पड़े? उनके पिता भी तो देहलवी न थे बल्कि महज पंजाबी थे। उनको इस प्रकार का ज़बान पर दावा क्यों हुआ? बात यह है कि अपनी ज़बान को फारसी रंग में उन्होंने इतना रंग लिया था कि यार लोग उस पर लट्टू हो गये। उन्हें उर्दू ए मुअल्ला की सुधि न रही। नासिख के कलाम का मुलम्मा उन पर भी हावी हो गया और वे लोग

उन्हीं को कामिल उस्ताद मानकर उनकी जबान की पैरवी करने लगे। नतीजा यह हुआ कि लखनऊ लखनऊ न रह कर 'इस्फहान' हो गया और उर्दू खासी फारसी बन गयी। फिर अजीमाबाद से भागते नहीं तो करते क्या ? पटना तो 'इस्फहान' होने से रहा।

अस्तु, 'बिहार के कुछ साहित्यसेवी' कुछ भी कहते रहें किंतु 'पटना तो इस्फहान होने से रहा' का अभिमानी हृदय यह तो सह नहीं सकता कि "जगज्जननी जानकी तथा गौतम बुद्ध की पुण्य भूमि" में रहनेवाले जीवों की स्वतन्त्र सत्ता 'औरंगजेब और वाजिदअली शाह की राजधानियों में बसनेवाले' 'ईरानी तूरानी नज्जादों' अथवा 'नजीबों' और 'मदुओं' की बोली-ठठोली की नकल में नष्ट हो जाय और बिहार की जबान की लगाम किसी हिंदी-द्रोही के साथ में सौंप दी जाय जो बिहारी नहीं चाहे हापुड़ी भले ही हो।

'जगज्जननी जानकी तथा गौतम बुद्ध की पुण्य भूमि में रहनेवाले' हिंदुओं की धर्मनिष्ठा भी देख लीजिये। डाक्टर आज़म करेवी (कुरीवी ?) कहते हैं—

उसके एक घंटे के बाद जब सत्यनारायण की कथा में गाँव वालों को बड़ा मजा आ रहा था, सुंदरिया चीखती चिल्लाती आयी। इसकी आँखों में आँसू थे। चेहरा गुस्से के मारे तमतमा रहा था। उसने चिल्लाकर 'पंडित जी महाराज; दोहाई है, गाँववालों की दोहाई है, लालाजी ने (यजमान) मेरी इज्जत ली है।' लाला जी एक तरफ से लपके हुए आये। उनकी आँखें लाल हो रही थीं, और पाँव डगमगा रहे थे। उन्होंने जोधा को हुकम दिया—'यह पागल है। इस बदमाश औरत को बाहर निकाल दो।' (बगुलाभगत पृ० ११)।

इधर युक्तप्रांत के 'अलमोड़ा' के मियाँ अब्बू खाँ की बकरी की दीनपरस्ती पर भी गौर कीजिये। डा० जाकिर हुसैन साहब जैसे गांधीप्रिय मुसलमान का कहना है—

सितारे एक एक करके गायब हो गए। चाँदनी ने आखिरी वक्त में अपना जोर दुगुना कर दिया। भेड़िया भी तंग आ गया था कि दूर से एक रोशनी सी दिखाई दी। एक मुर्ग ने कहीं से बाँग दी। नीचे बस्ती में मस्जिद से अजान की आवाज आयी। चाँदनी ने दिल में कहा कि अल्लाह तेरा शुक्र है। मैंने अपने बश भर मुकाबिला किया, अब तेरी मरज़ी। मुअज्जन आखिरी दफा अल्लाह अकबर कह रहा था कि चाँदनी बेगम जमीन पर गिर पड़ीं। उसका सफेद बालों का लिबास खून से बिलकुल सुर्ख था। (अब्बू खाँ की बकरी, पृ० १२)।

सत्यनारायण की कथा के व्यभिचार (बिहार) और अब्बू खाँ की बकरी के इसलाम (युक्तप्रांत) की आलोचना 'विहार के कुछ साहित्य सेवी' स्वयं आसानी से कर सकते हैं और अब 'होनहार' के मुखपृष्ठ पर अंकित चित्र को भी भलीभाँति हृद्-यंगम कर सकते हैं। उसके संबंध में हमने 'बिहार में हिंदुस्तानी' में संकेत किया है। हाँ, यहाँ उन्हें इतना और जान लेना चाहिए कि उक्त पुण्यभूमि के सयानों को अब हिंदू धर्म का यह और इतना ही परिचय दिया जायगा कि—

यह धर्म बहुत पुराना है। आर्यों की आबादी के साथ ही इस धर्म की पैदाइश हुई। इसकी जड़ वेद है। ब्राह्मणों ने इस धर्म का प्रचार करने में बड़ी कोशिश की इसलिए इसका दूसरा नाम ब्राह्मण धर्म भी है। इसमें कई संप्रदाय या फिरके हो गये हैं। बौद्धधर्म

और जैन-धर्म भी इसी के फिरके हैं। मगर आज बौद्धधर्म का बोलबाला हिंदुस्तान से बाहर तिब्बत, चीन, जापान, स्याम लंका वगैरह मुल्कों में भी है। हिंदू धर्म में मुख्य नसीहतें ये हैं। (१) किसी को तकलीफ न पहुँचाओ। (२) दूसरे की चीज वगैर उससे पूछे न लो। (३) हमेशा सच बोलो (४) मौके पर अपनी ताकत के मुताबिक खैरात करो। (५) पराई औरतों पर बुरी नजर मत रक्खो। (६) ज्यादा लालच न करो। (७) बड़े बूढ़ों की कद्र करो। (८) सब जीवों पर दया करो। इस धर्म का चलाने वाला कौन था इसका पता नहीं। (दुनिया के बड़े-बड़े मजहब, पृ० १-२)।

गौतम बुद्ध के पुण्यदेश के निवासियों के लिये हम इतना और निवेदन कर देना चाहते हैं कि मुसलिम साहित्य में गौतम बुद्ध 'बोज़ आसफ़' नाम के पैगंबर के रूप में ख्यात हैं और अब्बासियों के प्रसिद्ध मंत्री बरामका पहले बौद्ध ही थे। दारा-शिकोह का तो यहाँ तक कहना था कि कुरानशरीफ में उपनिषदों का संकेत है। फिर भी हमारी यह दशा ?

पारसी मत के विषय में हिंदू धर्म से दो एक शब्द अधिक लिख दिये गये हैं किंतु पारसी मत का कोई परिचय नहीं दिया गया है। केवल इतना कह दिया गया है कि 'दुनिया में इस मजहब को फैलानेवाले एक बहुत बड़े पैगंबर (दूद) 'जरतसव' थे। बस इसके बाद पारसियों का परिचय दिया गया है। 'जरतसव' !

आर्यमतों को इस प्रकार चलता कर शामी मतों का गुणगान किया गया है और ९ पृष्ठ के लगभग उनके लिये सुरक्षित कर लिया गया है। इसलाम के विषय में जो लिखा गया है उसका

प्रभाव क्या पड़ेगा, इसकी कल्पना कुछ तो इसी वाक्य से हो जाती है—"कुरान अल्लाताला की भेजी हुई किताब है और उसमें रोजा नेमाज के अलावा दुनिया की हर बातों के बारे में लिखा हुआ है।" और कुछ इस वाक्य से कि 'आपने बताया है इसलाम मजहब में राजपाट और मजहब एक ही चीज है।' उधर 'कुरान' में सभी बातें हैं, इधर राजपाट और मजहब में भेद नहीं। फिर क्या ?

'एक बात और। यही अनीसुर्रहमान साहब 'जगद्‌गुरु और भंगी' के भी लेखक हैं। 'होनहार' के संपादक भी यही हजरत हैं। आप इसलाम के प्रसंग में तो 'अमीरुलमोमेनीन' और 'खलीफतुल मुस्लेमीन लिख जाते हैं पर शंकराचार्य के मुँह से 'घृणा के योग्य' नहीं कहा सकते, नहीं, उनकी भाषा तो और भी अरबी बना देते हैं। देखिए तो सही, कितनी सटीक भाषा है। जगद्‌गुरुजी कितनी साफ उर्दू में फरमाते हैं—

हाँ, बेशक ! हिंदू धर्मके हिसाब से तू यकीनी काबिले नफरत है।

अब 'मजीद मल्लिक' की लिखी 'रंग में भंग' का रंग देखिए। 'जगज्जननी जानकी की पुण्यभूमि' में क्या और किस ढंग से हो रहा है। कहाँ की संस्कृति उसमें बोल रही है ? 'वाग्दत्ता' किस धर्म का प्रतिपादन कर रही है ? बिहार के पंडितों की घर की यह दशा ? इसमें समस्त हिंदू जाति का अपमान है—

रामकिशोर (दुलहा)—मैं यह अर्ज करना चाहता हूँ कि मुझे—मुझे शादी मंजूर है—

पंडित करताकिशुन (दुलहिन के बाप)—मुझे मालूम था यही होगा। सिर्फ मुझे जलील करने के लिये यह किया गया।

रामकिशोर—नहीं, नहीं, हरगिज नहीं। यह आप क्या कहते हैं ?

पंडित करताकिशुन—मेरी किस्मत में यही जिल्लत लिखी थी।

पंडित श्यामलाल (दुल्हे का बाप) ऐसी बात जबान पर मत लाइये। आप हम सब के बुजुर्ग हैं।

(दुलहिन अपनी नजर जमीन से उठाती है और दुलहा के चेहरे-पर गाड़ देती है। रामकिशोर उसकी तरफ देखता है, लेकिन घबरा के निगाहें नीची कर लेता है)।

शकुन्तला (दुलहिन)—वेशक, खतम हो गया। तमाम किस्सा हमेशा के लिये खतम हो गया (पृ०–१०)।

बस ! कृपया भूल न जाइये कि वाजिदअली शाह के लखनऊ अथवा नासिख के इस्फहान की औरतों की ज़बान पर हिंदी अल्फाज़ बकसरत हैं। इसलिये रेखता तो सरासर हिंदी रंग में डूबी हुई है।

(मुईनुद्दीन अहमद नदवी, हिंदुस्तानी (उर्दू) १९३८ ई०, पृ० २०८)।

अंत में हमारा यह नम्र निवेदन है कि हमारे 'कुछ साहित्य-सेवी' जमाने के रुख को देखें और इसे प्रांतीयता का रंग न दें। 'बिहार में हिंदुस्तानी' को अच्छी तरह समझने के लिए कम से कम हमारी 'भाषा का प्रश्न' और 'कचहरी भाषा और लिपि' नामक पुस्तकों का अध्ययन कृपा कर अवश्य करें और युक्तप्रांत की हिंदुस्तानी की धज्जियाँ भी खूब उड़ायें। हमारे सामने तो इस समय समूचा हिंद है।

लेख समाप्त करते करते एक बात और सामने आ गई। हिंदी साहित्य संमेलन के गत (काशी के) अधिवेशन में देशरत्न राजेंद्र

बाबू ने स्पष्ट कर दिया था कि मुझे बिहार की सयानी रीडरों का कुछ पता नहीं है और प्रो० अमरनाथ झा ने भी 'लीडर' 'सरस्वती' आदि में यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि उनका उक्त कमेटी से कोई भी संबंध नहीं है। फिर भी हमारे सयाने बिहार के कुछ साहित्यसेवी लिख मारते हैं कि उसमें 'डा० अमरनाथ झा जैसे लोग भी हैं।' बात बिल्कुल ठीक है। यदि उन्हें स्थिति का ठीक ठीक पता होता तो यह हिंदुस्तानी हुरदंगा ही क्यों मचाया जाता?

बिहार के कुछ साहित्य-सेवियों का दावा या स्वाभिमान तो यह है कि—

आपको मालूम होना चाहिये कि जगज्जननी जानकी तथा गौतम बुद्ध की पुण्यभूमि में रहनेवाले हिंदुओं में अब भी वेशभूषा, भाषाभाव, तथा आचार-व्यवहार में उतना परिवर्तन नहीं हुआ है, जितना औरंगजेब और वाजिदअली शाह की राजधानियों में बसनेवालों का। (पृ० ३७)

किंतु करनी यह है कि बिहार को युक्तप्रांत का 'नकलची' बनाया जा रहा है और यदि उनसे कहा जाता है कि भैया! आपकी भाषा हिंदी है और फलतः आपके यहाँ के निरक्षर सयाने हिंदी में शीघ्र साक्षर हो जायँगे तो हमको मैदान में उतर आने की चुनौती दी जाती है।

क्या हम 'बिहार के कुछ साहित्यसेवी' की 'बिहार और हिंदुस्तानी' को समूचे बिहार की करनी समझ लें? नहीं, कदापि नहीं। वह तो किसी शरण जी की 'भानमती की पिटारी है।' उसके सयाने लेखकों को इतना भी पता नहीं कि शब्द का अर्थ वाक्य में खुलता है, कुछ कोश में नहीं। फिर भी हमारे सयाने

'विहार के कुछ साहित्यसेवी' न जाने किस आधार पर खड़े होकर हमें ललकार रहे हैं पर अपने ढङ्ग पर कह वही रहे हैं जो हम कहते आ रहे हैं अथवा अभी जो कुछ और कहना चाहते हैं। बस बिहार को इस प्रश्न पर डट कर विचार करना चाहिए और 'राजेंद्र रीडर' के 'दो भाई' का अध्ययन आँख खोल कर करना चाहिये। यदि उन्होंने उक्त 'दो भाई' की कहानी को जान लिया तो 'होनहार' के चित्र को भी समझ लिया। रही तुर्की टोपी की बात। सो उसके लिए 'कचहरी की भाषा और लिपि' अथवा जून १९३९ की 'वीणा' में प्रकाशित 'हिंदू मुसलिम समस्या' शीर्षक लेख पढ़ने की कृपा करें, उससे उनकी आँख खुलेगी।

१०—बेसिक हिसाब की पहली पुस्तक

वर्धा की शिक्षा परिपाटी ने धीरे धीरे युक्तप्रांत में भी अपना पाँव पसार दिया और प्रांत के शिक्षा विभाग की ओर से कुछ बेसिक पोथियाँ भी निकल आईं। इन पोथियों की भाषा नीति क्या रही है, इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ बिहार की भांति हिंदी और उर्दू को एक करने का प्रयत्न नहीं रहा है। यहाँ हिंदी हिंदी और उर्दू उर्दू रखी गई है। परंतु यह तो कहने की बात रही है। वस्तु-स्थिति तो यह है कि इन पुस्तकों की भाषा नीति कुछ और ही है। इनकी उर्दू तो उर्दू है पर इनकी हिंदी हिंदी नहीं और चाहे जो हो। चाहें तो हिंदुस्तानी कह ही सकते हैं, क्योंकि भाषा को भ्रष्ट करना ही हिंदुस्तानी का ध्येय है।

'बेसिक हिसाब की पहली पुस्तक' की 'प्रस्तावना' में ही उसके रचयिता डा० इबादुर्रहमान खाँ का महावाक्य है—

हमारे डायरेक्टर आफ़ पब्लिक इन्सट्रक्शन मि० जे० सी० पावल प्राइस इन पुस्तकों के निकालने के विषय में बहुत उत्सुक रहे हैं। और यह पुस्तक उनके प्रोत्साहन तथा सलाह का ही फलस्वरूप है। इस पुस्तक का कापीराइट प्रांतीय सरकार का है।

यही बात 'बेसिक हिसाब की पहली किताब' के 'पेशलफ्ज़' में इस प्रकार लिखी गई है—

हमारे डायरेक्टर सरिश्तये तालीम जनाब जे० सी० पावल प्राइस साहब इसके बड़े ख्वाहाँ थे और यह किताब उन्हीं की हौसलः अफ़-

ज़ाई और मशिविरों का नतीजा है। इस किताब के जुमल; हुकूक गवर्नमेंट के नाम महफूज हैं।

'यह पुस्तक उनके प्रोत्साहन तथा सलाह का ही फलस्वरूप है' कहाँ की हिंदी भाषा है यह हम तो नहीं कह सकते। हमें यहाँ कहना तो यह है कि हिंदी में तो 'डायरेक्टर आफ पब्लिक इंस-ट्रक्शन', 'मिस्टर' और 'कापीराइट' का प्रयोग हो सकता है, पर उर्दू में इन्हें 'सरिश्तये तालीम', 'जनाब' और 'जुमलः हुकूक' का जामा पहनना ही होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदी के लिये यह सब क्या है पर उर्दू के लिये परागत अथवा उर्दू में तो फारसी-अरबी के सहारे नये नये शब्द गढ़े जा सकते हैं किंतु हिंदी में किसी के सहारे कदापि नहीं। उर्दू में 'साहब' का प्रयोग कर यह स्पष्ट दिखा दिया है कि उर्दू शिष्ट भाषा है और हिंदी वस्तुतः भोंडी और भद्दी।

यह तो हुई प्रस्तावना की बात। अतएव इसे छोड़ अब मूल पाठ पर आइये। पृष्ठ ४२ पर प्रश्न किया गया है :— १—एक गज में कितने फीट हुए। यही प्रश्न उर्दू में इस प्रकार है :—१—एक गज में कितने फुट हुए। विचार करने की बात है कि हिंदी में तो फुट का बहुवचन 'फीट' दिया गया है किंतु उर्दू में उसे फुट ही रहने दिया गया है। प्रसिद्ध बात तो यह है कि वास्तव में उर्दू का कोई अपना निजी व्याकरण नहीं। उसका व्याकरण बहुत कुछ फारसी-अरबी के सहारे खड़ा होता है और उसके बहुवचन भी भाँति-भाँति से बनते हैं, परंतु यहाँ सिद्ध इसके प्रतिकूल हो रहा है। यहाँ हिंदी में 'फुट' का बहुवचन अंगरेजी के ढङ्ग पर 'फीट' बनाया जा रहा है जो हिंदी की दृष्टि से नितांत अशुद्ध है। हम हिंदी में इसे इस प्रकार लिख नहीं सकते कि 'एक

गज में कितने फुटे हुए' फिर यह 'फीट' का प्रयोग कैसा ? यह तो हिंदी नहीं हिंदी भाषा का उपहास है। भोले भाले बालकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? यही न कि हिंदी का अपना कोई मार्ग नहीं ? और यहाँ इसी प्रकार का गड़बड़-झाला चलता रहता है ?

एक अन्य वाक्य लीजिए। पृष्ठ ४४ पर कहा गया है कि ५ तोले तराजू के एक तरफ और १ छटाँक दूसरी तरफ रक्खो। पता नहीं कि डाक्टर खाँ महोदय को 'ओर' से इतनी चिढ़ क्यों है कि हिंदी पुस्तक में भी उसको स्थान नहीं देते और छोटे-छोटे हिंदी बच्चों के सामने उस 'तरफ' को ला देते हैं जो एक ही वाक्य में 'स्त्री' और 'पुरुष' दोनों बन जाता है। क्या डाक्टर खाँ यहाँ भी यह पढ़ाना चाहते हैं कि हिंदी में लिंग का कोई नियम नहीं है, जो चाहे जिस रूप में एक ही शब्द का एक ही वाक्य में प्रयोग करे ? अथवा यह उनके कर्मचारियों की असावधानी का परिणाम है ? अथवा वह यह चाहते हैं कि 'ग़ालिब' से सीख लेकर बालकों को यह बताया जाय कि तोले की ओर स्त्री और छटाँक की ओर पुरुष होने के कारण एक ही 'तरफ़' ने यह भिन्न-भिन्न लीला की है ? रथ के लिंग का रहस्य 'ग़ालिब' ने कुछ इसी ढब से खोला था न।

यह नहीं, यदि वाक्य की गड़बड़ी देखना चाहें तो इस वाक्य योजना को लें—"३ पाव रुई साफ़ करने के लिए एक दर्जे में दी गई और हर लड़के ने २ तोला पाई।" (पृ० ४५) क्या यही है युक्त प्रांत की वह हिंदी जो उर्दू और हिंदुस्तानी से सर्वथा भिन्न शिष्ट हिंदी कही जाती है।

एक और छोटा सा सीधा वाक्य लें और इस बेसिक शिक्षा की भाषा-नीति के मूल में पैठे। देखें, प्रश्न है—६—"दो जगहों

का सबसे कम फ़ासला सीधी लकीर ज़ाहिर करती है या टेढ़ी लकीर ?" इसी की हिंदी है—"२ जगहों का सबसे कम फ़ासला सीधी लकीर बताती है या टेढ़ी लकीर ?" ध्यान देने की बात है कि 'बताती है' तो उर्दू नहीं है पर 'जगह', 'फ़ासला' और 'लकीर' हिंदी अवश्य हैं। हम 'खाँ' महोदय से पूछना चाहते हैं कि "२ स्थानों की सबसे कम दूरी सीधी रेखा बताती है या टेढ़ी रेखा ?" हिंदी क्यों नहीं है और क्यों 'जगह' 'फ़ासला' और 'लकीर' ही हिंदी है ?

हमारी हिंदी की दशा तो यह है कि यहाँ बिल भी 'चुकता' नहीं 'अदा कर दिया' जाता है, देखिए—

"दस-दस रुपये के कितने नोट चाहिये ताकि सब रकम अदा हो जाय और कुछ बाकी भी रहे। तीस रुपये बारह आने में से क्या बच रहेगा अगर सब बिल अदा कर दिए जायँ और सवा रुपया फुटकर खर्च हो ?"

यह तो हुई हमारी हिंदी। अब इसकी उर्दू देखिए—"दस दस रुपया के कितने नोट चाहिए ताकि सब रक़म अदा हो जाये और कुछ बाक़ी भी रहे। तीस रुपया बारह आने में से क्या बच रहेगा अगर सब बिल अदा कर दिए जायें और सवा रुपया मुतफ़रिक़ ख़र्च हो।"

तनिक सोचिए तो सही कि क्यों हिंदी में तो 'ताकि' 'रक़म', अदा' 'बाकी', 'अगर' और 'ख़र्च' आदि सभी विलायती शब्द खप सकते हैं पर उर्दू में 'फुटकर' भी नहीं जी सकता और 'रुपये' को फारसी रूप धारण कर 'रुपयः' बनना पड़ता है ! क्या हिंदी में 'जिससे', 'धन', 'चुकता', 'यदि', 'व्यय' आदि प्रतिदिन के व्यवहार के प्रचलित शब्दों का व्यवहार ठीक नहीं होता कि उन्हें

खदेड़कर उनका स्थान दूर के मनबुझे फारसी-अरबी शब्दों को दिया गया है ?

अब यदि युक्तप्रांत के शिक्षा-विभाग की यही नीति है कि हिंदी के अत्यंत प्रचलित नित्य प्रति के व्यवहार के घरेलू शब्द भी बालकों की पाठ्य पुस्तकों में न रहने दिए जायँ और उनकी जगह ढूँढ़ ढूँढ़ कर फारसी-अरबी के किताबी शब्द रखे जायँ तो सरकार चाव से ऐसा कर सकती है और उन्हें लाठी के बल पर चला भी सकती है पर हिंदी पर इतनी कृपा तो उसकी होनी ही चाहिये कि उसे वह इस प्रकार भ्रष्ट न करे। जब प्रभुता उसके हाथ में है तब कोई कारण नहीं कि वह उर्दू अथवा हिंदुस्तानी का प्रयोग खुलकर क्यों न करे ? हम तो किसी भी दशा में यह मानने से रहे कि डाक्टर इबादुर्रहमान खाँ ने बेसिक स्कूलों की प्रथम कक्षा के लिए कोई हिंदी की पुस्तक लिखी है। आप चाहें तो उसे हिंदुस्तानी की पुस्तक मान सकते हैं। क्योंकि उसकी भ्रष्ट भाषा को हम किसी अन्य रूप में देख नहीं सकते। क्या युक्तप्रांत के शिक्षा विभाग के कर्णधार श्री जे० सी० पावल प्राइस महोदय से यह आशा की जा सकती है कि उनके उदार अनुशासन में हिंदी की इस प्रकार की हत्या न होगी और हिंदी भी उर्दू की भाँति ही अपना स्वतंत्र विकास कर सकेगी ? यदि उनका उद्देश्य किसी हिंदुस्तानी का निर्माण करना होता तो संभवतः हम मौन ही रह जाते परंतु जब हम देखते हैं कि हिंदी की ओट में हिंदी की चिंदी बनाई जा रही है तब हम उनका द्वार क्यों न खटखटाएँ। क्या खटखटाने से उनका द्वार खुलेगा और उनके घर में हिंदी को स्थान मिलेगा ?

———

११—केर बेर को संग

'बादशाह दशरथ' की बात अभी पुरानी भी न होने पाई थी कि बिहार के प्रांतीय हिंदी-साहित्य-संमेलन ने जोम में आकर उसकी धूम मचा दी और दलबल के साथ 'हिंदुस्तानी' के घेरे से निकालकर उसे हिंदी की छाती पर बिठा दिया। अब कौन कह सकता है कि 'बादशाह', 'शहर', कुल 'महल', 'मकान', 'किला'; 'वगैरह' आदि के लिये भी हिंदी में कुछ अपने शब्द हैं। अब तो हमें भी विवश हो मानना ही पड़ेगा कि पाटलिपुत्र के विश्वविख्यात सम्राट् वास्तव में 'बादशाह' थे और 'महल', 'मकान' एवं 'किले' में रहा करते थे और वहाँ कभी कोई 'सुगाई नामक महल' भी था; क्योंकि बिहार हिंदी-साहित्य-संमेलन के 'हिंदी' खंड में 'पाटलिपुत्र' के 'अतीत' के विषय में प्रश्न हुए हैं:—

(३) पाटलिपुत्र पर किन वंशों के बादशाहों ने राज किया ?

(४) किन कारणों से इतने बड़े शहर के कुल महल, मकान और किले वगैरह नष्ट हो गये ? (साहित्य संग्रह प्रथम भाग, पृ० ६१) और अभिमान के साथ लिखा गया है—

शकों के शासन से भार्शिकों ने मगध का उद्धार किया। कौमुदी महोत्सव नाटक से जान पड़ता है कि चंद्रगुप्त के अभ्युदय के कुछ ही पहले राजा सुंदर वर्मा मगध पर राज करते थे और पाटलिपुत्र के सुगाई नामक महल में रहते थे (वही पृ० ६०)

'भारशिवों' और 'सुगांगप्रासाद' का पता तो हमें भी था; किंतु 'भार्शिकों' और 'सुगाई महल' की खोज प्रांतीय संमेलन के

प्रधान मंत्री ने ही की होगी ! इसी प्रकार 'ताम्रलिपियों' का पता भी पहले-पहल यहीं लगा है। आप कहते हैं ईसा की बारहवीं शताब्दी की कुछ ताम्रलिपियों से जान पड़ता है कि बंबई का दक्षिणी हिस्सा और उत्तर मैसूर नंद राजाओं के अधिकार में था। (वही पृ० ५७)

हमने कभी राष्ट्र के लिये 'जेलयात्रा' नहीं की अतएव कह नहीं सकते कि 'भार्शिकों', 'सुगाई महल' तथा ताम्रलिपियों' के अपूर्व अनुसंधान से राष्ट्र का उद्धार होगा अथवा नहीं, परंतु 'प्राचीन पटना' का अभिमानी होने के कारण ललकारकर कह सकते हैं कि इस प्रकार की भोंडी शिक्षा देनेवाले मागधों को कहीं डूब मरना चाहिए। बस, हो चुका अब अपने पूर्वजों का नाम मत लो और चाहो तो शौक से इस प्रकार की 'शुद्ध' (?) हिंदी को अपनी मातृभाषा बना लो —

'अ' ने अदालत को अदब से आदाब कर इस प्रकार अर्ज किया:—मि० लार्ड्स ! आज जिस अपील को लेकर मैं इस अधिवेशन में खड़ा हुआ हूँ, वह अत्यंत अभिनव है। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस अमल का कोई मामला पहले नहीं उठा था और न उस पर कोई फैसला ही है कि नजीर में पेश किया जा सके। तो भी जहाँ तक हो सकेगा मैं बहुत साफ तौर से हुजूर को समझाऊँगा कि हमारा केस क्या है और हमारा दावा किन बातों पर निर्भर है। हुजूर ध्यान से सुनें (वही, हिंदी खंड, पृ० ६३)

'हिंदी-साहित्य' की इस शुद्ध हिंदी में 'अधिवेशन' 'अत्यंत' 'अभिनव, निर्भर' और 'ध्यान' कहाँ से आ गये, यही आश्चर्य है। इसी रंग को देखकर तो यार लोग कहा करते हैं कि 'हिंदी' हम

लोगों को चिढ़ाने के लिये गढ़ी गई है; नहीं तो उर्दू को तो हिंदुस्तान का बच्चा बच्चा समझता है।

बिहार-प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के 'हिंदीखंड' के विषय में कुछ और निवेदन करने की आवश्यकता नहीं, उसे आप स्वयं भी देख सकते हैं और सहज में ही समझ सकते हैं कि उसमें आपकी प्रिय संतान के लिये कौन-सी अनुपम अमिय घूँट है। रही हिंदुस्तानी की बात, सो आपको उसकी चिंता क्यों है। उसके रथ पर तो बड़े-बड़े 'बाबू' और 'महात्मा' हैं फिर उसे किसी की क्या पड़ी है कि आप की सुध ले! हाँ, उर्दू का रंग अवश्य देखिये यही तो लोचन-लाभ है ?

बिहार की हिंदी की आठवीं कक्षा के लिए साहित्य-संग्रह प्रथम भाग है तो उसकी उर्दू की 'आठवीं जमाअत' के लिये 'निसाबे जदीद, हिस्सः अव्वल' दोनों में 'हिंदुस्तानी' हैं, किंतु तनिक पाठभेद के साथ। परीक्षा के हेतु 'पं० जवाहरलाल नेहरू' को पढ़ देखिए। संभव है आप इस 'साहित्य-संग्रह' के हिंदुस्तानी क्रम को देखकर चकित रह जायँ और समझ न सकें कि किस न्याय से '६' के बाद '१' फिर '३' और फिर '२' पाठ्य क्रम रखा गया है और ४ एवं ५ को यों ही त्याग दिया गया है; परंतु इससे क्या? आपको तो 'साहित्य-संग्रह' और 'निसाबे जदीद' का हिंदुस्तानी एकता का लेखा लेना है। अच्छा, तो हिंदी की हिंदुस्तानी में लिखा गया है—

गांधी जी के बाद जिसका नाम सबसे ज्यादा जगजाहिर है उस पं० जवाहरलाल नेहरू का नाम भला किस बच्चे ने नहीं सुना होगा ?

(सा० सं०, पृ० १२१) एवं उर्दू की हिंदुस्तानी में कहा गया है—

गांधीजी के बाद जिन लोगों का नाम सबसे ज्यादह जगत जाहिर है उनमें पं० जवाहरलाल नेहरू का नाम भला किस बच्चे ने नहीं सुना होगा। ('निसाबे जदीद', पृ० ६७)

'साहित्य-संग्रह' और निसाबे जदीद' के पाठभेद पर विचार करना व्यर्थ है। साहित्य-संग्रह में कहा भी गया है कि हिंदुस्तानी के नमूने स्वरूप जिन लोगों का यहाँ संग्रह हुआ है उनमें कहीं कहीं दो-एक शब्द बदल लेने की जरूरत पड़ी है। निदान जब तक इस 'बदल' का भेद नहीं खुलता तब तक हम यही कहना चाहते हैं कि एकता का ढोंग यहाँ भी न चल सका और अंत में उक्त सम्मेलन का मुंह खुल ही गया। हिंदुस्तानी के पुजारियों को मैदान में आकर इस गुत्थी को सुलझाना चाहिये; अन्यथा उन्हीं का 'साहित्य संग्रह' उनकी पोल खोल रहा है और चुनौती देकर कह रहा है कि सब सही, किंतु क्या तुम सच्चे भी हो? बस, 'लिखित' की पाक-भावना का दर्शन करना हो तो कृपा कर हिंदी के कर्णधारों के पवित्र नामों का पाठ कीजिए। लीजिए वे आपके सामने प्रस्तुत हैं—

गौरी सिंघ, हीराचन्द, ओझागर, धरसिंघ ठाकुर, ...
گوری سنگھ هیراچند اوجھاگر دھرسنگھ ٹھاکر
गीतभटन, दोबदी, महाबीरपरशाद दोबरी, हेमराज दास
گیت بھٹن دوبدی مہابیرپرشاد دوبری هیمراج داس

(पृ० १४६) आदि। कहाँ तक कहें आप स्वयं अपने साहित्य के इतिहास को आँख खोल कर पढ़ जायँ और उर्दू के गूढ़ एवं व्यवस्थित भीतरी चक्र को भली भांति परख लें। ध्यान देने की बात यहाँ यह भी है कि उर्दू के इस 'इंतखाबात हिंदी अदब' में यह अंश भी उर्दू ही है, इसकी भाषा तो वही उर्दू है, पर विषय

'हिंदी अदब की तारीख' अवश्य है। निदान निष्कर्ष यह निकला कि उर्दू का बच्चा हिंदी को पढ़ नहीं सकता और हिंदी के बालक को उर्दू पढ़नी ही होगी। 'निसाबे जदीद' के 'हिंदी खंड' का प्रथम पाठ तो निश्चय ही उर्दू ठहरा, अब दूसरे पाठ 'रानी केतकी की कहानी' को लीजिये। उसके विषय में निवेदन है कि वह 'अरबी', 'फारसी', 'भाषा और संस्कृत' आदि से मुक्त उर्दू है। उसमें फारसी अरबी के शब्द नहीं हैं किंतु जो हिंदी शब्द उसमें लिये गये हैं वे टकसाली उर्दू के ही शब्द हैं कुछ शुद्ध हिंदी के कदापि नहीं देखिये—

किसी देस में किसी राजः के घर एक बेटा था। उसे उसके माँ बाप और घर के लोग कुँवर उदैभान करके पुकारते थे। सचमुच उसके जोबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी। (पृ० १५१)

'सैयद इंशा की हिंदवी छुट' * नामक लेख में दिखाया गया है कि 'रानी केतकी की कहानी' में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिसे 'उर्दू' के 'अच्छे से अच्छे' और 'भले से भले' लोग आपस में बोलते न हों। यही नहीं स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी उसे इसी विशेषता के कारण प्रमाण में रखा है और स्पष्ट कहा है कि वह उर्दू ही है। फिर भी जो लोग 'रानी केतकी की कहानी' को हिंदी मानने का हठ करते हों, उन्हें इसी 'निसाबे जदीद' की एक दूसरी कहानी 'एक कठिन रात' को भी पढ़ देखना चाहिए और यह खूब समझ लेना चाहिए कि यह उसके सम्पादक अथवा

* देखिए 'उर्दू का रहस्य' ना० प्र० सभा, काशी से प्रकाशित।

'जामिआ मिल्लिया' की दृष्टि में भी उर्दू की कहानी है। 'रानी केतकी' और 'एक कठिन रात' में अंतर केवल इतना है कि 'रानी केतकी' में कोई 'मुसलमानी' शब्द नहीं और 'एक कठिन रात'

में दो एक हैं। तो क्या 'हिंदुस्तानी कमेटी' बिहार के उर्दू छात्रों को यही पाठ पढ़ाना चाहती है कि 'मुसलमानी' का बहिष्कार ही हिंदी है। उत्तर हाँ के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। कारण स्पष्ट है। 'परिचय' के रूप में जो निर्देश किया गया है उसमें बड़ी चातुरी से झलका दिया गया है कि अपनी इसी विशेषता के कारण सैयद इंशा हिंदी गद्य के 'मूजिद' (ईजाद: आविष्कार करने वाले) बने। जो हो, इस पाठ के द्वारा जिन हिंदी शब्दों का बोध कराया गया है वे हैं १ लड़कपन, २ नारियाँ, ३ होता चला आया है, ४ लिखौटी, ५ दुख पड़ा, ६ सोचुकते (सकुचते), ७ मुखघात, ८ सफल (?), ९ लिखावट, १० आनन्दें, ११ सहाय, १२ अतीत, १३ भगोले, १४ सहती (सहित) १५ वघम्बर, १६ गाड़ (गाढ़); १७ विरोग, १८ आदेस, १९ जद, २० इंद्रासन, २१ तैसा, २२ अनक (?), २३ ईसरी, २४ उनके (को), २५ निरे, २६ उक्ति, २७ डालगों (?) रहस यह तड़ावे (?)। इस प्रकार हम देखते हैं कि उर्दू छात्रों को जो हिंदी शब्द सिखाये गये हैं वास्तव में वे प्रति दिन के बोलचाल के ठेठ शब्द हैं। यह बात दूसरी है कि अरबी लिपि के दोष के कारण उनके पहचानने में कठिनाई होती है और 'जामिआ मिल्लिया' तथा 'हिंदुस्तानी कमेटी' के लोग उन्हें नहीं समझ पाते अन्यथा वह बिहार के मुसलमानों की जीभ पर बसे हुए, प्रति दिन के घरेलू शब्द हैं।

उर्दू की उदारता, ईमानदारी और सचाई तो यह है कि उधर हिंदी के 'उर्दू भाग' में घोर उर्दू के ६ पाठ दिये गये हैं और एक से एक बढ़कर फ़ारसी अरबी के बीहड़ शब्द सिखाये गये हैं— 'निस्फुन निहार' 'सब्ज़ए ख़ाविदा', 'सबज़ाज़ार' और न जाने कितने बीहड़ शब्दों का कोश दिया गया है जो संख्या में २०० से

कम न होंगे। ऊपर से 'हिंदुस्तानी' की उर्दू अलग है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'बिहारप्रांतीय हिंदी-साहित्य-संमेलन' और दिल्ली की 'जामिआ मिल्लिया' का यह रूप दर्शनीय है। अतएव हम बिहार के प्रभुओं और कांग्रेसी साहित्यिकों से साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे कृपया अपने अभीष्ट को स्पष्ट करें और बिहार के प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को सदा के लिये अपना प्रिय खोजा बना लें जिसमें भविष्य में बी उर्दू को कोई आशंका न रहे और तपस्विनी हिंदी भी अपनी धूनी कहीं अलग रमाए। उसे मर मिटने में जो शान्ति मिलेगी वह इस 'विरोग' में नहीं।

१२—रेडियो का आदाब अर्ज

अखिल-हिंदी-साहित्य-संमेलन के पूना अधिवेशन के सभापति श्रीसम्पूर्णानन्द आज जेल में पड़े हैं। उर्दू के लोग उनके अभिभाषण के एक अंश को ले बेतरह बरस पड़े हैं। इलाहाबाद की तो एक कांग्रेसी उर्दू चौकड़ी ने महात्मा गांधी का आसन हिला दिया है और राष्ट्र की पक्की गोहार लगा दी है। उधर दिल्ली की 'हमारी जबान' इस मैदान में और भी आगे निकल गई है हैदराबाद के अखबार भी चिल्ला उठे हैं। बात यह है कि श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने अभिभाषण में लिख दिया कि—

सरकार का रेडियो विभाग तो हिंदी के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। कहने को तो यह अपने को हिंदी उर्दू से अलग रखकर हिंदुस्तानी को अपनी भाषा मानता है पर उसकी हिंदुस्तानी उर्दू का ही नामांतर है। मैंने शिकायतें सुनी हैं कि 'टाक्स' में संस्कृत के तत्सम शब्दों पर कलम चला दी जाती है। यह हो या न हो उसकी हिंदुस्तानी के उदाहरण तो हम नित्य सुनते हैं। यदि 'मृग' जैसा शब्द भी आ गया तो 'यानी हिरन' कहने की आवश्यकता पड़ती है पर 'शफ़क़', 'तसव्वुर', 'पेशकश' 'तखय्युल' जैसे शब्द सरल और सुबोध माने जाते हैं। रेडियो विभाग समझता है कि साधारणतया हिंदू मुसलमानों के घर यही बोली बोली जाती है। रेडियो का 'अनाउन्सर' कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में 'आदाब अर्ज' करना ही शिष्टाचार है।

श्री सम्पूर्णानन्द के कथन की मीमांसा तो दूर रही, उर्दू अन्तिम वाक्य को ले उड़ी। इलाहाबाद की चौकड़ी ने वही

सरसैयदी पाठ सुनाया और तपाक के साथ कह दिया कि जब मुसलमान अरब और ईरान से आये तब उनके पास यह 'आदाब अर्ज' नहीं था। वह तो हिंदू मुसलिम मेल से बना। 'हमारी जबान' कुछ और भी खुली। उसने बड़े तपाक से कह दिया—

ऐसा मालूम होता है कि हिंदी-साहित्य-संमेलन के सदर (सभापति) 'आदाब अर्ज है' को भी मज़हबी जुमलः समझते हैं। यह न अरब में मुस्तामल है न ईरान में, इसका मोहकमये रेडियो के तमद्दुन से कोई ताल्लुक नहीं और सरकारी मोहकमों का कोई अलग तमद्दुन नहीं होता बल्कि यह ऐम हिंदुस्तानी तमद्दुन के मुताबिक है।
(१६ जनवरी, अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू (हिंद) का पाक्षिक पत्र, दरयागंज दिल्ली, पृ० ३)

देखा आपने कितने पते की बात है? 'आदाब अर्ज' न तो अरब में बोला जाता है और न ईरान में, न मिश्र में बोला जाता है और न तूरान में। तो हिंदुस्तान के सिर पर ही यह भूत सवार क्यों है? बी उर्दू फरमाती हैं कि यह हिंदू-मुसलिम मेल की निशानी है। हिंदुओं और मुसलमानों ने नमस्कार और सलाम को छोड़कर आपस के व्यवहार के लिये इसे बना लिया। सच पूछिए तो उर्दू के इसी फतवे में सारा भेद छिपा है। तनिक सोचिए तो सही कि 'आदाब अर्ज' के लिये इतना कठोर आग्रह क्यों है क्या इसलिए कि इसमें इसलाम समेटकर रख दिया गया है अथवा इसलिए कि इसके द्वारा 'एशिया' के अन्य मुस्लिम मुल्कों अरब, ईरान आदि—से किसी प्रकार का संबंध जुट सकता है? नहीं, कदापि नहीं। बेचारे अरब ईरान तो इसे जानते ही नहीं। उन्हें तो वही सलाम प्रिय होगा जो आज भी इसी हिंदुस्तान में आदाब अर्ज से कहीं अधिक प्रचलित है और इसलाम

का साथी भी है। पर रेडियो का 'अनाउन्सर' सलाम नहीं कहता क्योंकि वह इसलाम का प्रचारक नहीं हिंदुस्तान का भक्त है। वह तो उर्दू हिंदी को छोड़ निरी 'हिंदुस्तानी' में 'आदाब अर्ज' कहता है। उर्दू में क्या कहेगा ? यह हम नहीं कह सकते। इसे तो उर्दू-परस्त ही बता सकते हैं। हम तो केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि रेडियों का 'अनाउन्सर कभी नमस्कार नहीं करता' और सदा उस 'आदाब अर्ज' का व्यवहार करता है जिसका मजहब और इसलाम से कोई संबंध नहीं, जिसका अरब और ईरान से भी कोई लगाव नहीं।

'आदाब अर्ज' अरबी है पर अरब इसका अर्थ नहीं जानते। क्यों ? बात यह है कि यह उनका शब्द नहीं यह तो हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी ·(अरबी) का शब्द है। हिंदुस्तानी में जितने शब्द गढ़े जायँगे सब अरबी के होंगे। अरब उनको भले ही न समझें पर हिंदुस्तानी तो अवश्य ही उन्हें समझेंगे क्योंकि वे उनके आमफहम शब्द जो होंगे ? बात भले ही गले के नीचे न उतरे पर मानना आपको यही पड़ेगा—एकता जो चाहिए।

रेडियो का अनाउन्सर सदा 'आदाब अर्ज' क्यों करता है ? यह समझ के बाहर की बात नहीं है। श्रीसंपूर्णानंदजी कहते हैं कि इसी को वह अपनी संस्कृति का शिष्टाचार समझता है। 'हमारी ज़बान' पहले तो 'संस्कृति को मजहब' की ओर खींच ले जाती है और अपनी दुनिया को यह दिखा देना चाहती है कि कांग्रेसी संपूर्णानंद भी इसलाम से चिढ़ते हैं और फिर उसका ठीक अर्थ 'तमद्दुन' लेती है और एक नई धौंस जमाती है कि इसका रेडियो के मुहकमे के तमद्दुन से कोई संबंध नहीं। ध्यान देने की बात है कि 'हमारी ज़बान' रेडियो के मुहकमे से भली

भाँति परिचित है और यह अच्छी तरह जानती भी है कि उसमें कैसे और किस कैंडे के जीव जानबूझकर भरे गये हैं, तभी तो आगे बढ़कर सफाई देती है कि उसके तमद्दुन से आदाब अर्ज का कोई संबंध नहीं! माना कि बाद में उसने स्पष्ट कह दिया है कि सरकारी मुहकमों का कोई अलग तमद्दुन नहीं होता पर इससे हमारे अर्थ में कोई गड़बड़ी नहीं होती, बल्कि वह और भी पक्का हो जाता है कि यहाँ भी 'हमारी जबान' के सामने रेडियो के मुसलमान हाकिम ही हैं जिनकी वकालत करना वह अपना धर्म समझती है।

श्रीसंपूर्णानन्द भी तो 'आदाब अर्ज' को किसी की संस्कृति नहीं समझते, तभी तो कहते हैं कि रेडियो का अनाउन्सर कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में आदाब अर्ज करना ही शिष्टाचार है। बात तो 'शिष्टाचार' की है पर उर्दू के हिमायती दुहाई देते हैं 'मजहब' और 'तमद्दुन' की! रेडियो का अनाउन्सर क्यों नमस्कार का नाम भी नहीं लेता और नित्य आदाब अर्ज की रट लगाता है? कारण यह है कि वह इसी को अपनी 'संस्कृति' का 'शिष्टाचार' समझता है। उसकी संस्कृति है क्या? राष्ट्र के उर्दूपरस्त पुजारी कहते हैं कि हिंदुस्तानी–वह हिंदुस्तानी जिसमें हिंदी का नाम भी नहीं है। आदाब अर्ज में हिंदीपन कहाँ है? यदि हिंदुत्व और हिंदीत्व का विनाश ही हिंदुस्तानी का परम लक्ष्य है तो यह आदाब अर्ज रेडियो को मुबारक हो। हम तो गँवारू बोली में इसे 'आधाबरद' ही समझते हैं, हमें ऐसी आधा बैली हिंदुस्तानी नहीं चाहिए।

हाँ, तो आदाब अर्ज का संबंध न तो अरब से है और न ईरान से, न तो मजहब से है और न इसलामी तमद्दुन से।

उसका सीधा लगाव तो उस मुगली दरबार से है जिसकी उपज कल की उर्दू है। उर्दू और आदाब अर्ज को मेलमिलाप की देन समझना सत्य का गला घोंटना है। उर्दू बिलगाव के लिये पैदा की गई है, कुछ मेलजोल के लिये अपने आप पैदा नहीं हो गई है, वास्तव में 'आदाब अर्ज भी इसी उर्दू का चचा है। यह भी 'आदाब बजा लाने' के लिए हीं ईजाद हुआ है। अतएव हमारा कहना है कि रेडियो का अनाउन्सर जिस 'आदाब' को 'अर्ज' करता है वह न तो हमारा है और न हमारे प्रिय हिंदी मुसलिम भाइयों का। तो फिर यह हिंदुस्तानी ही में रात-दिन क्यों चिल्लाया जाता है ? क्या हिंद का कोई अपना 'अदब' नहीं ? क्या यह सदा से मुगलों का गुलाम है ?

—-*—

१३—उर्दू का अभिमान

डाक्टर ताराचन्द राजनीति के पंडित, हिंदी के प्रतिनिधि, हिंदुस्तानी के प्रेमी और उर्दू के भक्त हैं। समय समय पर जिस जिस रूप में जिस जिस मुंह से, जो जो कहते रहते हैं सो सो तो सदा चलता ही रहेगा—मुंह रहते भला उनकी मुंहजोरी को कौन रोक सकता है ? परंतु तो भी कहना तो यही है कि भैया ! कुछ पढ़ कर लिखा करो। बचपन में जो पाठ पढ़ा था वह जीवन का नहीं जीविका का पाठ था। सो उससे अब राष्ट्र का काम नहीं चल सकता। सोचो तो सही 'ई' खयालस्त ओ मुहालस्त जो 'जुनूं' कहाँ की भाषा है और 'विश्व वाणी' न सही 'विश्व की वाणी' में इसकी गणना कहाँ की बोली में होगी ? आप की बोली यह भले ही हो पर आपके घर वा देश की तो यह बोली नहीं। चलते-चलते इस बोली ने तो आपका पता बता दिया कि वस्तुतः आप हो किस खेत की मूली और चाहते क्यों हो उर्दू को राष्ट्र-भाषा। परंतु नहीं, आपके बहाने हमें राष्ट्र को यह भी तो बता देना है कि वास्तव में आज आप जो ओट रहे हो उसका रहस्य क्या है। लो सुनो, आप ही तो कहते हो—

> अंग्रेजी में एक कहावत है कि झूठ को बार बार दोहराने से वह सच प्रतीत होने लगता है।

आपने तो अंगरेजी के आधार पर प्रतीति की ही बात कही पर यहाँ संस्कृत में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार चार ठगों ने मिलकर एक ब्राह्मण देवता को ठग लिया और उनके बछवा को बकरा ठहरा दिया। लो देखो, पढ़ो, गुनो और कहो तो सही

कि कुछ ठगों ने मिलकर कहीं आपको भी तो नहीं ठग लिया आप जैसे न जाने कितने मनीषी प्राणी को अपना पालतू 'सुअना' बना लिया। आप कहते हो—

१—उर्दू, संस्कृत और हिंदी की तरह मध्यदेशी भाषा है।

२—उसका साहित्य हिंदी के साहित्य से बहुत पुराना है, व्रज और अवधि के साहित्य से भी पुराना है।

३—उर्दू हिंदू मुसलमानों के मेल-जोल से बनी है। उसके साहित्य के निर्माण में हिंदुओं का बड़ा हिस्सा है।

४—पंद्रहवीं सदी से अठरहवीं सदी के आखीर तक उर्दू ही हिंदू मुसलमान शिष्टों की भाषा थी।

५—आज भी उसका हक है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिंदुस्तान के सभी निवासियों की बिला संप्रदायी तफ़्रीक के आम भाषा मानी जाए।

यही न जानते, मानते और चाहते हो? परंतु सच कहना, यह सीख आपको मिली कहाँ? किसी मकतब वा पाठशाला में? स्कूल का नाम लेना तो शायद ठीक नहीं। पर देखो उर्दू के विषय में टाँक लो कि उर्दू संस्कृत और हिंदी की भाँति मध्यदेश की भाषा नहीं, उर्दू की भाषा, हाँ, उर्दू की भाषा, हाँ, उर्दू की भाषा है। उर्दू का अर्थ? लो, पहले 'उर्दू' का प्रयोग देखो फिर उसका अर्थ। मीर अम्मन देहलवी की 'बाग़ोबहार' को ही उठाकर क्यों नहीं देख लेते? उसके दीबाचा में ही कई जगह मिल जायगा 'उर्दू की ज़बान' का प्रयोग। देखो, मीर अम्मन किस शान से लिखता है—

हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बुज़ुर्गों के मुँह से यूँ सुनी है।

निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।

अथवा 'उर्दू की बोली' के लिये सैयद इंशा अल्लाह खाँ की यह ललकार वा फटकार सुनो—

"मुश्फ़िक़ कड़ी कमान को कडरी न बोलिए,
चिल्ला के मुफ्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह? भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइए।"

बस, जिस 'उर्दू की बोली' में उस्ताद 'मसहफ़ी' भी खरे न उतरे उसे डाक्टर ताराचन्द अपनी 'मादरी ज़बान' समझते रहें पर उर्दू की 'सनद' इस जन्म में तो हासिल नहीं कर सकते, अगले की राम जानें।

'हाँ, तो उर्दू की बोली' का "माखज़" यानी स्रोत है शाहजहानाबाद यानी दिल्ली का लाल किला और उसी का नाम है 'उर्दू-ए-मुअल्ला' यानी संक्षेप में उर्दू। क्योंकि मुंशी मीर अली अफसोस फरमाते हैं—

बहुत मैंने यूँ इसकी तारीफ़ की,
है उर्दू की बोली का माखज यही।

(आराइशे मोहफ़िल)

अथवा इधर उधर अधिक भटकने से लाभ क्या? सैयद इंशा ने तो अपनी अद्वितीय पुस्तक 'दरियाए लताफ़त' में खोलकर स्पष्ट लिख ही दिया है—

ईं मजमा हरजा कि बिरसद औलाद आंहा दिल्लीवाल गुफ्तः शवन्द व महल्लः ईंशा महल्लः अहल देहली। व अगर तमाय शहर रा

फ़रा गीरन्द आं शहर राई उर्दू नामन्द। लेकिन जमा शुदन ईं हज़रात दर हेच शहरे सिवाय लखनऊ निज्द फ़क़ीर साबित नीस्त। गो वाशिन्दगाने मुर्शिदाबाद व अज़ीमाबाद बज़ात खुद उर्दू दां व शहर खुद रा उर्दू दानन्द।

अस्तु, सैयद इंशा के कहने का सीधा अर्थ यह है कि—यह (शाही) संघ जहाँ कहीं जाता है, इसकी संतान को 'दिल्लीवाल' और इसके महल्ले को दिल्लीवालों का महल्ला कहते हैं। और यदि इन लोगों ने सारे शहर को घेर लिया तो, उसको उर्दू कहते हैं। किंतु लखनऊ के अतिरिक्त और किसी शहर में उसका बस जाना इस जन की दृष्टि में सिद्ध नहीं होता। कहने को तो मुर्शिदाबाद और अजीमाबाद (पटना) में जाने वाले भी अपने आपको 'उर्दू दां' और अपने शहर को 'उर्दू' कहते हैं।

'उर्दू' का यह अर्थ कितना सटीक और साधु है इसका पता इसी से चल जाता है कि अभी कुछ दिनों पहले एक स्वर से सभी उर्दू के लोग 'उर्दू' यानी 'उर्दू-ए-मुअल्ला' यानी 'लाल किला' की ज़बान को शाहजहाँ की चीज़ समझते थे। इसका एकमात्र कारण यही था कि उसी ने 'लालकिला' बनवाया और नवाब सदरयार जंगबहादुर के विचार में तो ताशकंद और खूकन्द में अब उर्दू क़िला के माने में मुस्तामल है इसी-लिये दिल्ली का किला उर्दू-ए-मुअल्ला कहलाया होगा। (मोक़ा-लाते उर्दू, मुसलिम युनिवर्सिटी प्रेस, अलीगढ़, सन् १९३४ ई०, पृ० ६६)

अस्तु, उर्दू के विषय में यह तो स्पष्ट हो गया कि उसका वास्तव में मध्य देश से कोई संबंध नहीं और न वह संस्कृत तथा हिंदी की भाँति मध्य देश की भाषा ही है। भूलो मत। नोट करो

कि उर्दू वस्तुतः 'उर्दू' यानी शाहजहानाबाद के 'लालकिला' की ज़बान है। और यदि अब भी प्रतीत न हो तो कुछ और भी टाँक लो। देखो, कहते हो-'उसका साहित्य हिंदी के साहित्य से पुराना है। ब्रज और अवधी के साहित्य से भी पुराना है।' तो लो, सुनो। सुदूर दक्षिण से मौलाना बाकर 'आगाह' की गोहार आ रही है—

और हिंदुस्तान मुद्दत लग ज़बान हिंदी कि उसे ब्रज भाषा बोलते हैं रवाज रखती थी अगरचे लुग़ात संस्कृत उनको अस्ल उसूल और मख़रज फ़नून फोरुअ उसूल है। पीछे मुहावरा ब्रज में अल्फ़ाज अरबी व फ़ारसी बतदर्राज दाखिल होने लगे। सबब से इस आमेज़िस के यह ज़बान रेख़ता से मुसम्मा हुई। जद सुनाई व ज़हूरी नज्म व नस्र फ़ारसी में बानी तर्ज़ जदीद के हुए हैं वली गुजराती गज़ल रेख़ता की ईजाद में सभों का मुब्तदा और उस्ताद है। बाद उसके जो सखुन संजाने हिंद बरोज़ किए? वेशुब्हा उस नहज को उससे लिए। और मिन बाद उसको बासलूब ख़ास मख़सूस कर दिए और उसे उर्दू के भाके से मौसूम किए। (**मदरास में उर्दू, सन् १९३९ ई०, पृ०४६**)

ध्यान दो कि वेलोर (मदरास) से सन् १२११ हि० में मौलाना बाकर क्या कह रहे हैं और आप को 'आगाह' कर किस प्रकार अपने 'आगाह' उपनाम को सार्थक कर रहे हैं। कहते हैं कि पहले हिंदुस्थान में ब्रज भाषा का प्रचार था कि जिसका कोष, पिंगल, अलंकार आदि संस्कृत पर आश्रित था। पीछे उसमें अरबी और फारसी के शब्दों की भर्ती होने लगी जिससे उसका नाम रेखता पड़ा; जैसे फारसी के गद्य-पद्य में सनाई और जहूरी नवीन धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं वैसे ही वली गुजराती इस नई धारा के। उसके बाद सभी लोगों ने उसका अनुकरण किया और

फिर उसको एक ऐसे ढंग पर ढाल दिया कि उसका नाम हीं अलग उर्दू की भाषा रख लिया। मौलाना 'आगाह' के कहने का यह जो सारांश दिया गया है उसको देखते ही प्रकट हो जाता है कि सचमुच उर्दू हिंदी पर से ही बनी और वह थी अथवा आज है भी वस्तुतः 'उर्दू' की ही भाषा। हिंदी अपनी परम्परा को छोड़ कर उर्दू की भाषा वा उर्दू बनी तो कोई बात नहीं। उर्दू के लोग शौक से उसे मुँह लगाएँ। पर राष्ट्र के लोग तो इसी नाते उसे अपनाने से रहे। किसी पंडितंमानी राष्ट्रबंधु सुंदर तारा की हम नहीं कहते। हम तो देशाभिमानी देशी और भाषाभिमानी भाई की कहते हैं।

कहते हो (३) उर्दू हिंदू मुसलमानों के मेल-जोल से बनी है और कहते हो कि 'उसके साहित्य के निर्माण में हिंदुओं का बड़ा हिस्सा है'। होगा, उस बड़े हिस्से में आप का कितना है तनिक इसे भी तो बता देते अथवा किसी 'आबे हयात' में ही खोलकर अपने जैसों की कुछ दिखा देते। अरे! सुनो, देखो और समझो कि यह 'बड़ा हिस्सा' वहाँ किस दृष्टि से देखा जा रहा है। 'फरहंगे आसफ़िया' का नाम तो सुना है न? उसको उठाकर नहीं तो मंगा कर देखो और कहो कि 'सबब तालीफ़' के इस वाक्य का अर्थ क्या है—

धुनिए, जुलाहे, तेली, तंबोली, क़सबाती, देहाती जितने खेत के लिखे पढ़े थे सब लठ ले ले के लुग़ात निगार फ़रहंग नवीस बन गये। गो देहली या लखनऊ को आँख खोल कर न देखा हो मगर हमारे पहले एडीशन ने लाला भाइयों से लेकर दीगर क़लम क़साइयों तक को मोवल्लिफ़ मुसन्निफ़ बना दिया (जिल्द अव्वल, पृ० २८)

'धुनिए, जुलाहे को तो जाने दीजिए क्योंकि वे 'मोमिन मुसलमान'

हैं और हैं भी इस देश में मुसलमानों में आधे से अधिक। परंतु 'लाला भाइयों' और 'दीगर क़लम क़साइयों' को न भूलिए। कारण कि उनके विषय में उर्दू के इमाम डाक्टर मौलवी अब्दुल हक का कहना है—

उस वक्त के किसी हिंदू मुसन्निफ़ की किताब को उठाकर देखिए। वही तर्ज तहरीर और वही असलूबे बयान है। इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मनकबत से शुरू करता है। शरई इस्तेलाहात तो क्या, हदीस व नम क़ुरान तक बेतकल्लुफ़ लिख जाता है। इन किताबों के मुताला से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं, (उर्दू रिसाला, अंजुमाने तरक्क़ीए उर्दू, देहली, सन् १९३३ ई०, पृ० १४)

कहो तो सही मामला क्या है ? यह हिंदू-मुसलिम मेल-जोल है वा हिंदुत्व का विनाश ? क्या इसी को देखने के लिये पानी पी पी कर हिंद को सराप रहे हो और इधर उधर की बात सुना हिंदुस्तान को शिष्य मूँड़ना चाहते हो ? यदि नहीं, तो माजरा क्या है ? अरे ! कुछ तो समझ बूझ, देख-सुन कर लिखो। हिंदी और संस्कृत को पढ़ो गुनो और फिर कहो कि पीड़ा क्या है और हिंदू-मुसलिम का मिला-जुला रूप क्या है। उर्दू ? फिर वही बात ? अच्छा सिद्ध करो तो दिखाओ देखें कितने पानी में हो। अथवा व्यर्थ ही पानी पीट अपना पानी गँवा रहे हो।

कहते और बड़े तपाक से कहते हो कि (४) 'पंद्रहवीं सदी से अठरहवीं सदी के अखीर तक उर्दू ही हिंदू-मुसलमान शिष्टों की दुनिया, हिंद की मुसलमानी दुनिया भी इसके विषय में क्या कहती है। सुनो। मुहम्मदशाह 'रंगीला' का दरबार लगा है और कोई 'सुजान' गा रही है—

कितावमणि कुरान दीइमणि कलाम अबदनमणि
आदम कामन हवा रागनमणि भैरो भाषामणि
व्रज की जोतमणि दीइक दीपकमणि नार दोजक
शीतल मलो मिहिस्त एसी भाँत सुजान अस्तुति कीनी।
(संगीत रागकल्पद्रुम, द्वितीय भाग, पृ० २६४)

किंतु आप तो फारसी के जीव ठहरे। अतः लीजिए फारसी को, और देखिए भी इसे फारसी के ही चश्मे से। देखा? कट्टर आलमगीर औरंगजेब के शासन में उसके परम प्रिय पुत्र अथवा जिस किसी के लिये लिखा जा रहा है 'व्रजभाषा' का 'व्याकरण' और उसमें बताया जा रहा है—

व ज़बान अहल बृज अफ़शह ज़बानहा अस्त आंचि मियान दोआब गंगा व जमुना कि दो रूद मशहूर अंद वाकाशुदः अस्त, मिस्ल चन्द वार वगैरहः वह फ़साहत मंसूब अस्त। व अन्दवार नाम मौज़ा-अअस्त मारूफ़ व मशहूर। व चूं ईं ज़बान शामिल अशआर रंगीन व इबारत शीरीं व वस्फ़ आशिक़ व माशूक़ अस्त, व बर ज़बाग अहल नज़्म व साहब तबा वेश्तर मुस्तामल व जारी अस्त। विनाबराँ बक़वा-यद कुल्लियः आं परदाखतःआमद। (ए ग्रामर आव व्रजभाषा, विश्वभारती बुकशाप, कलकत्ता, १९३५ ई०, पृ० ५४-५)

अपनी भाषा में मीरजां खां के कहने का अर्थ है कि

व्रजभाषियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे चन्दवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चन्दवार एक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध स्थान है। चूँकि इसी भाषा में प्रिय-प्रिया की प्रशंसा और सरस एव अलंकृत कविता है तथा यही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है इसलिए इसके व्याकरण की रचना की जाती है।

देखा ? क्या दिखाई दिया ? यही न कि ब्रजभाषा ही शिष्ट, समृद्ध तथा व्यापक काव्य भाषा है और उसी में कोई 'मीरजा; भी अपना मुँह खोल लोगों के जी में पैठते हैं ? अरे यह वह समय है जब औरंगजेब सा कट्टर गाजी भी 'सुधारस' और 'रसना विलास' का भक्त है किसी अरबी का कदापि नहीं, विशेष जानकारी के लिए पढ़िए इस जन की 'मुग़ल बादशाहों की हिंदी को।

संभव है क्या, निश्चित ही है कि आपने 'मीरजा खां' के उक्त व्याकरण को नहीं पढ़ा और नहीं पढ़ा किसी ऐसे ग्रंथ को जिसमें उर्दू की हकीकत खोल कर बताई गई हो। तो भी आपने 'खान आरजू' का नाम तो अवश्य सुना होगा। कारण यह कि हिंदुस्तान के फारसी दानों में, तीन में वह भी एक हैं और हैं उर्दू के उस्ताद भी। सुना ? उनकी उर्दू धारणा को देखकर श्री हाफिज़ महमूद शेरानी साहब भी दंग रह जाते और आपको बताने के लिये ही मानों लिख जाते हैं--

सब से ज़्यादा जिस बात से ताज्जुब होता है यह है कि ख़ाना देहली की ज़बान और उर्दू को भी वक़अत की निगाह से नहीं देखते। उनके नजदीक हिंदुस्तानी ज़बानों में सबसे ज्यादा शाइस्ता और मुहज़्ज़ब ज़बान ग्वालियारी है। (ओरियंटल कालेज मैगजीन, लाहौर, नवम्बर सन् १९३१ ई०, पृ० १०)

कहने की बात नहीं कि ख़ान आरजू की ग्वालियारी ब्रजभाषा से भिन्न नहीं। प्रसंगवश इतना और जान लें कि ख़ान आरजू का निधन सन् ११६९ हि० में हुआ और इसी सन् में उर्दू के आदि उस्ताद मियां हातिम ने अपने 'दीवानज़ादा' के 'दीवाचा' में स्पष्ट लिखा—

दरीं विला अज़दह दवाज़दह साल अक्सर अल्फ़ाज़ रा अज़ा नज़र अन्दाख्तः लिसाने अरबी व ज़बाने फ़ारसी कि करीबुल फ़हम व फसीरुल इस्तैमाल बाशद व रोज़मर्रः देहली की मिर्ज़ायाने रिन्द दर मुहावरः दारन्द मंजूर दाश्तः। (सौदा, अंजुमनए तरक्कीए उर्दू, देहली, १६३६ ई०, पृ० २६ पर अवतरित)

शाह हातिम का स्पष्ट कहना है कि इस काल में ग्यारह बारह वर्ष तक बहुत से शब्दों को त्यागकर अरबी व फारसी के शब्द जो सुगमता से समझ में आते हैं और प्रयोग में अधिक आते हैं और दिल्ली के रोज़मर्रा को कि हिंद के मिर्ज़ाओं (मुगल राजकुमारों) और फसीह सूफियों के व्यवहार में रहे हैं, मंजूर किया गया है।

शाह हातिम ने यहीं अपने आप ही यह भी खोलकर कह दिया है—सिवाय आं ज़बाने हर दयार ता ब हिंदवी कि आं रा भाका गोयन्द मौकूफ करदः। (वही)

अर्थात् इसके अतिरिक्त चारों ओर की भाषा यहाँ तक कि हिंदवी को जिसे भाषा कहते हैं छोड़ दिया।

डाक्टर ताराचन्द क्या कहते हैं इसे कौन कहे; परंतु उनकी दशा ठीक वही है कि डाक्टर कहता है—रोगी मर गया, और रोगी कहता है—मैं जीवित हूँ। अब आप ही कहें सच्चा कौन है ? रोगी या डाक्टर ? देखिए तो सही, हातिम स्वयं कहते हैं कि हमने अड़ोस-पड़ोस की भाषा यहाँ तक कि हिंदी को भी छोड़ दिया और ग्रहण किया 'मिर्ज़ायाने हिंदी व फ़सीहाने रिंद' अर्थात् 'उर्दू की बोली' को और उसमें ला दिया अरबी-फारसी के मुहावरों को, और इधर हमारे डाक्टर ताराचन्द न जाने किस डाक्टरी

के जोम में और न जाने किस विद्या और न जाने किस बूते पर दोष देते हैं हिंदी को। गाल बजाने और कलम चलाने से उन्हें मुग्धों में प्रतिष्ठा और यारों में दाद मिल सकती है पर किसी शिष्ट और सभ्य समाज में उनका सत्कार नहीं हो सकता। कारण, वस्तुतः ऐसे ही वे जीव हैं जो न जाने कितने दिनों से इस राष्ट्र में विनाश का बीज बो रहे हैं और जानते इतना भी नहीं कि उर्दू उसी बीज की पौध है। लो यहीं उर्दू की उस दिव्य लीला को भी देख लो जो हातिम के कथनानुसार ११-१२ वर्ष से चल रही थी। सुनो, अदीबुल मुल्क नव्वाब सैयद नसीर हुसैन खाँ साहब फरमाते हैं। सुनो, जिन्होंने उर्दू की अनसुनी हो जाने पर लखनऊ के 'हिंदू-मुसलिम-पैक्ट' की सदस्यता को तलाक दे दिया था उनका कहना है किसी 'सभाई' या 'फोर्टविलियम कालेज' का नहीं। हाँ, कहते हैं—

उमदतुल्मुल्क ने, और उमरा के मशविरः से देहली में एक उर्दू 'अंजुमन' क़ायम की। उसके जलसे होते, ज़बान के मसयले छिड़ते, चीजों के उर्दू नाम रक्खे जाते, लफ़्ज़ों और मुहावरों पर बहसें होतीं, और बड़े रगड़ों झगड़ों और छानबीन के बाद 'अंजुमन' के दफ्तर में वह तहक़ीक़शुदा अल्फ़ाज़ व महारात क़लमबन्द होकर महफ़ूज किए जाते; और बक़ौल 'सियरुल मुताख़रीन' इनकी नक़लें हिंद के उमरा व रूसा के पास भेज दी जातीं और वह उसकी तक़लीद को फ़ख्र जानते और अपनी जगह उन लफ्ज़ों को फैलाते। (मुग़ल और उर्दू एम० ए०, उसमानी एंड संस, फियर्सलेन कलकत्ता, १९३३ ई०, पृ० ६०)

बिहार की हिंदुस्तानी कमेटी, नहीं नहीं, बिहार के सिर मढ़ी गई हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी कमेटी के आप भी एक मेम्बर हो

इसलिये इस 'अंजुमन' के 'बड़े रगड़ों झगड़ों' को खूब समझ सकते हो, अगर समझना और समझ से काम लेना चाहो तो; नहीं तो 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध से तो ब्रह्मा भी हार मान चुके हैं फिर किसी 'चन्द्र' की बिसात ही क्या? सो भी किसी 'चंद' को समझाने की?

अच्छा, तो देखो कि सन् ११६६ हि० में जो ११-१२ वर्ष से कोशिश हो रही थी सो क्या थी। यही 'उर्दू अंजुमन' की कोशिश न? तो ११६६ में से ११ व १२ को निकाल दो और कहो, खुल कर तुरत कहो कि सन् ११५७-५८ हिजरी में उमदतुल्मुक ने और उमरा के मशविरः से दिल्ली में उर्दू को जन्म दिया। घबड़ाओ नहीं देखो, सुनो और जानो कि नव्वाब सआदत अली खां के दरबार लखनऊ में सन् १२२३ हि० में सैयद 'इंशा' जैसे भाषा-शास्त्री ने किस सचाई से लिख दिया—

खुशबयानान आंजा मुत्तफ़िक़ शुदः अज़ ज़बानहाय मुताद्दिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूदः व दर बाज़े इबारत व अल्फाज़ तसर्रुफ़ बकारबुर्दः ज़बाने ताज़ः सिवाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व उर्दू मौसूम साख़्तन्द। (दरियाए लताफ़त, वही, पृ० २)

इसी को आप ही के साथी अल्लामा दत्तातिरि या 'कैफी' का किया हुआ, उर्दू अनुवाद, नही नहीं, तरजमा है—

यहां से खुशबयानों ने मुत्तफ़िक़ होकर मुताद्दिद ज़बानों से अच्छे अच्छे लफ़्ज़ निकाले और बाजे इबारतों और अल्फ़ाज़ में तसर्रुफ़ कर के और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा, (दरियाए लताफत, अंजुमनए तरक़ीए उर्दू, १६३५ ई०, पृ०, २)

और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा उर्दू क्यों रखा, कारण स्पष्ट है। वह उर्दू की भाषा जो थी।

'खुशबयानों' के विषय में सैयद इंशा ने जो कुछ लिखा है उसे पढ़ो तो पता चले कि हिंदू तो क्या, हिंदी मुसलमान तो क्या, बारहा के सैयद भी 'खुशबयान' नहीं गिने गए। कारण यही कि वे 'हिंदुस्तानी दल' के साथ थे और तूरानी' दल' से बराबर लोहा लेते थे। 'खुशबयानों' के बारे में संक्षेप में जान लें कि—

यह लोग तुर्कीउन्नस्ल थे या फ़ारसीउन्नस्ल या अरबीउन्नस्ल, यह हिंदो की मुताबक़त किस तरह कर सकते थे ?

(फरहंगे आपफिया, मोकद्दमा)

अब आप ही कहो, और सच कहो, दिल पर हाथ रखकर कहो, और मुँह खोल कर कहो, सचमुच कहो कि बात क्या है। कहते हो, फिर भी कहते हो—

(५) आज भी उसका हक है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिंदुस्तान के सभी निवासियों की बिला संप्रदायी तफ़रीक के आम भाषा मानी जाय।

कहो। किस मुँह से, और किससे क्या बोल रहे हो ? उधर से तो खम ठोंककर डंके की चोट पर कहा जा रहा है—

हम अपनी ज़बान को मरहठीबाज़ों, लावनीबाज़ों की ज़बान, धोबियों के खंड, ज़ाहिल खयालबन्दों के खयाल, टेसू के राग यानी बेसर व पा अल्फ़ाज़ का मजमूआ बनाना कभी नहीं चाहते और न उस आज़दानः उर्दू को ही पसंद करते हैं जो हिंदुस्तान के ईसाइयों, नवमुसलिम भाइयों, ताज़ः विलायत साहब लोगों, खानसामाओं, खिदमतग़ारों, पूरब के मनहियों कैम्पब्वायों और छावनियों के सतबेझड़े

बाशिन्दों ने एख़तयार कर रक्खी है। हमारे ज़रीफ़ुल तबा दोस्तों ने मज़ाक़ से इसका नाम पुड़दू रख दिया। (फ़रहंगे आसफ़िया; सबब तालीफ़)

काफिर हिंदुओं को पूछता ही कौन है? अरे! किताबी ईसाइयों और इसलामी 'नवमुसलिम भाइयों' तक की भी कभी हिंदू होने के नाते उर्दू में यह गत बनी! हम डाक्टर ताराचंद और उन जैसे विचार, नहीं नहीं 'धुनधारी' वाले प्राणी से कुछ नहीं कहना चाहते क्योंकि हम भली भांति जानते हैं कि वाँस पर चन्दन का प्रभाव नहीं पड़ता और कुत्ते की दुम कभी सीधी नहीं होती। पर हिंदी ईसाइयों और हिंदी नवमुसलिम भाइयों से इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि यदि कुछ भी तुम्हें अपनी तथा अपने देश की लाज है अपनी हिंदी को अवश्य अपनाओ और उस उर्दू को दूर से नमस्कार करो जो सन् ११५७ व ५८ हि० (सन् १७४४-५ ई०) में बिलगाव और इस देश के अपमान के लिये ईरानी-तूरानी किंवा परदेशी मुसलमानों द्वारा गढ़ी गई और जो आज भी हमारी भूल के कारण हम पर हावी हो हमारी छाती पर मूँग दल रही है, और देशी मुसलमानों का भी घोर अपमान कर रही है। है डाक्टर ताराचंद्र को इसकी खबर? 'या बढ़े अँधेरो होय' को ही चरितार्थ कर रहे हैं?

१४—राष्ट्रभाषा व संमेलन

[श्री मो० सत्यनारायण]

हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी होना चाहिए या हिंदुस्तानी, इस प्रश्न को लेकर आये दिन बड़ा वाद-विवाद होता आ रहा है। १९३८ में जब पूज्य महात्माजी ने हिंदी को राष्ट्र भाषा माना और उसके प्रचार के लिये नींव डाली तब हिंदी व हिंदुस्तानी का आपस में कोई झगड़ा नहीं था। उस समय में हिंदुस्तानी शब्द था और उससे भी हिंदी का ही अर्थ निकलता था। दक्षिण भारत में गत २४ सालों में हिंदी का जो प्रचार हुआ है इस प्रचार में स्पष्ट कहा गया है कि हिंदी से मतलब उस भाषा से है जिसे उत्तर के सभी वर्ग के लोग समझते व बोलते हैं और जो नागरी और फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। जब वह फ़ारसी में लिखी जाती है तो उर्दू[1] कहलाती है और नागरी में लिखी जाती है तो हिंदी कह-

---

१—यदि वस्तुस्थिति यही रही है तो दक्षिण भारत में भ्रम का प्रचार किया गया है, कोई हिंदी फारसी लिपि में लिखी जाने के कारण ही उर्दू नहीं कहलाती। हिंदी के अनेक मुसलमान कवियों ने 'भाखा' (भाषा) को भी फारसी लिपि में लिखा है पर उसे कभी भूलकर भी उर्दू नहीं कहा है। हाँ, हिंदी, हिंदवी वा हिंदुई अवश्य कहा है। भाषा और लिपि का संबंध शरीर और आच्छादन का है। आच्छादन के कारण नाम नहीं बदलता ; हाँ देखनेवाले को कभी कभी भ्रम अवश्य हो जाता है। हमें भाषा और लिपि के प्रश्न पर अलग अलग विचार करना चाहिए। अबोहर अधिवेशन ने बहुत कुछ यही किया।

लाती है। चूँकि नागरी वर्णमाला दक्षिण के लोगों को सुलभ थी, इसलिये दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार सभा ने अधिकाधिक नागरी से ही काम लिया है। जहाँ तक शैली व शब्दावली का सवाल है, सभा ने दोनों को प्रचारित करने की कोशिश की। चूँकि सभा का मुख्य उद्देश्य बोलचाल की भाषा का प्रचार करना था इसलिये संस्कृत व साहित्यसंबंधी कोई खास प्रश्न उसके सामने नहीं आया। फलतः आज दक्षिण भारत में जिस[२] हिंदी का प्रचार हो रहा है वह इस लायक है कि पंजाब और युक्तप्रांत में भी काम चल सके और विहार और सी० पी० में भी। सभा ने और दक्षिण के राष्ट्रभाषा-प्रेमियों ने राष्ट्रभाषा के सच्चे स्वरूप और उसकी उपयोगिता को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दिया है।

राष्ट्रभाषा का एकमात्र उद्देश्य राष्ट्र-संगठन है, प्रांतों को एक दूसरे से जोड़ना है, सभी वर्गों के लोगों को मिलाना है, राष्ट्रीय जीवन से सांप्रदायिकता को हटाना है राष्ट्रीय संस्कृति और साहित्य का निर्माण करना है। राष्ट्रीय जीवन में हिंदू आयेंगे, मुसलमान भी आयेंगे, पारसी आयेंगे और ईसाई भी वह किसी एक खास धर्मावलंबी व संप्रदायवादी की ही बपौती नहीं रह सकता है इसलिये राष्ट्रभाषा के विकास में भी सभी धर्मों और संप्रदायों का हाथ रहेगा। वह उस हद तक हमेशा अपूर्ण रहेगा जिस हद

२—यदि प्रस्तुत लेख उसी हिंदी में लिखा गया है तो उससे हमारा कोई विरोध नहीं। हम उसे राष्ट्रभाषा मानने को सहर्ष तैयार हैं। पर दक्षिण भारत को इस बात का पता होना चाहिए कि वह हिंदुस्तानी नहीं जिसे फारसी लिपि में लिख देने से यार लोग उसे उर्दू समझ लें।

तक किसी संप्रदाय[3] ने उसका बहिष्कार किया हो अथवा किसी संप्रदाय ने उसे क़ैद कर रखा हो इसलिये कोशिश यह होनी चाहिए कि राष्ट्रभाषा सभी की हो, सभी उसके हों।

गत २५ वर्षों में राष्ट्रभाषा प्रचार का कार्य हिंदी साहित्य-संमेलन के सुपुर्द रहा। महात्मा गाँधी का, जो भारत के राष्ट्रीय युग के प्रथम व प्रधान प्रवर्तक हैं, सहयोग उक्त संमेलन को प्राप्त होता रहा। उनके सहयोग से संमेलन के कार्य पार लग गए। आज वह हिंदुस्तान में एक व्यापक संस्था हो गई है। स्वयं गांधीजी भी दो बार—१९१८ में एक बार, और १९३५ में दूसरी बार—इंदौर में उसके अध्यक्ष रह चुके हैं। उन्होंने अपने तन मन से संमेलन में जीवनसंचार तो कराया ही, साथ ही उसे भरपूर धन भी दिलाया। अगर महात्माजी का सहयोग संमेलन को प्राप्त नहीं होता तो संमेलन के कार्य का क्या रूप होता, इसकी कल्पना करना आसान है। साहित्यसंमेलन का यद्यपि प्रधान कार्य साहित्य-निर्माण का था फिर भी प्रचारकार्य ने उससे ज्यादा महत्त्व पाया। उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भाषा के प्रचार की तुलना में बहुत ही कम रहीं। इस सारे प्रचार के कार्य को महात्माजी ने और उनके अनुयायियों ने बढ़ाया है। दक्षिणी-भारत-हिंदी-प्रचार सभा की नींव संमेलन के द्वारा महात्माजी ने डलवाई और तब से लेकर अब तक इस सभा के वे पोषक और जीवन-संचारक रहे हैं। राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की नींव उन्हीं के प्रताप के बल पर पड़ी थी। आज यह समिति भी बड़े पैमाने पर अपने संगठन का निर्माण

३—किसी संप्रदाय-विशेष के बहिष्कार से उसकी अपूर्णता सिद्ध नहीं होती। हाँ, अंग-विशेष के अभाव में ऐसा माना जा सकता है।

कर चुकी है। राष्ट्रभाषा का कार्य आखिर अहिंदी प्रांतों में करना है। दक्षिण के चार—आंध्र, कर्नाटक, तमिल और केरल प्रांत; पश्चिम के चार—सिंध, महाराष्ट्र, बंबई और गुजरात और पूर्व के तीन—आसाम, बंगाल और उड़ीसा—कुल ये ग्यारह प्रांत राष्ट्र-भाषा के प्रचार के क्षेत्र समझे जाते हैं। इन प्रांतों के प्रचार के कार्य को महात्माजी का नेतृत्व प्राप्त है। उनके रहते कोई उनसे बढ़कर इस कार्य का नेतृत्व कर भी नहीं सकता और और करे भी तो वह सर्वमान्य भी नहीं हो सकता। संमेलन के अधिकारियों को भी यह बात अच्छी तरह मालूम है।

गत दिसंबर में पंजाब प्रांत के अबोहर में संमेलन का जो अधिवेशन हुआ उसमें संमेलन ने एक प्रस्ताव में भाषासंबंधी अपनी नीति का स्पष्टीकरण किया है। उस प्रस्ताव के कुछ अंश यों हैं—

वास्तव में उर्दू भी हिन्दी से उत्पन्न अरबी फारसी मिश्रित एक रूप है। हिंदी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है। किंतु उर्दू की साहित्यिक शैली जो थोड़े से आदमियों में सीमित है—हिंदी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक् स्थिति संमेलन स्वीकार करता है और हिंदी की शैली से उसे भिन्न मानता है।

हिंदुस्तानी या हिंदुस्थानी शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसीलिये हुआ करता है कि वह देशी शब्दव्यवहार से प्रभावित हिंदी शैली तथा अरबी-फारसी शैलीव्यवहार से प्रभावित उर्दू शैली दोनों का एक शब्द से, एक समय में निर्देश करे। कांग्रेस, हिंदुस्तानी एकाडमी और कुछ गवर्मेंट विभागों में इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है और होता है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिये भी करते हैं जिसमें हिंदी और उर्दू शैलियों का भी मिश्रण हो।”

आगे चलकर प्रस्ताव में यों लिखा है - इन निश्चित अर्थों में उर्दू और हिंदुस्तानी शब्दों का प्रचलन है। इस विषय में संमेलन का कोई विरोध नहीं है। किंतु संमेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अपनी समितियों के काम में हिंदी का और उसके लिये हिंदी शब्द का व्यवहार प्रचलित करता है।--

संमेलन ने राष्ट्रभाषा के लिये हिंदी शब्द के प्रयोग व प्रचार में निष्ठा और दृढ़ता से संलग्न होने की भी देशभक्तों से अपील की है।

इस प्रस्ताव से साफ जाहिर[४] होता है कि आगे संमेलन से संबंध रखने वाला कोई भी व्यक्ति व संस्था हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती, न उर्दू शैली व फारसी[५] लिपि से ही

४--हमारी दृष्टि में 'संमेलन' का आशय यह नहीं है। 'संमेलन' अपनी सीमा के भीतर 'हिंदी' को ही अपनाता है और घोषित करता है कि उसके क्षेत्र में हिंदुस्तानी नहीं हिंदी ही का शासन है। अन्य क्षेत्रों में कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था 'हिंदुस्तानी' का व्यवहार कर सकती है। कांग्रेस ने हिंदू सभा को सांप्रदायिक कह दिया है पर हिंदू शब्द को नहीं। संमेलन 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में मानता है पर उसे हिंदी का पर्याय नहीं मानता। उसकी दृष्टि में हिंदी तो भाषा है और हिंदुस्तानी उसकी चाहे जैसी भी हो, शैली मात्र। भाषा और शैली को पर्याय मानना दुराग्रह और अविवेक है, शास्त्र और सत्याग्रह कदापि नहीं।

५--हमारी समझ में हिंदी-भाषा का प्रचार फारसी लिपि क्या किसी भी लिपि के द्वारा किया जा सकता है पर संमेलन को नागरी लिपि का प्रचार ही इष्ट है। संमेलन उर्दू को हिंदी की फारसी वा

उसका कोई ताल्लुक रह सकता है। संमेलन ने यह काम दूसरों का मानकर अपना दरवाजा उसके लिये बंद कर लिया है।

आखिर कोई गैरहिंदी प्रांतवासी हिंदी क्यों सीखे? वह हिंदी इसीलिये सीखता है कि वह राष्ट्रभाषा है। राष्ट्र ने एक कंठ से हिंदी को राष्ट्रभाषा माना है। उसे सीखकर अपने देश के सभी प्रांतवासियों से वह मिल सकता है और बात कर सकता है। गैर-हिंदी[६] प्रांतवासी की राष्ट्रभाषा में न तो जातिभेद है, न भाषाभेद और न है वर्गभेद। धर्म उसके लिये गौण है। आचार-विचार उसके लिये अप्रधान है अगर हिंदी सीखने से उसकी राष्ट्रीय भावना पूरी नहीं हुई, वह सभी प्रांतवासियों के नजदीक नहीं आ सका तो हिंदी से उसका कोई प्रयोजन नहीं। उसे किसी संस्था, व्यक्ति या विचारधारा से मतलब नहीं। उसका मतलब अपने ध्येय से है, इस ध्येय से न वह बहक सकता है न वहकाया जा सकता है। अगर कोई समझे कि गैरहिंदी प्रांतवासी हिंदी की सुंदरता, व्यापकता और साहित्यिक लोच से मोहित है, इसलिये उसके

परदेशी शैली मानता है पर उसे राष्ट्रीय शैली नहीं मानता। क्या महात्मा गांधी उसी को राष्ट्रीय मानते हैं? यदि हाँ, तो उसकी राष्ट्रीयता के कारण अथवा मुसलमानी भावना या मेल-जोल की रक्षा के हेतु सत्य कारण अथवा नीतिवश?

६—हिंदी प्रांतवासी की हिंदी भाषा में भी कोई भेद नहीं है, है तो उसी, उसी उर्दू में जिसे भूल के कारण लोग फारसी लिपि में लिखी हिंदुस्तानी यानी हिंदी समझते हैं। सैयद इंशा ने दरियाए-लताफत' में इस भेद-भाव का पूरा विवरण दिया है। राष्ट्रभक्तों को उसका अध्ययन करना चाहिए।

पीछे पड़ा है, तो इस कथन में पूर्णसत्य नहीं धर्मसत्य ही है। अगर वह आकर्षित है, तो अपने ध्येय की सुंदरता और महत्त्व-पूर्णता की तरफ। इसलिये सिर्फ हिंदी[7] शब्द को लेकर वह अपने ध्येय की तरफ नहीं बढ़ सकता हो तो शब्द का वह मोह नहीं रखेगा। अपने आदर्श तक पहुँचने के लिये वह अपने साधनों को पूर्ण बनाने का यत्न करेगा और अपना रास्ता साफ करेगा। संमेलन का प्रस्ताव आज कहता है कि--

हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसलिये हुआ करता है कि वह देशी शब्दों द्वारा प्रभावित हिंदी शैली तथा अरबी फारसी शब्दों से प्रभावित उर्दू शैली, दोनों का एक शब्द से एक समय निर्देश करे। कांग्रेस, हिंदुस्तानी एकाडमी और कुछ गवर्मेंट विभागों में इसी अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है और होता भी है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिये भी करते हैं जिनमें हिंदी उर्दू शैलियों का मिश्रण है किंतु संमेलन ने अपने २४ वें अधिवेशन में एकी प्रस्ताव पास किया था जिसमें हिंदी के फारसी लिपि में लिखे जाने क स्थिति को मान्यता दी थी और अपने २९ वें अधिवेशन में पूना में, १९४० में उसी प्रस्ताव को थोड़ा सा परिवर्तित कर यों पास किया था—

इस संमेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न प्रांतों में कुछ गलतफहमी फैली हुई है।

७—जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि सचमुच हिंदी शब्द ही राष्ट्रीयता का द्योतक है, 'हिंदुस्तानी' शब्द सांप्रदायिक और उर्दू संकीर्ण है। कोई भी सच्चा राष्ट्रप्रेमी जो उर्दू के इतिहास से अनभिज्ञ है, उसके संकेत को राष्ट्रभाषा के लिये सह नहीं सकता, उसका नाम लेना तो दूर रहा।

लोग उसके लिये अलग अलग राय रखते हैं। इसलिये यह संमेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से वह हिंदीस्वरूप मान्य समझा जाय जिसका हिंदू, मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं; जिसमें रूढ़, सर्वसुलभ अरबी फारसी अँगरेजी या संस्कृत शब्दों या मुहाविरों का बहिष्कार नहीं होता और जो साधारण रीति से राष्ट्रलिपि नागरी में तथा कहीं कहीं फारसी में लिखा जाता है।

१९३५ में इंदौर के संमेलन में जो पहली व्याख्या हुई थी यह उसका शाब्दिक परिवर्तित रूप है। भाषा के नाम के बारे में व्याख्या अब अबोहर अधिवेशन में हो गई है। इन दोनों को साथ मिलाकर कोई राष्ट्रप्रेमी पढ़े तो तुरंत यही कहेगा कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम[८] हिंदुस्तानी हो और उसका स्वरूप सरल, सुलभ और आमफहम हो। संमेलन ने तो इस तरह कहने के लिये हमारा रास्ता बंद ही कर दिया है यह नीति संमेलन की

८—यदि इस प्रस्ताव का सीधा यही अर्थ होता है तो नागपुर तथा मद्रास के अधिवेशन में 'हिंदी-हिंदुस्तानी' वा 'हिंदी यानी हिंदुस्तानी' की धूम नहीं रहती। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि स्वयं महात्मा गांधी ने भी इसी कारण नागपुर में केवल 'हिंदुस्तानी' शब्द को ग्रहण नहीं किया और 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का ऐसा जाल बिछाया कि हिंदी चौपट हो गई और उर्दू की बन आई। कहना न होगा कि हिंदी-उर्दू-संघर्ष का यह नया सूत्रपात्र महात्मा गांधी के श्रीमुख से नागपुर में ही हुआ और वहीं से मौलवी अब्दुलहक हिंदी के विनाश के लिये उठ खड़े हुए। इंदौर में महात्मा गांधी ने जिन्हें मोहने का प्रयत्न किया था उन्होंने उनकी धजियाँ उड़ाई और उन्हें उर्दू का शिकार बनाया।

साहित्यिक प्रगति के लिये भले ही लाभदायक हो लेकिन राष्ट्रभाषा-प्रचार की प्रगति के लिये बहुत ही विघातक है। क्योंकि जब संमेलन स्वयं मानता और देखता भी है कि हिंदी नागरी लिपि और फारसी लिपि में लिखी व[९] पढ़ी जाती है तो राष्ट्रभाषा प्रेमियों को क्यों बंधन में डालें ?

हिंदी को संस्कृत-प्रचुर बनाने में एक तर्क यह पेश किया जाता है कि हिंदी का प्रगतिशील स्वरूप भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं से निकट संबंध रखे। क्योंकि भारत की सभी प्रांतीय भाषाएँ संस्कृत प्रचुर हैं। उनकी प्रगति-सूचकता भी संस्कृत से ही तअल्लुक रखती है। अगर हिंदी भी संस्कृत-प्रचुर[१०] बना दी जाय

९—हिंदी-विरोध का मूल कारण लिपि ही है। उर्दू प्रेमी भली भाँति जानते हैं कि फारसी वा अरबी लिपि इतनी दोषपूर्ण है कि उसमें कोई भी भाषा भलीभाँति लिखी-पढ़ी नहीं जा सकती। उर्दू लिपि की इसी दुरूहता के कारण संस्कृत और भाषा के कितने ही अत्यंत प्रचलित शब्द उर्दू में त्याज्य हो गये और मतरूक की पूरी बही बन गई। अतएव फिर हम यही कहना चाहते हैं कि भाषा और लिपि के प्रश्न को एक में न सानें कृपया उन्हें अलग अलग रहने दें।

१०—हिंदी को 'संस्कृत-प्रचुर' बनाने का प्रश्न नहीं है। भारत की सभी देशभाषाएँ संस्कृतनिष्ठ हैं। हिंदी का विकास भी ठीक उसी क्रम से और ठीक उसी ढर्रे पर हो रहा है जिस क्रम से और जिस ढर्रे पर अन्य देशभाषाओं का। फिर समझ में नहीं आता कि राष्ट्र का सारा कोप हिंदी पर ही क्यों हो रहा है। क्या इसका एकमात्र कारण यही नहीं है कि उसने एक परदेशी शैली को भी अपना अंग बना लिया और हमारी उदार सरकार ने प्रसाद अथवा नीतिवश कुछ काल के

तो अन्य प्रांतवासियों को हिंदी सीखने में बड़ी सुविधा होगी। इसमें संदेह नहीं कि भारत के सभी अहिंदी प्रांतों की भाषाओं में संस्कृत का काफी प्रचलन है और हिंदी प्रांतों से किसी किसी प्रांत में संस्कृत भाषा व साहित्य या संस्कृत प्रभावित भाषा का अधिक प्रचार है। संस्कृत से ही अधिक फायदा उठाना हो तो उन्हें हिंदी प्रांत की तरफ देखने की आवश्यकता नहीं। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि दक्षिण भारत से शंकर, रामानुज, मध्व और वल्लभ जैसे सशक्त-साहित्यज्ञों ने समूचे भारत की विजययात्रा की थी। महाराष्ट्र और बंगाल से भी संस्कृत साहित्य की धाराएँ कम नहीं चली हैं। अगर संस्कृत-प्रचुर संस्कृत-प्रधान भाषा ही हमें लेनी

लिये उसी को सब कुछ बना दिया? यदि हाँ, तो आपकी सच्ची राष्ट्रीयता कहाँ गई! आप अपनी भाषा की परंपरा पर तो आँच आने नहीं देते पर चाहते हैं कि हमारी परम्परा भाड़ में चली जाय यह कहाँ की नीति है? भारत में तो ऐसा होने से रहा। हमें भी तो अपनी परंपरागत भाषा की रक्षा का उपाय करना है? कामकाजी भाषा से आपका काम चल सकता है पर क्या हमारा हँसना और रोना भी उधार ही रहेगा? आखिर हम किस भाषा में सभ्य संसार को अपना मुँह दिखायंगे? फारसी वा अरबी? आपकी हिंदुस्तानी (? ने हमारा कितना विनाश किया है, इसका भी कुछ पता है! राजेंद्री अथवा कांग्रेसी हिंदुस्तानी को पढ़कर कितने आंध्र वा द्रविड़ सीमांत में व्याख्याता बने यह तो हम नहीं जानते पर इतना देखते अवश्य हैं कि हमारे भोले भाले बच्चे किस प्रकार क्या से क्या बनाये जा सकते हैं। अथ अन्य भाषा-भाषियों को भी यह समझ रखना चाहिए कि हम 'राष्ट्रभाषा' की मृगमरीचिका में अपनी मातृभाषा को खो नहीं सकते।

है तो हमें उत्तर ही की ओर टकटकी लगाकर देखने की जरूरत नहीं। इस लेन देन में उनका अपना दिवाला कभी निकल ही नहीं सकता। इस तर्क में जितना फायदा दीखता है उतना फायदा तो नहीं, उलटे कुछ नुकसान होने की संभावना अवश्य दीखती है। वह यह है कि बोलचाल की भाषा में भी काफी संस्कृत शब्दों की प्रचुरता आवे तो प्रांतीय भाषाओं का अस्तित्व कभी मिट जाने की संभावना भी हो सकती है। राष्ट्रभाषा तो एक अंत-प्रांतीय माध्यम ही रहेगी। वह कभी अप्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय भाषा के क्षेत्र पर आक्रमण नहीं कर सकती और न ऐसे आक्रमण का कोई स्वागत ही कर सकता है। वर्तमान समय में जो संस्कृत-प्रचुरता हिंदी में है वह काफी है। उसकी वृद्धि करने में कोई अप्राकृतिक या शीघ्रतापूर्ण प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। इसमें हिंदीवादियों की तरफ से जो उत्साह; शीघ्रता वा आतुरता दीखती है, उसके कई कारण हैं। उनमें सबसे अधिक जबरदस्त कारण यह है कि वे उर्दू वाली भाषा के संपर्क व प्रभाव से अपने को दूर रखना चाहते हैं और उर्दू में विजातीयता और हिंदी में सजातीयता देखने लगे हैं। जिस भाषा[११] का वर्षों उपयोग किया

११—यह कथन नितान्त भ्रम-पूर्ण है। उर्दू की स्थिति विचित्र है। उसकी लिपी राजलिपि रही और वह पतित हिंदी मुगल बादशाहों की भाषा। उसका प्रचार जब अँगरेजों के हाथ में आया और शिक्षा के द्वारा उसके प्रचार की सूझी तब उसी प्रकार उसका विरोध हुआ जैसे आज हो रहा है। पर जिस राज्यलोभ के कारण आज उसका सत्कार किया जा रहा है उसी के लिए उस समय भी किया गया। क्या यह भी दुर्भाग्य की बात कही जा सकती है कि जिस कांग्रेस का काम रात दिन अँगरेजी में होता रहा है उसी का उससे इतना वैमनस्य है?

है और जिसके बीच वे रहे हैं उससे उनको प्रेम नहीं हो पाया है, यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है। लेकिन यह हम भूल नहीं सकते कि जिस भाषा की शैली या शब्दावली ने इस देश में सदियों तक रहकर इस देश की सेवा की है उन्हें निकाल[१२] फेकना हमारे लिए न्याय की बात नहीं होगी। वे हमारे हो गए हैं। उनसे हमें अवश्य सेवा लेनी ही चाहिए। उन्हें अपनी संपत्ति समझकर अपना लेने ही में हमारा श्रेय है।

हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने में हम दूसरा तर्क यह पेश करते आए हैं कि वह हिंदू और मुसलमानों की संमिलित संपत्ति है। वह हिंदू और मुसलमान क्या, सभी वर्गों की वारिस है। उत्तर की बहुसंख्यक जनता की वह बोलचाल की भाषा है। उत्तर के शहरों व ग्रामों में वह बोली व समझी जाती है। हिंदू और मुसलमानों ने उसका सारे भारत में प्रचार किया है। उसकी बोलचाल का रूप दोनों को मान्य है। इसी के द्वारा हिंदू और मुसलमान उत्तर के ही नहीं बल्कि सारे देश के लोगों से मिल सकते हैं। वह हमारी राष्ट्रीयता का प्रतीक है। राष्ट्र की वाणी है। हम उसी को माध्यम बनाकर राष्ट्र का उत्थान करेंगे। तब वह किसी संप्रदायविशेष की, प्रांत या वर्ग-विशेष की भाषा रह गयी तो उस हद तक क्या उसकी उपयोगिता में कमी नहीं आयेगी? साथ ही उसकी राष्ट्रीयता में और उसके राष्ट्रवाणी होने में भी? अतः यह आवश्यक

१२—हिंदी के किसी भी पुजारी की कभी भी यह नीति नहीं रही कि सभी विदेशी शब्दों को दूर करो। सच पूछिये तो यह भी उर्दू का प्रोपेगंडा है जिसका सूत्रपात स्वयं सर सैयद अहमद खाँ ने दलबल के साथ किया और भोले भाले हिंदुस्थानियों ने उसे अक्षरशः मान लिया।

१२

है कि उसके भिन्न भिन्न स्वरूप और भिन्न भिन्न शैलियाँ और भिन्न भिन्न धाराएँ समूचे राष्ट्र की संपत्ति समझी जायँ। परस्पर-विरोधी[13] न मानी जायँ। उसके व्यापक व प्रचलित स्वरूपों व शैलियों का बेरोक टोक अध्ययन करने का प्रोत्साहन दिया जाय। जो संस्था यह कार्य दिल खोलकर बिना किसी बंधन के करेगी और जो व्यक्ति इन विचारों का साथ ही इन स्वरूपों का प्रचार करेंगे वे ही पूरे राष्ट्रीय कहलायेंगे। अन्यथा उनकी राष्ट्रीयता सीमित रह जायगी।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न उत्तर भारतीयों के लिये एक अर्थ और दूसरे प्रांतों के लिये दूसरा अर्थ रखता है। जब महात्मा गांधी जी ने हिंदी का राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार शुरू कराया तब उनके सामने विशुद्ध राष्ट्रीयता को छोड़कर और कोई दूसरा उद्देश्य नहीं था। उनकी राष्ट्रीयता में न संकुचित राष्ट्रीयता के लिये

१३—हम उर्दू क्या अरबी और फारसी के उस साहित्य को भी राष्ट्र की संपत्ति समझते हैं जिसकी रचना इस उपजाऊ भूमि में हुई है। हमें श्री मुहम्मदअली जिनाह का भी ठीक उसी प्रकार अभिमान है जिस प्रकार महात्मा गांधी का। हम दोनों को राष्ट्र की संपत्ति समझते हैं। परंतु क्या हम इसी नाते उन्हें परस्पर-विरोधी नहीं मानते? जब उर्दू शैली का सभी शैलियों से विरोध है तब हम उसे विरोध की दृष्टि से क्यों न देखें और क्यों न आशा करें कि किसी दिन उसकी दृष्टि सुधर जायगी। हमें उर्दू की दृष्टि को सुधारना है, उसकी प्रवृत्ति को ठीक करना है न कि उसके विरोध को अचल और अमर बनाकर अपनी आँख को ही फोड़ लेना है जिससे सारा भेदभाव दूर हो जाय।

स्थान है, न अनुदार सांप्रदायिकता के लिये ही। समूचा भारत अपने प्रांत-भेदों, वर्ग-भेदों, भाषा-भेदों व विचार-भेदों को लेकर उसमें आ जाता है। जब राष्ट्रभाषा प्रचार के उद्देश्य के संबंध में उनके विचार कहीं कहीं[१४] संदेह की दृष्टि से देखे जाने लगे तब उन्होंने इंदौर के संमेलन में उसकी व्याख्या कराई। और वह व्याख्या सर्वमान्य (?) और कूलंकर्ष थी। अब उस व्याख्या को बदलकर संमेलन ने अपनी भाषानीति की अबोहर संमेलन में जो व्याख्या की वह सर्वमान्य नहीं कही जा सकती; न उसमें राष्ट्रीयता व राष्ट्रभाषा का कूलंकर्ष रूप ही मिल सकता है।

इंदौर संमेलन में लिपि के प्रश्न पर भी प्रकाश डाला था। हिंदी को राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि को नागरी और उर्दू स्वीकार किया; यद्यपि संमेलन की शक्तियाँ अधिकतर नागरी के प्रचार करने में लगती आई हैं। उर्दू लिपि के प्रचार में या जानने में उनको कोई आपत्ति में नहीं थी। इसका यह कारण है कि सारे पंजाब में आज भी उर्दू लिपि[१५] ही चलती है और यू० पी० की

१४—इस 'कहीं कहीं' का कच्चा चिट्ठा जब सामने आ गया तब 'संमेलन' को अपनी 'हिमालयी' भूल का पता चला और उसने अपनी नीति को स्पष्ट कर दिया। उधर महात्मा जी के सब कुछ कहने पर भी वह संदेह दूर न हुआ बल्कि और भी दृढ़ होता गया। और यदि महात्मा जी की यही नीति ऐसी ही रही तो उसकी सोर पाताल में खिल जायगी और फिर एकता का प्रश्न सीधे परमात्मा के हाथ में पहुँच जायगा।

१५—यह कथन भी भ्रमपूर्ण है। पंजाब में नागरी और गुरुमुखी का भी प्रचार है। हाँ, सरकारी कामकाज में फारसी लिपि ही बरती जाती है, नागरी नहीं। रही युक्तप्रांत की बात, सो यहाँ सरकार की

अदालतों, कचहरियों और स्कूलों में भी उर्दू लिपि का भरपूर प्रचार है। साधारण तौर पर यू० पी० व बिहार के निवासी उर्दू लिपि से परिचित हैं। उर्दू लिपि भी काफी लोग जानते भी हैं। इसलिए इन दोनों लिपियों का अस्तित्व मानना पड़ा और भाषा रूप के साथ उसके दोनों चोगों का भी जिक्र हुआ। अब संमेलन इस वस्तुस्थिति[१६] के विरुद्ध जाने का निश्चय करता है और वस्तुस्थिति से अपने को अलग रखना चाहता है तब क्या राष्ट्रभाषा-प्रेमियों के लिये भी यह संभव है कि संमेलन का यह नेतृत्व स्वीकार करें, और यह समझें कि ३० दिसंबर १९४१ के पहले जो वस्तु-स्थिति थी वह दूसरे दिन गायब हो गई या उसके बाद गायब हो सकती है? सिर्फ नागरी लिपि के द्वारा जो कोई राष्ट्रभाषा सीखे क्या[१७] वह पंजाब और यू० पी० में

ओर से दोनों लिपियों को समान अधिकार प्राप्त है; फिर सरकारी कामकाज में फारसी की अधिकता अवश्य है पर जनता में फारसी लिपि का प्रचार बहुत कम है और प्रतिदिन घटता ही जा रहा है। बिहार में तो कांग्रेस के प्रताप से उर्दू का प्रचलन हुआ है नहीं तो वहाँ मुसलिम जनता में भी उर्दू नाम मात्र को थी और सरकार में तो थी ही नहीं।

१६—संमेलन 'वस्तुस्थिति' को स्पष्ट करता है, उसका विरोध नहीं।

१७—इस 'क्या' का उत्तर कितना सरल है! हाँ। जाकर तो आप अपना काम चला सकते हैं पर लिखकर भरपूर वैसा नहीं। अभी तो आपको नागरी और फारसी के साथ ही गुरुमुखी और अंगरेजी से भी काम लेना पड़ेगा। कल की आप जानें और आपकी राष्ट्रलिपि।

अपना काम चला लेगा? यू० पी० के, पंजाब के शहरों व देहली में जो कोई जाय वह सबकी भाषा समझ सकेगा और अपनी भाषा में सबको समझा सकेगा? आपस के अंत-प्रांतीय व्यवहार के लिये सिर्फ नागरी लिपि ही पूर्णतया काम देगी—इसमें संदेह नहीं है।

प्रत्येक भाषाभाषी को शिक्षा के नाते अपनी मातृभाषा, संस्कृत और अंगरेजी सीखनी पड़ती है। सुविधा के लिये अपने पड़ोस की एक भाषा सीखना भी जरूरी हो जाता है। राष्ट्रीयता के नाते राष्ट्रभाषा भी सीखनी पड़ती है। इतनी भाषाओं का बोझ उस पर कम नहीं है। अगर वह राष्ट्रीयता एकांगी हो और अपूर्ण हो तो इस बोझे को ढोने में वह अवश्य हिचकिचाएगा। वह चाहेगा कि उसे राष्ट्रभाषा के द्वारा सच्ची व पूर्ण राष्ट्रीयता मिले, राष्ट्रभाषा उसे सौ फी सदी राष्ट्रसंदेश सुनावे। अगर संमेलन[१८] अपनी तरफ से यह काम नहीं कर सकेगा तो उसे दूसरी संस्थाओं का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा या अपनी अलग संस्था बना लेनी पड़ेगी।

कांग्रेस ने अपने कानपुर के सन् १९२५ के अधिवेशन में यह निश्चय किया था कि कांग्रेस की भाषा हिंदुस्तानी मानी जायगी और कांग्रेस की सारी कार्रवाई हिंदुस्तानी में ही होगी। सयोग और सौभाग्य की बात है कि इस प्रस्ताव को हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान कर्णधार श्री पुरुषोत्तमदासजी ने पेश किया था। इस

१८—'सम्मेलन' इसी से तो उस राष्ट्रभाषा और उस राष्ट्रलिपि का प्रचार करना चाहता है जो शीघ्र ही सर्वसुलभ और सर्वसुबोध है। फिर भी यदि किसी को दो दो भाषाओं और दो दो लिपियों की चाट लगे तो बेचारा सम्मेलन क्या करे!

प्रस्ताव से हिंदीप्रचारकों को बड़ा लाभ हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि श्री टंडन जी जिस भाषा को राष्ट्रभाषा मानते हैं उसका नाम हिंदी भी है, हिंदुस्तानी भी।

कांग्रेस इस वक्त देश की प्रधानतम राष्ट्रीय संस्था है और राष्ट्रभावना का प्रचार करने वाली है, उसी की भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है, इसमें कोई शक[१९] नहीं। टंडन जी भी उसके एक प्रमुख नेता हैं इसमें भी कोई शक नहीं। हिंदुस्तानी शब्द की जो व्याख्या इस समय टंडन जी ने अबोहर में कराई है, वही व्याख्या उनके मन में कानपूर कांग्रेस के समय भी रही होगी। हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग करते समय उन्हें अवश्य मालूम हुआ होगा कि उस भाषा के लिये नागरी और फारसी दोनों लिपियाँ काम आती हैं। अब तक हजारों व्यक्ति जो इन पंद्रह सोलह वर्षों से राष्ट्रभाषा के प्रचार में लगे हुए हैं, यही समझते आ रहे हैं कि राष्ट्रभाषा के दो नाम हैं—एक हिंदी और दूसरा हिंदुस्तानी। यही भाषा जब फारसी लिपि में लिखी जाती है तब उर्दू कहलाती है। इसी को ध्यान में रखकर राष्ट्रभाषा के प्रचार करनेवाले व्यक्तियों, जो प्रधानतया कांग्रेसवादी हैं, व संस्थाओं ने संमेलन का नेतृत्व स्वीकार किया। अगर इस नई व्याख्या को अपने को हिंदी भाषाभाषी समझनेवाले सर्व सम्मति से मान लें और सम्मेलन अपनी सारी प्रवृत्तियाँ उनके लिये ही सीमित कर ले तो इसके लिये विवाद नहीं हो सकता, लेकिन सारे राष्ट्र पर यह

१९—किंतु कांग्रेस सर्व-सुलभ राष्ट्रलिपि की घोषणा कर सकेगी इसमें पूरा संदेह है। अभी तो उसका सारा प्रयत्न 'दो नाव पर चढना' को ही चरितार्थ कर रहा है!

व्याख्या लादी नहीं जा सकती। अतः राष्ट्रभाषा प्रचारकों को यह कहने का अधिकार होना चाहिए कि राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी भी है और हिंदुस्तानी भी और वह विशेषतः नागरी लिपि और कुछ प्रांतों में फारसी लिपि में भी लिखी जाती है। प्रांत, वर्ग व विषय के अनुसार उसकी कई शैलियाँ हैं। लेकिन संस्कृत प्रचुर शैली ज्यादा प्रचलित है। अपनी अपनी आवश्यकता व रुचि के अनुसार हर कोई अपने लिये शैली और लिपि को पसंद कर लेता है। राष्ट्रभाषा की बोलचाल की शैली वही है जो सारे हिंदुस्तान के[२०] कोने कोने में समझी व बोली जाती है।

युक्त-प्रान्त सदियों से अन्य प्रांतों का पथ प्रदर्शक रहा है। भाषाओं और संस्कृतियों की प्रयोगशाला का काम उसने किया है। विभिन्न भूभागों की जातियों व संस्कृतियों को गंगा और यमुना नदी में धो-धोकर उसने भारती रूप दिया है और उन्हें भारत के अन्य प्रान्तों में पहुँचाया है। युक्तप्रांत में इतनी क्षमता, शक्ति, सजीवता और दूरदर्शिता है कि वह आज भी शुद्ध राष्ट्रीयता का संदेश देश को दे सके। अगर वह वर्तमान कलुषित वातावरण के प्रभाव से, क्षणिक परिणामों के लोभ से, मलिन व संकुचित विचार-धारा के दबाव से, अपनी देन में हमेशा अपनापन ही देखने की लालसा से, देश के सामने कोई कार्यक्रम रखे तो

२०—इस प्रशस्ति का पाठ तो बहुत होता है पर इसका अर्थ कुछ विशेष होता है जो सब की समझ में नहीं आता। संभवतः वह तब तक दुरूह ही रहेगा जब तक हिंदुस्तानी की गाड़ी को नाव पर लादकर मरुस्थल पार करना है।

युक्तप्रांत की पूर्व प्रतिष्ठा के प्रभाव[२१] में आकर देश उसको ग्रहण नहीं करेगा। क्या संमेलन के प्राण-स्वरूप देशभक्त श्री पुरुषोत्तम दासजी टंडन से मैं प्रार्थना कर सकता हूँ कि वे अपने अबोहर के प्रस्ताव पर एक बार और गौर करें और अपनी सहज दूरदर्शिता और सजगता का परिचय दें ?

२१—युक्तप्रान्त तो सदा से अतिथि-भक्त रहा है और फलतः आज भी उसकी अतिथिशाला खुली हुई है। उसकी आत्मीयता यही है कि उसका अपनापन कुछ भी नहीं है। उसके पास कोई अपना नाम भी तो नहीं है! पर पंच ने मिलकर उसे जो काम सौंप दिया उसे उसने निभाने में कोई कमी नहीं की। आज भी हम सभी देशभाषाओं से मिलने को लालायित हैं। हम अपनी भाषा को उन पर लादना नहीं चाहते, हम तो उनके मेल में आना चाहते हैं। हम सच्चे हृदय से उनसे जानना चाहते हैं कि उनके हृदय का मेल किसमें दिखाई देता है हिंदी, उर्दू अथवा हिंदुस्तानी में ? उनकी लिपि किसे पहचानती है नागरी, फारसी वा रोमक को ? हमें तो आज भी इस बात का पूरा सन्तोष है कि राष्ट्रभाषा की जितनी परिभाषाएँ जब जब गढ़ी गई हैं तब तब युक्तप्रान्त के बाहर भिन्न भिन्न प्रान्तों में ही और यह अन्तिम परिभाषा निकली है उस प्रान्त से ही जिसे लोग उर्दू का गढ़ समझते हैं। फिर किसी को इसमें हमारी शान क्यों दिखाई देती है ? हमारा अपराध क्या है ?

१५—संमेलन और जनपद

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो तू सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥

मूल को सींचने के विचार से हिंदी-साहित्य-संमेलन के गत अधिवेशन (हरिद्वार) में जनपद संबंधी जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसकी मान्यता चाहे कुछ भी रही हो पर लोग उसका संकेत भाषा मात्र समझते हैं और कुछ लोग उससे यह अर्थ निकालना चाहते हैं कि 'संमेलन' प्रत्येक जनपद की भाषा तथा साहित्य को प्रोत्साहन दे, उसे हिंदी के समकक्ष करे; परंतु ध्यान देने की बात है कि क्या 'संमेलन' इस प्रकार की उदार चेष्टा से अपना महत्त्व बढ़ा सकता है और उसके द्वारा हिंदी की यथार्थ सेवा हो सकती है। कहना न होगा कि हिंदी की व्यापक-वृद्धि पर कुठाराघात की यह प्रवृत्ति उनकी ओर से हो रही है जो भाषा की मूलशक्ति से सर्वथा अपरिचित और मातृभाषा के ममता भरे प्रवाह में बह जानेवाले जीव हैं। सच पूछिए तो मातृभाषा में माता की जो दुहाई दी जाती है वही जन्मभाषा के कुछ प्रतिकूल भी पड़ जाती है। मातृभाषा के पुजारी यदि ध्यान से देखें तो उन्हें भी सहसा स्पष्ट हो जाय कि स्वयं माता भी तो अपनी मातृवाणी पर आरूढ़ नहीं रहती और पतिलोक की पतिवाणी का अनुसरण करती है। अर्थात् माता तो स्वयं द्विभाषिणी होती है। उसकी नैहर की भाषा नैहर में ही छूट जाती है और ससुराल में आते ही ससुराल की भाषा सीखनी होती है। फिर मातृभाषा के उपासक मातृभाषा को

ही सब कुछ कैसे मान सकते हैं ? उन्हें तो किसी पितृभाषा को महत्त्व देना ही होगा। तात्पर्य यह कि भाषा के प्रश्न पर भावुकता से विचार नहीं हो सकता। यहाँ तो विवेक से काम लेना होगा और कुछ ऐसा उपाय करना होगा जिससे जन्मभाषा के द्वारा राष्ट्रभाषा को शक्ति मिले, कुछ कड़ी फटकार नहीं।

हिंदी राष्ट्रभाषा ही नहीं, एक बड़े भूभाग की शिष्ट भाषा भी है। द्रविड़ भाषाओं से हिंदी का जन्मजात नाता नहीं; पर संस्कृति का संबंध तो उनसे अवश्य है ? गुजराती, मराठी, बंगला आदि देशभाषाओं से हिंदी का सजातीय संबंध है तो राजस्थानी आदि से स्वजातीय और व्रजभाषा अवधी आदि को तो उसका स्वगत भेद ही समझना चाहिए। निदान, मानना ही पड़ता है कि भाषा के क्षेत्र में भारत की सभी प्रमुख भाषाओं को एक साथ ही नहीं हाँका जा सकता। उनके अलग-अलग रूप और अलग-अलग शक्ति पर विचार करना ही होगा और यह भी देखना ही होगा कि हमारी इस जनपदीय चेष्टा से कहीं एक ही घर में फूट तो नहीं मच रही है। उदाहरण के लिये पंचाल जनपद को लीजिए। कुरुपंचाल का कुछ ऐसा संबंध जुटा था कि 'पांचाली' 'कौरवी' हो गई। अर्थात् पांचाली नाम की कोई अलग भाषा नहीं रही। फिर भी यदि कहा जाता है कि पंचाल जनपद की उच्च से उच्च शिक्षा पांचाली में ही होगी तो इसका अर्थ है कि सभी अपने आपको विश्वविद्यालय समझ लें और अपनी अपनी बोली में विश्व का निर्माण करें। पर दुनिया जानती है कि यह नहीं होने का। मनुष्य अपना प्रसार चाहता है, बटोर नहीं। सबको मिलकर किसी एक को महत्त्व देना ही होगा। नहीं तो किसी को कोई पूछेगा क्यों ? तू कहीं और मैं कहीं से किसी का काम नहीं चलता।

भाग्यवश आज यदि 'डिंगल' स्वयं 'पिंगल' से दूर भागना चाहता है तो साहित्य के क्षेत्र में भी आज वह वही भूल करना चाहता है जो राजनीति के क्षेत्र में सदा से करता आ रहा है। उसे ध्यान रखना होगा कि भाषा दाय के रूप में नहीं मिलती उसे तो प्रत्येक प्राणी को कमाना अथवा अपने प्रयत्न से प्राप्त करना पड़ता है। बालक सहज में ही ऐसी वाणी को अपना लेता है जो उसके पड़ोस में होती है और उसके समाज वा कुटुंब में बराबर बरती जाती है। अतः बच्चे की बात उठा किसी बनी बनाई बात को बिगाड़ना सूझ नहीं, समझ नहीं और चाहे जो हो। जिसे अपनी जन्मभाषा की अधिक ममता हो वह उसे जितना चाहे उगा ले पर उसे भी इतना तो मानना ही होगा कि वह विश्व का प्राणी नहीं, राष्ट्र के किसी कोने का पतंग है। यदि वह संसार में अपना जौहर दिखाना चाहता है तो उसे जन्मभूमि से उभर कर कर्मभूमि में आना ही होगा जन्मभाषा से निकलकर कर्मभाषा में धँसना ही होगा। आज के इस प्रलयंकारी युग में भी जो हिंदी, हिंदी को कर्मभाषा नहीं समझता वह निश्चय ही ब्रह्मा द्वारा ठगा गया है। उसका विधि वाम हो गया है। 'बुंदेली', 'कन्नौली', 'बांगरू' आदि भी यदि स्वतंत्रता का बिगुल बजाकर अपना-अपना स्वराज्य स्थापित करना चाहती है तो चार दिन के लिये कर लें; पर कृपया भूल न जायँ कि किसी विशाल साम्राज्य से भी उन्हें कुछ लेना-देना अवश्य है। हमारी समझ में तो यह बात नहीं आती कि इन्हें भी इतनी अपनी-अपनी क्यों पड़ी है, इनका तो हिंदी से भात-भोज का नाता और सहज संबंध है ? हाँ, 'मैथिली' और 'मुल्तानी' की गति कुछ न्यारी अवश्य है। वे चाहें तो हिंदी की 'तीरभुक्ति' बनी रहें अथवा अपना स्वतंत्र झंडा खड़ा करें। कुछ भी करें उन्हें यह जन्मसिद्ध

अधिकार है। परंतु जब 'हिंद' के भीतर उनकी भी गणना है और उनके पूर्वज सदा से उसके अभिमानी हैं तब अपने आपको 'हिंदी' से अलग न करें इसी में उनका तथा लोक का कल्याण है। संक्षेप में हम जानना यह चाहते हैं कि 'संमेलन' किसी ऐसे जनपद के कार्य में सहयोग क्यों दे जो अपनी भाषा को उठाकर हिंदी के समकक्ष लाना चाहता हो और आर्यावर्त की समभूमि में विषमता का बीज बोना चाहता हो। नहीं, प्रत्येक जनपद का यह पावन कर्तव्य है कि वह 'संमेलन' से अपनी माँग स्पष्ट करे और अपनी निश्चित धारणा के साथ वह संघटन करे जिससे स्थिति को समझने और सुलझाने में सुविधा हो। रही स्वयं 'संमेलन' की बात, सो वह बराबर जन-साहित्य के प्रकाशन में लगा है और किसी भी जनपद के किसी भी अध्ययन को प्रकाशित करने को सदा कटिबद्ध है। संमेलन किस प्रकार जनपदों के अध्ययन में योग दे सकता है और जन्मभाषा को सुशील बना शिष्ट भाषा के साथ बढ़ा सकता है इसका निर्णय हिंदी जनपदों की विचारशीलता पर निर्भर है। आशा है, भाषाशास्त्र के मर्मज्ञ और मानवता के पुजारी समय रहते इस विकट प्रश्न पर ध्यान दे किसी ऐसे मार्ग का विधान करेंगे जो 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' का विधायक होगा।

———

१६—हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा

हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा' का होहनार क्या है इसको हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते परंतु इतना जानते अवश्य हैं कि अभी-अभी होली के अवसर पर महात्मा गांधी की पुरोहिताई में वर्धा में गर्भ की हिंदुस्तानी का जो राज्याभिषेक हुआ है वह किसी प्रकार भी महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' की 'गर्भवती पटरानी' के गर्भ के राज्याभिषेक से कम नहीं है। हाँ, यदि इसमें किसी प्रकार की कमी है तो बस इतनी भर कि इसके आचार्य इतना नहीं जानते कि वस्तुतः यह गर्भ है अथवा नहीं। उनको तो बस यही पर्याप्त है कि यह कुछ न कुछ है अवश्य। हम भी इस अवश्य का स्वागत करते हैं और स्वागत नहीं-नहीं अगवानी वा इस्तकबाल करते हैं इस गर्भ के राज्याभिषेक का। भला कौन-सा ऐसा प्राणी होगा जो इस राज्याभिषेक का स्वागत न करे और न करे इस गर्भ की हिंदुस्तानी की परिचर्या। किंतु हमें यदि आशंका है तो केवल इसी बात की कि कहीं यह 'गर्भ' न होकर 'रोग' न निकले और केवल 'अपने जनमले नाश' को ही कहीं चरितार्थ न करे। कारण यही कि अभी हमारी मेधा बनी है और वह समझती भी खूब है कि दो के मेल से तीसरा उत्पन्न भले ही होता हो परंतु तीन से दो का मेल नहीं होता और इस देश में दो क्यों, पहले से भी तीन हैं। महात्मा गांधी अँगरेजी को पी सकते हैं, अल्लामा सैयद रोमी को उड़ा सकते हैं किंतु कोई कुछ भी कहे सत्य पुकार कर कहता और इतिहास उठाकर डंका बजा कर कहता है कि अँगरेजी ने इतने अल्पकाल में जो कुछ

कर लिया और रोमी विश्व में अपना सिक्का जो जमा लिया वह किसी के आँख मूँदने अथवा गाल बजाने से दूर नहीं हो सकता। वह खलीफा के घर में भी चल रहा है और हिंदुस्तान में भी। वह सरापने से मर नहीं सकता और जलाने से सरपत की भाँति और भी हराभरा होगा और बढ़ेगा। तो महात्मा गांधी कहते क्या हैं और मुसलिम देवता (मुसलिम डिवाइन) अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी फरमाते क्या हैं ? यही न कि देशी राज हो और देशी भाषा हो। हो, परंतु पूछना तो यह है कि देशी राज और देशी भाषा के लिये किसी देशी हृदय की भी कभी आवश्यकता पड़ती है वा नहीं ? सुनिए अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी के उस्ताद अल्लामा शिबली नोमानी कहते क्या हैं। उनका दुखड़ा है—

मोकर्रमी, तसलीम, मैं उर्दू वर्नाकूलर स्कीम कमेटी की शिरकत[1] की गरज़ से इलाहाबाद गया था मिस्टर बर्न ने चंद निहायत मुजिर[2] तजवीजें उर्दू के हक में पेश की थीं। एक यह भी थी कि रामायन भाषा इंटरेंस के इम्तहान में लाजमी[3] कर दी जाये। और उर्दू जो मदारिस[4] में है वह ऐसी कर दी जाये कि हिंदी बन जाये। अजीब मंतिकी[5] दलायल[6] घड़े[7] थे। पंडित सुंदरलाल वग़ैरह कमेटी के मेंबर थे। तीसरे जलसे में कामिल[8] फ़तेह हुई। तमाम तजवीजें उड़ गईं। अगरचे अफसोस है कि मुसलमान मेंबरों ने कोई मदद मुझको न दी और देते क्या देने के क़ाबिल भी न थे।

(दास्ताने तारीखे उर्दू, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा, सन् १९४१ ई०, पृष्ठ ६७६)

१—साझे। २—हानिकर। ३—अनिवार्य। ४—मदरसों। ५—तार्किक। ६—दलीलें। ७—गढ़े। ८—पूर्ण।

अल्लामा शिवली नोमानी के इस पत्र पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि इस कमेटी का भी ध्येय था कि—

इस्कूल और कालिजों के लिये देशी ज़बान का निसाबेतालीम[9] ऐसी ज़बान में मुरत्तब[10] किया जाय कि एक ही इबारत के साथ उर्दू, हिंदी दोनों ज़बानों में पढ़ा जा सके। (वही, पृष्ठ ६७६)

इसका निश्चय क्या हुआ इसके कहने से क्या लाभ? लाभ तो इसे भूल जाने में ही है। कारण कि इसको पेश किया था 'बर्न' साहब ने। बर्न साहब सरकारी जीव थे। उन्हें जाने दीजिए और जाने दीजिए उन 'मुसलमान मेंबरों' को जिन्होंने 'रामायन' के विरोध में उक्त मौलाना का साथ नहीं दिया था और जाने दीजिए उन हिंदुओं को भी जिनने इस संग्राम में मौलाना का हाथ बटाया था; परंतु सब कुछ होते हुए भी हम आज हिंदुस्तानी के प्रसंग में इस बात को कैसे भूल सकते हैं कि इसी विजयी अल्लामा को 'रामायन' का और किसी 'रामायन' का पता इतना है कि आप किस तपाक नहीं नहीं किस अधिकार से लिखते हैं—

हिंदुओं में सबसे बड़ा शाइर आखिर ज़मानः का कालीदास गुज़रा है जिसने रामायन का भाका में तरजमा किया है। नुक्ताशनासों[11] का बयान है कि क़ुदरते[12] ज़बान के लेहाज से 'पदमावत' किसी तरह 'रामायन' से कम नहीं और इस क़दर तो हर शख्स देख सकता है कि 'पदमावत' के सफ़हः पढ़ते चले जाओ अरबी-फारसी के अल्फाज मुतलक[13] नहीं आते और यों साजयो नादिर[14] तो 'रामायन' भी ऐसे अल्फाज़ से खाली नहीं। मुलाहिज़ा हो—

९—पाठ्यक्रम। १०—क्रमबद्ध। ११—जानकारों। १२—शक्ति। १३-बिल्कुल। १४-यदाकदा।

'रामायन' के बाज़ अशआर—

राम अनेक गरीब निवाजे। लोग बर बर बरद बिराजे॥
गनी गरीब गराम नर नागर। पंडित मोटे मिले उजागर॥

(मोक़ालात शिबली, जिल्द दोयम, दारुल् मुसन्निफ़ीन आजमगढ़, सन् १६३१ ई०, पृ० ८१)

'कालिदास' की 'भाका रामायन' का हमें पता नहीं पर हम इतना तो पूछ ही सकते हैं कि क्या किसी 'भाका' के सपूत के सामने कभी किसी 'रामायन' में 'लोग बरबर बरद बिराजे' अथवा 'पंडित मोटे मिले उजागर' जैसा पाठ मिला है और यदि मिला है तो इसका अर्थ क्या है ? प्रसंगवश हम इतना और कह देना चाहते हैं कि अल्लामा शिबली नोमानी का 'नोमान' से कोई जन्मजात वा वंशजात सम्बन्ध न था। नहीं उनका वंश तो सर्वथा हिंदी था। आप आजमगढ़ के बिनवल गाँव में जन्मे थे और वंश के रौतारा थे अर्थात् ठेठ देशी थे। फिर भी जानते इतना भी नहीं कि कालिदास किस भाषा का कवि है और 'भाषा' में किसने 'रामायन' की रचना, नहीं नहीं तरजमा किया और फिर भी विरोध करते हैं उस विश्ववन्द्य कवि की उस रचना का जिसको पाठ्यक्रम में रखने का प्रस्ताव करता है सात समुंद्र पार का एक जीव। माना कि रामायण हिंदू है और माना कि रामायण हिंदी है और यह भी मान लिया कि उसमें काफिरों की 'बुत परस्ती, है, और यह भी मान लिया कि किसी मुसलमान-बच्चा को उसे नहीं पढ़ना चाहिए। सब कुछ माना पर इसी से यह भी कैसे मान लिया जाय कि किसी अल्लामा नोमानी को इसी से यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह हमारे मुकुटमणियों का उपहास करे और इस प्रकार मनमाना वा मनगढ़ंत पाठ देकर

उनके कवि कर्म को नीचा ठहराए? आप कहेंगे, मौलाना शिबली तो आज रहे नहीं फिर हिंदुस्तानी के प्रचार के प्रसंग में आज उनका नाम क्यों लिया जाता है। ठीक है, पर आज रेडियो में, हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी में रामराज्य का विरोध क्यों हो रहा है? क्या महात्मा गांधी की हिंदुस्तानी में कहीं रामराज्य है? क्या उनकी हिंदुस्तानी में भारत के अतीत पुरुषों का भी कोई स्थान है? क्या अतीत को छोड़कर हिंदुस्तानी पनप सकती है?

कहते हैं हिंदी नहीं हिंदुस्तानी। कारण? हिंदी हिंदी जो बन गई है? तो क्या आप हिंदी नहीं बनना चाहते? कहते हैं हम मुसलमान हैं। 'मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा।' अच्छा, यही सही पर सच तो कहें सारे जहाँ के मुसलमान भी यही कहते हैं? महात्मा गांधी इस पर ध्यान नहीं देते बस चाहते हैं स्वराज्य। किसके लिये, कह नहीं सकते, पर नाम सदा लेते हैं जनता का। क्यों? इसके सिवा कुछ और कर भी तो नहीं सकते? जनता को जनता ही क्यों नहीं रहने दिया जाता है? उसे हिंदू वा मुसलमान क्यों बनाया जाता है? क्या इसके बिना किसी देश का काम ही नहीं चल सकता? और यदि यही न्याय है तो ईसाई क्यों नहीं पारसी भी तो यहीं बसते हैं? बसें पर उन्हें पूछता कोई क्यों हैं? मतलब के साथी सब हैं। पर महात्मा गांधी को भूलना न होगा कि देश का उद्धार देशभावना को लेकर ही खड़ा हो सकता है कुछ किसी ऊपरी समझौता को लेकर नहीं। यदि मुसलिम को हिंदी होने का अभिमान नहीं तो फिर हिंदी से उसका मेल नहीं और हिंदू को तो वह सह नहीं सकता, क्योंकि वह उसका प्रतिद्वंद्वी शब्द है। कहने को कोई कुछ कहे पर परिणाम प्रतिदिन प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। कहा जा सकता

है कि इसी से तो 'हिंदुस्तानी' का नाम लिया जा रहा है, हिंदी का नहीं। निवेदन है, यही तो भूल हो रही है। उपाय नहीं। आप कुछ भी कहें पर विवेक इतिहास खोलकर कहेगा यही कि यह ठगी का सौदा ठीक नहीं। जो 'हिंदी' को नहीं मानता वह 'हिंदुस्तानी' को कदापि न मानेगा। यदि मेल की बात पक्की होती तो उर्दू कभी बनती ही नहीं। बनी बनाई हिंदी को छोड़कर जब उर्दू गढ़ी गई तब भी देश के सामने वही प्रश्न था जो आज है। उर्दू बनी, बढ़ी, फली और फूली पर उसका सोता सूख गया। आज 'ईरानी' और तूरानी की शक्ति मारी गई। ईरान स्वयं खरा ईरानी बन गया और तूरान खरा तूरानी। अरबी के दिन भी फिरे तो अरबों में ही। आज न अरब में कोई ऐसी संस्था बन रही है और न ईरान-तूरान में जो अरबी का प्रचार करे और मुसलिम मात्र को देशकाल से मुक्त समझे। परंतु हमारे देश में हो क्या रहा है? अरबी और फारसी का आग्रह? क्यों? इस देश में मुसलमान जो रहते हैं?

वर्धा के वीर व्याख्यानों में क्या कहा गया? यही न कि हिंदी और उर्दू को मिलाने का प्रयत्न करो। ठीक, कितनी बढ़िया बात है! पर कैसे? बस इसी को न पूछो। बढ़िया बात वही होती है जो कहने की है, करने की नहीं। कहने को तो बड़े-बड़े वक्ताओं ने कह दिया कि सरल भाषा का प्रयोग करो पर किसी ने नहीं कहा कि सरल बनो। पोथी को छोड़ो और प्राणी को पकड़ो। महात्मा बुद्ध पोथी लेकर लोकवाणी में प्रचार करने नहीं निकले थे। पोथी बनी और लोकवाणी गई। मुहम्मद पोथी लेकर इसलाम का प्रचार करने नहीं निकले थे। पोथी बनी और जनता की बानी मारी गई। अल्लाह ने कहा—ऐ मुहम्मद! अरब की

वाणी में अरब से कहो। तूरान ने कहा तूरानी से कहो, पर 'मुससलान' (?) ने कहा उर्दू में हिंदी से कहो। उर्दू का अर्थ ?

मुसलिम देवता 'नोमानी' भक्त श्री सैयद सुलैमान नदवी उठे। उर्दू की दुर्बलता को देखा। तर्क की शरण ली और न्याय की प्रेरणा से कह दिया जब इस देश का नाम हिंदुस्तान है तब यहाँ की भाषा का नाम भी हिंदुस्तानी। और काम ? 'हिंदुस्तानी नहीं; हिंदू और मुसलमान का मेल। सो कैसे ? यही न कि संस्कृत और अरबी के मोटे मोटे शब्द छोड़ दो और समय पड़ने पर अरबी, फारसी, संस्कृत और अंगरेजी से शब्द लो ? कितनी सीधी बात है और कितने सीधे ढंग से चारों ओर घूम-घूमकर कही जा रही है। पर वस्तुतः इसका कुछ अर्थ भी है ? हाँ, साथ ही एक और बखेड़ा भी खड़ा किया जा रहा है। कहा और बड़े विचार से कहा जा रहा है कि समस्त उत्तर भारत में जो भाषा बोली जाती है उसी में रचना करो। जनता की वाणी को अपनाओ। एकसाथ एक हिंदुस्तानी के लिये इतने झमेले उठ खड़े होते हैं कि किसी विवेकशील व्यक्ति के लिये यह समझना ही कठिन हो जाता है कि यह कोई रमझल्ला हो रहा है या सोखाई। गोरख-धंधा तो हम इसे कह नहीं सकते। निष्कर्ष यह कि 'माशूक़ की कमर' की भाँति हिंदुस्तानी के विषय में जो कुछ कहो सब ठीक है। अथवा 'अलख लखी नहिं जाइ' को ही ठीक समझो परंतु इतना जान लो कि यह कमर कसकर कुछ कर दिखाने का मार्ग नहीं। हाँ, 'दिल बहलाने के लिये 'ग़ालिब' ख़याल अच्छा है।' अच्छी बात वही तो होती है जो हो न पर जिसके होने की कल्पना उछलती रहती हो ? हम नहीं कहते कि हमारे देश में हिंदुस्तानी

के 'सोमशर्मा' (शेख़चिल्ली) नहीं। नहीं, हमारा कहना तो यही है कि इस हम नहीं और तुम नहीं से स्वराज्य नहीं सध सकता। हाँ, किसी का राज्य अवश्य ही जम सकता है।

कहते और हमारे मुसलिम देवता अल्लामा सुलैमान साहब कहते हैं कि यहाँ तो कुछ था ही नहीं; जो कुछ दिखाई देता है सभी मुसलमानों के साथ आया है। मुसलमानों के साथ इस देश में आया तो कोई बात नहीं पर इसलाम के साथ संसार में तो नहीं आया जो मुसलमान को इतना महत्त्व दिया जा रहा है ? पर नहीं, इससे सैयद साहब को कोई प्रयोजन नहीं। उन्हें तो बस ले-दे के यही सिद्ध करना है कि जो कुछ यहाँ फला-फूला और बना-ठना दिखाई देता है वह सब मुसलमानों का प्रसार है। परंतु उनके इस मार्ग में सब से बड़ी कठिनाई है भाषा और विशेषतः शब्द की। इतिहास को तो आग लगाकर चाटा जा सकता है और मुसलमान लेखकों के प्रताप से कुछ कर दिखाया भी जा सकता है किंतु जब तक हिंदी शब्द जीवित हैं तब तक ऐसा हो नहीं सकता। सैयद साहब ने कहा—अंगूर और अनार मुसलमानों के साथ इस देश में आये। हिंदुस्तानी ने कहा—ठीक। यदि ऐसा न होता तो यहाँ अपना भी तो कोई नाम होता ? परंतु हिंदी यह दिवांधता सह नहीं सकती। वह आगे आती और बढ़कर सैयद साहब से पूछ बैठती है-कहिए अल्लामा साहब ! आपने पढ़ा क्या है और सुना क्या है ? सैयद साहब तपाक से आगे बढ़ते और अरबी, फारसी, उर्दू आदि का नाम सुना जाते हैं। वह सीधा सा प्रश्न करती कुछ यहाँ का भी। सैयद साहब मुसकरा कर कह देते—हाँ, यहाँ का भी। मुसलमानों ने यहाँ के बारे में बहुत कुछ लिखा है और उनके अतिरिक्त यहाँ का इतिहास

है ही कहाँ ? हिंदी ठिठक कर सरल भाव से कह जाती है— और द्राक्षा और दाडिम कहाँ से किसके साथ आए ? क्या 'द्राक्षासव' का नाम आपने कभी नहीं सुना और नहीं सुना कहीं दाडिम का नाम राजपूताने में घूमते समय ? यदि हाँ, तो आप आज किस मुँह से कह रहे हैं कि अंगूर और अनार के लिये यहाँ अपना कोई शब्द नहीं और आए भी यहाँ अंगूर और अनार मुसलमानों के साथ ही। मुसलमानों के पहले अफगानिस्तान पर किसका शासन था बता सकते हैं और जानते हैं कुछ वहाँ के त्रिलोचनपाल को ? आप कुछ भी कहें पर आप को मानना ही होगा कि आपने अपनी हिंदुस्तानी के प्रचार का जो महात्मा गान्धी को साधन बनाया है वह सचमुच स्वराज्य के लिये, राष्ट्रोद्धार अथवा लोक-कल्याण के लिये कदापि नहीं। और यदि नहीं; तो आप ही कहें कि आप कहाँ के कैसे पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी हैं जो अपने देश के विषय में जानते इतना भी नहीं और बाजते फिरते हैं अल्लामा ? नहीं; अवश्य ही दाल में कुछ काला है, दिमाग में न सही। शिबली के जाल से मुक्त हो तनिक देखिये तो सही। आप लिखते हैं—

> घोड़े की सवारी कहाँ न थी। मगर जब मुसलमान यहाँ आए तो लगाम, ज़ीन, तंग, खूगीर, रकाब, नाल, नुक्ता, जुल, जिसका खराबी झोल है, सईस, सवार, शहसवार, ताजियाना, क़मची, सब अपने साथ लाए (नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० २९–३०)

माना, आपका कहना सोलहो आना सच है। पर कृपाकर यह तो कहें कि यदि यही स्थिति थी तो क्या जादू के बल पर लोग 'घोड़े की सवारी' करते थे ? क्या बिना लगाम के किसी को किसी घोड़े पर सवारी करते देखा है और कभी बिहार में रहते

हुए आपने कभी 'रास' का नाम नहीं सुना है ? अरे ! आप क्या कहते ? क्या और किस हिंदुस्तानी के लोभ में किस हिंदुस्तान को कितना जपाट सिद्ध करना चाहते हैं ? क्या आपको पता नहीं कि 'सवार' शुद्ध 'अवसर' से बना है और आपके पड़ोस के लोग फलतः आज भी उसे ठेठ में 'असवार' कहते हैं, 'सवार' नहीं। 'सवार' तो इसीलिये बनाया गया है कि वह मुसलमानों के साथ यहाँ आ सके। नहीं तो ईसा के २४ वर्ष पहले तक तो स्वयं मुसलमानों के घर अरब में घोड़े का पता ही नहीं चलता। कुछ इसकी भी सुधि है ? यही दशा 'जुल' की भी है। यह झोल की खराबी है जो लिपि-दोष के कारण हो गई है। 'झ' मुसलमानी लिपि में है कहाँ ? कुछ भाषाशास्त्र और 'कोष' से भी तो पूछ देखें ! कि आपकी हिंदुस्तानी सबको खा चबाकर ही पुष्ट होगी ? अरे ! देश का जिसे थोड़ा भी अभिमान है वह आपकी इस विलक्षण खोज से इतना तो सीख ही लेगा कि अपने को उर्दू के चक्कर से मुक्त करे और सर्वथा हिंदी का हो रहे। हिंदी उन शब्दों को कभी छोड़ नहीं सकती जिनमें इस देश का मान छिपा है और जिसकी रक्षा आज तक इस मुसलमानी आक्रमण से होती आ रही है। मुसलमानी इसलिये कि आप इसी को इसलाम समझते हैं, नहीं तो हम तो इसको शाही लटके के सिवा और कुछ नहीं समझते और नहीं समझते उस स्वर्गीय स्वराज्य ही को कुछ जिसमें सब कुछ तो रहे पर अपना कुछ भी न रहे और यदि रहे भी तो अपने रूप में कदापि नहीं। हाँ, उर्दू के रूप में होकर ही।

अच्छा, तो उर्दू का रूप है क्या ? सुनिये, सैयद इंशा खुले रूप में कहते हैं—

और किसी लफ़्ज़ के उर्दू न होने से यह मुराद[1] है कि उर्दू में हुरूफ़ की कमी-वेशी से वह खराद पर नहीं चढ़ा ख्वाह दूसरी जगह मुरव्वज[2] हो। बाज़े अल्फ़ाज़ शहर में और दूसरी जगह मुशतरक[3] हैं लेकिन साज़ वो नादिर। जैसे सूरज, तारा, साग, पान वगैरह। मुख्तसर[4] यह कि उन लफ़्ज़ों के सिवा जिन्हें शहर के फ़सीह[5] और दूसरी जगह के बाशिन्दे इस्तैमाल करें ऐसा हर लफ़्ज़ जिसको अहले-शहर[6] दो तलफ़्फ़ुज़ों[7] में अदा करें उन दोनों लफ़्ज़ों में जो लफ़्ज़ कि दूसरी जगह तालिम[8] के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान उर्दू है। (दरियाये लताफ़त, वही, पृ० २७०)

'तालिम के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान उर्दू है' की तो आप आज महात्मा गांधी की कृपा और वर्धा की हिंदुस्तानी तालीमी संघ की अनुकम्पा से यों भी समझ सकते हैं कि जो 'तालीम के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान हिंदुस्तानी है।' कारण, आज हिंदुस्तानी है भी उर्दू का पर्याय और महात्मा गांधी कहते भी हैं कि वह कहीं है तो नहीं पर कहीं गुप्त अवश्य है। उसको प्रकट करना ही उनकी वर्धाई योजना का प्रयत्न है। ठीक है। सगर-सुतों को तारने का जो भगीरथ प्रयत्न हुआ उसी का परिणाम तो गंगा है फिर भारत को तारने का जो कलामी प्रयत्न हो रहा है उसका फल सरस्वती क्यों न हो। किंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या 'वंदे मातरम्' से खार खानेवाली और घूम घूम कर दरबार में 'बंदगी' बजाने तथा 'मादर' का प्रयोग करनेवाली उर्दू इस सरस्वती की देवपूजा को सह सकेगी। महात्मा जी की सरस्वती हिंदुस्तानी के रूप में फूट रही है। वह है तो अवश्य पर देश नहीं महात्मा गांधी के मानस में। उसका प्रचार कहीं है

१—अभिप्राय। २—प्रचलित। ३—साझी। ४—संक्षेप। ५—शिष्ट। ६—नागरिक। ७—उच्चारणों। ८—शिक्षा।

तो नहीं किंतु वह प्रचलित होगी 'तालीम' के द्वारा। है न महात्मा गांधी का यही पक्ष ? सौभाग्य की बात है कि आज से ठीक २०० वर्ष पहले जैसे ईरानी-तूरानी-रक्षा के लिये उर्दू बनी थी वैसे ही आज उर्दू की रक्षा के लिये हिंदुस्तानी बन रही है। अंतर केवल इतना है कि उस समय यह कार्य हँसोड़ अमीन खाँ और ब्रसी नूरबाई के द्वारा हुआ था और आज यह कार्य हो रहा है महात्मा गांधी और किसी दिव्य देवी के द्वारा। महात्मा गांधी कुछ भी करते रहें पर इतना तो जान ही लें कि 'उर्दू में *हुरुफ़ की कमी-बेशी' के कारण भी बहुत से प्रचलित शब्द 'खराद' पर नहीं चढ़े और देश में रहते हुए भी उर्दू से निकाल दिए गए। महात्मा गांधी बड़े मधुर शब्दों में लिपि का प्रश्न पी जाते हैं और समझते हैं कि शंकर जी ने हलाहल पान कर सारा अमंगल दूर कर दिया पर जानते इतना भी नहीं कि आगे हो क्या रहा है। सुरा और सुधा का बँटवारा हो कैसे रहा है ? क्या हिंदुस्तानी की 'मोहिनी' इसीलिये बनी है ? जी, सुधा का तो पता नहीं पर सुरा का परोसा सामने आ रहा। अच्छा यही समझिए कि एक का 'देव' दूसरे का 'दानव' है। आज अपना संहार अपने तो कर रहे हैं! भला मुहम्मद अली जिन्नाह और मौलवी अब्दुल हक़ के पिता किस विलायत से आए थे जो आज सर्वथा हिंदी होते हुए भी हिंदी का विरोध कर रहे हैं और उस उर्दू को ले रहे हैं जिसमें उनका तथा उनके पूर्वजों का नाम धरा गया है ?

'कैफ़ी' ? पंडित दत्तातिरिया कैफ़ी ही तो पूछ रहे हैं ? अजी ! बूढ़ा सुग्गा राम राम नहीं पढ़ता-सो भी बचपन का कुछ और ही पढ़ाया हुआ। सुनिए न, वह क्या बोलता है। यही न ?

मामा और चाचा यह दो रिश्तों के नाम पहले से रायज थे।

मामा को मामूँ इसलिये बनाया गया कि फ़ारसी में 'मामा' घर की ख़ादिमा[1] को कहते हैं। माँ के भाई ख़ादिमा का नाम देना मुनासिब न था। इसी रिआयत[2] से मामी में भी तब्दीली हुई। चूँकि शुमाली[3] हिंद के लहज़े[4] में आख़िर इमला के हुरूफ़ेइल्लत[5] के बाद नूनगुन्ना नाख्वाँदा[6] मेहमान की तरह आ मौजूद होता है इसलिये चाँचाँ (ग़ुलग़पाड़ा) के बचाने को फ़ुसहा चचा कहने लगे जिसकी तानीस चाची की जगह सहल क़ायदे के तेहत[7] चची बनी (दरियाये-लताफ़त पृ० २४३ की पाद टिप्पणी)

'मामा' और 'चाचा' को जिस कारण 'मामूँ' और 'चचा' बनना पड़ा वह आप के सामने है। इससे आप भली भाँति समझ सकते हैं कि वस्तुतः उर्दू है किस चिड़िया का नाम। उधर तो फारसी की चपेट में पड़कर 'मामा' 'मामूँ' बन गए और इधर गवाँरों से भाग निकलने के लिये 'चाचा' 'चचा' बन बैठे। ऐसी स्थिति में कहा नहीं जा सकता कि वर्धा की हिंदुस्तानी क्या रूप धारण करेगी। किंतु जनाब 'कैफ़ी' साहब से सचाई से पूछा जा सकता है कि सच तो कहें 'दत्तात्रेय' का 'दत्तातिरिया' कैसे हो गया। संभव है, डाक्टर अब्दुल हक़ साहब तुरत बोल उठें कि 'उर्दू औरतों की ज़बान है' और औरतों की बोली में 'तिरिया' नहीं तो क्या होगा। यही सही, किंतु 'औरतों की ज़बान' यानी उर्दू में इसका अर्थ क्या होगा, कुछ इसको भी तो स्पष्ट करें। हमें इस 'दत्तातिरिया' की चिंता नहीं। यह तो अपनी रुचि की बात है कि पंडित वृजमोहन दत्तातिरिया साहब

१—सेविका। २—विचार। ३—उत्तरी। ४—काकु, स्वरसंयोग। ५—अलिफ वाव, याय, आदि अक्षर। ६—अशिक्षित। ७—अधीन।

अपने आप को 'कैफ़ी' कहें वा 'तिरिया' किंतु क्या हमारी इस स्वदेशी बोली में हमारे मुनिऋषि अथवा आचार्य भी 'दत्तातिरिया' ही कहलायेंगे ? महात्मा गांधी इस हिंदुस्तानी की अद्भुत व्याख्या कर सकते हैं परंतु विश्व उनका साथ नहीं दे सकता। भला कौन ऐसा मूढ़ होगा जो ऋषि 'दत्तात्रेय' को 'दत्ता-तिरिया' के रूप में ग्रहण करेगा और एक अवतार का इस प्रकार अपमान करेगा ?

'मामा' 'चाचा' और 'दत्तातिरिया' का प्रसंग उस विचार से छोड़ा गया है कि आप प्रकट रूप में देख सकें कि हिंदी-उर्दू का संघर्ष केवल अरबी-फारसी और संस्कृत शब्दों का संघर्ष नहीं है। नहीं, यह तो संघर्ष है प्रवृत्ति अथवा ठसक का । जो लोग बात बात में भाषा के प्रसंग में केवल शब्दों का नाम लेते और राष्ट्रभाषा के प्रसंग में संस्कृत के साथ अरबी का नाम भी जोड़ देते हैं वे भाषा के क्षेत्र में या तो निरे बुद्धू हैं या अद्भुत आचार्य। भला सोचिए तो सही अरबी का यहाँ की किसी भी खड़ी-पड़ी; सड़ी-गली, चलती-फिरती भाषा से कहीं का कोई भी जन्मजात सहज संबंध है। माना कि वह यहाँ के वर्ग विशेष की पोथी की भाषा है और उस पोथी के मूल में पैठने के लिये उसकी भाषा का जानना अनिवार्य है, पर इसी के आधार पर यह भी कैसे मान लें कि उसका भी इस भूभाग पर वही अधिकार है जो संस्कृत का। नहीं ऐसा हो नहीं सकता। वह भले ही भारत की राजभाषा बन जाय पर भारत की राष्ट्रभाषा तो वह होने से रही। और कहें तो सही राष्ट्रभाषा के प्रसंग में आप क्यों उसका नाम लेते हैं। क्या मुसलमान होने के कारण ? अच्छा, तो सुनो और कहो तो सही कि तुम निरे मुसलमान ही हो कि

कहीं तुममें इसलाम भी है। इसलाम के किस आदेश से तुम ऐसा कर रहे हो? देखो लगभग १३०० वर्ष से कहीं न कहीं थोड़ा-बहुत इसलाम इस देश में चला आ रहा है और लगभग ६०० वर्ष तक यहाँ का प्रमुख बल भी उसी के हाथ में रहा है। इतने वर्षों में जो इसलामी शब्द यहाँ की भाषा में न आ सके आज वे क्यों लाए जा रहे हैं? क्या उनकी कोई तालिका भी किसी मुसलमान के पास है? अरे! भाई! जिन अरबी शब्दों में इसलाम था उनका प्रचार इसलाम के साथ हो गया अब तुम उस काफिरी भाषा के चक्कर में क्यों पड़े हो जिसमें इसलाम नहीं अरब की शान है। और यदि चाहते हो तो उसे इसलाम के भीतर ही रक्खो। निरीह जनता पर उसे क्यों लादते हो? है कुछ इसलामी अल्लाह का आदेश जो तुमसे ऐसा कुछ कराता है? नहीं, अरबी के आधार पर हिंदुस्तानी चल नहीं सकती और न उससे एक भी नया शब्द गढ़ने का उसे अधिकार है। वैसे महात्मा गांधी और अल्लामा सुलैमान की इच्छा।

'फारसी' के विषय में भी हमारा यही मत है और यही मत होगा विश्व के स्वतंत्र मननशील व्यक्तियों का मत। फारसी इतने दिनों तक यहाँ की राजभाषा रही। उससे जो कुछ आने का था आ चुका। अब कोई कारण नहीं रहा कि हम एक भी नया शब्द उससे बनाएँ। हाँ, बनाएँ, गढ़े नहीं। कारण यह कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से ईरानी का तो यहाँ की भाषाओं से कुछ लगाव है पर अरबी का तनिक भी नहीं। अरबी तो किसी और वंश की भाषा है।

हाँ, यहाँ, इतना और जान लें कि प्रश्न पुराने शब्दों का नहीं, नये शब्दों के लेने का है। सो हमारा कहना है कि नये

शब्द तभी फारसी या अरबी से लिये जा सकते हैं जब उनमें अपनी कुछ नवीनता हो और अपने साथ अपने राष्ट्र का जीवन लिये हुए हों कुछ यह नहीं कि किसी विदेशी भाषा से किसी टकसाल में ढाल लिये गए हों और लादे जा रहे हों भारत की राष्ट्रभाषा के हृदय पर अपना लद्दू छकड़ा चलाने के लिये। ऐसा आज किसी भी इसलामी या अनिसलामी देश में नहीं हो रहा है फिर यह उपद्रव यहीं क्यों हो ? रही अरबी-फारसी शब्दों की बात। सो लेखक और वक्ता की इच्छा। वह जैसी भाषा का चाहे प्रयोग करे। यदि उसमें इतनी क्षमता नहीं कि वह अपने सामाजिकों को समझ सके तो आपकी अनोखी पगडंडी पर चलकर वह जनता का मैदान नहीं मार सकता। उसको अपनी भाषा में लिखने दीजिए। शक्ति होगी जीवित रहेगा। अशक्त होगा मर जायगा। यही तो यहाँ का क्रम है ? फिर इसकी चिंता क्या ? विश्व यदि सपाट हो जाय तो उसका सारा आनंद जाता रहे। बस, वाणी के विधाता न बनो उसे स्वतंत्र अपने पाट पर बहने दो। शब्द की परख कवि को होती है किसी कोश को नहीं। कोश काम चला सकता है राष्ट्र नहीं। राष्ट्र कभी नहीं उस कोश से बली हो सकता जो उसका अपना नहीं। उधार लेना पतन है पचा लेना पराक्रम और पकड़ जाना विनाश। बस, लेने की बात छोड़ो पचाने का अभ्यास करो, और आए हुए शब्दों को ऐसा अपनाओ कि फिर कभी उन्हें भागकर कहीं और जाने की सुधि न रहे और सर्वथा अपने अनुशासन में आ जायँ। अरे ! बड़े बड़े पंडित बता नहीं सकते कि अमुक शब्द का इतिहास अमुक है तो किसी हिंदुस्तानी छैला की बात ही क्या जो भाषा के क्षेत्र में सदा यही पढ़ेगा कि यह भी नहीं, वह भी नहीं। विश्वास रखिए इसका परिणाम होगा

कुछ भी नहीं, और इसका फल निकलेगा 'संशयात्मा विनश्यति।' 'दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम।' बस समझ लिया न ?

हाँ, अवश्य ही संस्कृत के आधार पर राष्ट्रभाषा खड़ी होगी। इसलिए नहीं कि वह यहाँ की धर्म-भाषा है। नहीं सच पूछिए तो कोई भी भाषा धर्म की भाषा नहीं होती। किसी भी भाषा को धर्म-भाषा के रूप में ग्रहण करना उसका उपहास करना है। संस्कृत का नाम हम धर्म के कारण नहीं प्रत्युत इतिहास, विचार और भाषाशास्त्र के कारण लेते हैं। संस्कृत का यहाँ की देश-भाषाओं से जो संबंध रहा है उसको कौन नहीं जानता। वह किसी की माता है तो किसी की दाई। सभी उसी का दूध पीती हैं और दूध भी ऐसा जो समस्त विज्ञान का दाता है। क्या आपसे यह भी कहना होगा कि आज समस्त संसार जो स्वतंत्र चिंतन कर रहा है वह सीधे उसी कुल की भाषाओं में व्यक्त हो रहा है जिसका प्राचीनतम ग्रंथ हमारे पास है और सौभाग्य से नहीं विचार से उसका नाम भी है वेद-ज्ञान। बस, आज का विज्ञान भी इसी कुल से शब्द लेता और बनाता है। यूरोप ग्रीक और लैटिन की शरण लेता है और भारत संस्कृत तथा प्राकृत की। और प्रसन्नता तथा पते की बात तो यह है कि ग्रीक लैटिन तथा संस्कृत में प्रायः वही संबंध है जो यहाँ की समस्त देशभाषाओं में। हाँ, द्रविड़-भाषाओं का भेद अवश्य उठ खड़ा होता है पर नाम कटाने के लिये नहीं प्रत्युत और भी शक्ति बढ़ाने के लिये। विविधता से शोभा बढ़ती है किंतु एकता में ही, अनेकता में नहीं।

इतना सुनना था कि कहीं से डाक्टर ताराचंद बोल पड़े— अरे ! हमें क्यों भूल रहे हो ? सो कहना है—भैया ! तुम्हें भी कोई

भूल सकता है ? सचमुच तुम तो अमर हो—अमर नहीं, देवता। समझे न ? किंतु एक बात अपनी भी मान लो। कहते हो—"संस्कृत में छ कारक हैं, हिंदी उर्दू में दो या तीन।" कहते तो ठीक ही हो पर समझते इतना भी नहीं कि 'हिंदी उर्दू में दो कारक' मानने से काम नहीं चलेगा। बस, तुम्हें तो मानना होगा हिंदुस्तानी में तीन कारक—महात्मा गांधी, मुसलिम देवता अल्लामा सुलैमान नदवी और स्वयं डाक्टर ताराचंद। बस, इसीसे तुम्हारा हिंदुस्तानी का तिकड़म चलेगा, कुछ दो कारक मान लेने से नहीं। कारक को हिंदुस्तानी में क्या कहेंगे यह हम नहीं जानते पर तारा को संस्कृति में कहेंगे ताराचंद्र इसमें संदेह नहीं। तो क्या 'ताराचंद' के जीते हुए संस्कृत सचमुच मर गई ? अजी ! कहाँ की बात करते हो ? 'तारा' संस्कृत है तो 'चंद' प्राकृत। बस, कोई कुछ भी बकता रहे पर भारत का नाम चलेगा इसी संस्कृत और प्राकृत से—तत्सम और तद्भव से, कुछ किसी बनावटी हिंदुस्तानी से कदापि नहीं।

———

१७—व्यवहार में हिंदी

सरकार कितने दिनों से बार-बार बराबर यही कहती आ रही है कि कचहरियों और दफ्तरों का काम-काज सदा ऐसी सरल और सुबोध बोलचाल की भाषा में हो जो अपढ़ जनता की समझ में भी आ सके और उनमें ऐसी लिपि का व्यवहार हो जो जनता की चिर परिचित सुगम लिपि हो, पर देखने में यह आ रहा है कि हाकिमों की उपेक्षा वकीलों की असावधानी, मुंशियों की पेट-पूजा और अहलकारों की कूट लीला के कारण युक्तप्रांत में कुछ और ही भाषा और ही लिपि का बोल-बाला है। यहाँ की कचहरियों में जो भाषा बरती जाती है वह सचमुच कहाँ की देश-भाषा है, इसका पता आज तक न तो सरकार को ही चल सका और न उसकी प्राण प्रिय प्रजा को ही; फिर भी उसका व्यवहार बराबर हो रहा है। कारण यह है कि उसके उपयोग से प्रांत की पढ़ी-लिखी साक्षर जनता भी सदा सरकारी लोगों की मुट्ठी में बनी रहती है और कभी भूलकर भी उनको धता नहीं बता सकती। यदि कभी किसी ने अपनी बहुमुखी विद्या के बल पर कुछ साहस किया भी तो शिकस्ता लिपि ने चट उसे पछाड़ दिया और अंत में हारकर विवश हो मुंशी जी की शरण में जाना ही पड़ा। तभी तो यह एक स्वर से कहा जाता है कि सचमुच कचहरी के राजा तो मुंशी जी हैं, साहब लोग तो उनके हाथ के खिलौने हैं।

इधर जनता कुछ जगी और अपने अधिकार के लिये आगे बढ़ी तो तरह-तरह के जाल रचे गए और प्रायः यह कहा जाने

लगा कि हिंदी और नागरी से सरकार का कोई सरोकार नहीं। अर्थात् युक्तप्रांत की सरकार तो उर्दू ज़बान और फ़ारसी लिपि को अपनाती है कुछ हिंदी भाषा और नागरी लिपि को नहीं। उधर ऐसे महानुभावों की भी कुछ विभूति जगी है जो लगातार कितने रूपों में इसी की रट लगाते हैं कि उर्दू सदा से कचहरियों की भाषा रही है और आज द्वेषवश कुछ 'आरिया' अथवा 'सभाई' लोग ही उसे हटाकर उसकी जगह एक बनावटी भाषा यानी हिंदी को चालू करना चाहते हैं। इस प्रकार कुछ घुड़की कुछ धमकी और कुछ पक्षपात के पंजे से बच भागने के लिये लोग चुपचाप अपनी भाषा और अपनी लिपि को तिलांजलि दे उर्दू का दम भरते और दफ्तरों की सतबेझड़ी बोली को अपनाते हैं। उदार हाकिम भी प्रमादवश मौन रह जाते और क्रूर हाकिमों को और भी खुलकर खेलने का अवसर देते हैं। निदान यह उचित जान पड़ा कि युक्तप्रांत की सरल जनता को इस बात से खूब सचेत और भलीभाँति सावधान कर दिया जाय कि भविष्य में वह कभी इस प्रकार के चक्कर में न पड़े और अपने भाषा-संबंधी अधिकार से अभिज्ञ हो उसकी प्राप्ति के लिये पूरा प्रयत्न करे। और यदि कहीं से किसी प्रकार की कोई अड़चन उसके सामने आए तो उसकी सूचना सरकार तथा समस्त देश को दे और फिर देखे कि उसका साधु साहस कितना शीघ्र सफल होता है—मुंशी जी कैसे तुरत उसका काम उसकी भाषा में कर देते हैं। अच्छा तो दूर की बात जाने दीजिए। लीजिए अभी उस दिन कंपनी सरकार ने कहा था—

इस आईन के ३ दफे के जिलों (अलीगढ़, सहारनपुर, आगरा और बुंदेलखंड) के जज साहिब और मजिसटरट साहिब को लाजिम

है के जिस वकत इस आईन का फारसी या हिंदी तरजमा उनके कने पहुँचे तो उसके तईं अपनी कचहरीयों में पढ़वावें और मशहूर करें और इसी तरह से जिन आइनों ने के इस आईन के रू से उपर के जिलों में चलन पाई है उनका तरजमा भी पढ़वावें और मशहूर करें और ३ दफे के जिलों की दीवानी अदालत के वकीलों को हूकम है के जौन सी आईन के उपर के जिलों की दीवानी अदालत के मोकदमों से किस-किस तरह का इलाका रखना है तो उस आईन के तरजमे की नकल लेकर अपने पास रख छोड़ें बलके जज साहिब और मजिसटरट साहिबों को यह भी जरूर है के जो नकलें सन् १८०३ की ४६ आईन के १० दफे के रू से शहरों और अपने जिलों के काजियों को देवें इसी तरह पर छोटे बड़े के खबर के लिए मोनसिफों की कचहरियों में के वे मोनसिफ सन् १८०३ की १६ आईन के मोवाफिक ठहरे हैं और ऐसे ही तहसीलदार और दारोगों की कचहरियों में के ३५ आईन के रू से पुलिस इखतेयार उनको दिया गया है पढ़वावें और मशहूर करवावें और जाना जावे के जेतनी आईन के आगे चल के बनेंगी इस काएदे के मोवाफिक इसी तरद पर शोहरत पावेंगी और पाऐ हुऐ और फतह किऐ मूलकों के सब महलों में चलन पावेंगी (**अँगरेजी सन् १८०५ साल ८ आईन ३१ दफा**)

कंपनी सरकार के इस आईन को सामने रखकर ध्यान से देखिए और कहिए कि भाषा के विषय में कंपनी-सरकार की नीति क्या है और वह किस भाषा और किस लिपि का व्यवहार किस दृष्टि से चाहती है। 'फ़ारसी तरजमा' के बारे में तो इतना जान लीजिए कि वस्तुतः फ़ारसी ही उस समय की राजभाषा थी और उसी में शाही काम-काज होते थे। रही 'हिंदी' की बात सो उसके संबंध में इतना मान लीजिए कि हिंदी से कंपनी सरकार का तात्पर्य है हिंदी भाषा और हिंदी-अक्षर-कुछ उर्दू-भाषा और फारसी-

१४

अक्षर नहीं। कंपनी-सरकार की निश्चित नीति तो यह है कि दरबारी लोगों की जानकारी के लिये फारसी-भाषा का और फारसी-लिपि का व्यवहार करो और सामान्य जनता के उपयोग के लिये नागरी-भाषा और नागरी-लिपि का। एक आईन में साफ-साफ नागरी भाषा का विधान कर यह स्पष्ट दिखा दिया गया है कि कंपनी सरकार की हिंदी का अर्थ है नागरी-भाषा और नागरी अक्षर ही—कुछ उर्दू-भाषा और नागरी-लिपि अथवा हिंदी-भाषा और फारसी-लिपि नहीं। प्रमाण के लिये तुरत देखिए। उसका स्पष्ट निर्देश है—

किसी को इस बात का उजूर नहीं होऐ के उपर के दफे का लिखा हुकुम सभ से वाकीफ नहीं है। हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजिम है के इस आईन के पावने पर ऐक-ऐक केता इसतहारनामा नीचे के सरह से फारसी वो नागरी भाषा के अच्छर में लीखाऐ कै अपने मोहर वो दसतखत से अपने जिला मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर में मालगूजारी करता उन सभों के कचहरि में वो अमानि महाल के देसी ताहसीलदार लोग के कचहरि में भी लटकावही...वो कलीकटर साहेब लोग को लाजीम है के इसतहारनामा अपने कचहरी मो वो अदालत जज साहेब लोग के कचहरि में भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही। (अँगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन २० दफा)

विचार करने की बात है कि जिस उर्दू-भाषा और फारसी-लिपि के लिये आज इतना ऊधम मचाया जा रहा है उसका उल्लेख कहीं भी किसी भी आईन में नहीं है; यदि है तो फारसी भाषा और फारसी-लिपि एवं हिंदी-भाषा और नागरी-लिपि का ही। उर्दू-फ़ारसी-लिपि का विधान तो तब हुआ जब मुगलों की

भाषा फारसी दरबार से उठ गई और उसकी जगह अँगरेजी राजभाषा बनी। दिल्ली के मुगल दरबार में जो उर्दू ईजाद हुई वही दीवानी के नाते कलकत्ता से फिरंगी दरबार को भी मोहने लगी। किंतु फारसी के कारण जनता को जो कष्ट उठाना पड़ता था उसको देखकर कंपनी सरकार ने निश्चित किया कि फारसी कचहरियों से बिदा कर दी जाय; पर स्थिति की कठोरता के कारण उसे कुछ इधर-उधर करना ही पड़ा और फलतः आज तक वह उर्दू की ओट में कुछ इधर उधर बनी रही।

उर्दू कचहरियों में सहसा कैसे कूद पड़ी, इसका कुछ पता इस आज्ञा से चल जाता है—

सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फ़ारसी ज़बान में लिखा-पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है और जो कोई अपनी अर्जी अपनी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ को कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिंदी बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करै कै डाक पर भेजै और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिंदी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। (मिति २९ जूलाई सन, १८३६ ई०)।

हिंदी बोली के साथ पारसी अक्षरों का विधान हो गया, पर अभी किसी उर्दू का नाम नहीं आया। क्यों? कारण जो हो, पर उधर फोर्ट विलियम कालेज में उसके मुंशी जम गए थे और 'हिंदोस्तानी' की ओट में उर्दू का प्रचार डटकर कर रहे थे। इससे हुआ यही कि इधर फोर्टविलियम सरकार ने फारसी से ऊबकर

यह आज्ञा निकाली कि धीरे-धीरे फारसी की जगह देशभाषाओं को चालू किया जाय तो उधर फोर्टविलियम कालेज (स्थापित सन् १८०० ई०) ने यह पाठ पढ़ाया कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है जो गाँवों में बोली जाती है। निदान हिंदुस्तान की शिष्ट भाषा वह हिंदुस्तानी समझी गई जो दरबार में बरती जाती थी। डाक्टर गिलक्रिस्ट ने इसी दरबारी भाषा को उर्दू कहा है, और मीर अम्मन देहलवी ने इसी को 'सौदा-सुल्फ़' लेन-देन की। स्मरण रहे कि उर्दू को 'बाज़ार' या 'लश्कर' की बोली इन्हीं महोदय ने कहा है, नहीं तो उर्दू सदा मानी जाती थी 'उर्दू' यानी दरबार की ही भाषा। हाँ, तो सन् १८३७ ई० के ऐक्ट में देश-भाषाओं को महत्त्व मिला है किसी दरबारी उर्दू को नहीं। ध्यान से देखें। वह ऐक्ट है कि—

"It is hereby enacted that from the First day of December 1837, it shall be lawful for the Governor-General of India in Council, by an order in Council, to dispense either generally, or within such local limits as may seem to him meet, with any provision of any Regulation of the Bengal Code, which enjoins the use of the Persian language in any judicial proceeding relating to the Revenue and to prescribe the language and character to be used in such proceedings." (Act N0. XXIX of 1837, passed on the 20th November, 1837.)

इसका सीधा-सादा अर्थ है कि हिंदुस्तान के गवर्नर-जनरल

साहब अपनी कौंसिल के साथ यह निश्चित कर लें कि किस देश के किसी भाग से किस अंश में फारसी-भाषा माल-विभाग और दीवानी से निकाल दी जाय और उसकी जगह कौन-सी भाषा और कौन-सी लिपि चालू की जाय। ऐक्ट कितना सीधा था पर उसका काम कितना टेढ़ा हो गया। उसके अनुसार फारसी के उठ जाने पर स्वभावतः हिंदी-भाषा और नागरी-लिपि का बोलबाला हो जाता। पर भारत-सरकार को यह बात रुची नहीं। रुचती भी कैसे ? फारसी के लिये मर-मिटनेवाले भी कम न थे और उस समय वह थी भी दिल्ली के आधीन ही। निदान हुआ यह कि युक्तप्रांत की अपनी वाणी जाती रही और उसकी हिंदी बोली और नागरी लिपि की जगह मिल गई मुगली बोली और फारसी लिपि को। सो कैसे तनिक इसे भी देख लें। युक्त-प्रांत की सदर दीवानी अदालत ने इसके दो वर्ष बाद सरक्यूलर निकाला जिसमें कहा गया कि—

"The Court direct that, from the Ist of July next, the use of Parsian in all civil proceedings, pleadings, petitions and writings of whatsoever description, both in your own and the subordinate courts, be abandoned and the Hindoostanee substituted in lieu of it,—this rule not being, however, construed to prohibit parties, who may desire it, from presenting, nor the Judge from receiving, such Hindoostanee pleadings, petitions and othr writings, with the accompaniment of a Persian translation." (N0. 33, dated 12th April, 1839.)

यहाँ तक तो कोई बात न थी क्योंकि इसमें फारसी की जगह हिंदुस्तानी को दी गई थी और यह मान लिया गया था कि यदि हिंदुस्तानी के साथ उसका फारसी उल्था भी दे दिया जाय तो कोई क्षति नहीं। पर इसके आगे जो उर्दू का उल्लेख किया गया वह हिंदी के लिये घातक सिद्ध हुआ। उर्दू किसी हिंदी-लिपि में कब लिखी गई ? बस उसमें तो कहा गया कि सरकार चाहती है कि साफ और सुबोध उर्दू में कचहरी के काम-काज का विशेषतः सूत्रपात हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विधान में यद्यपि उर्दू के साथ ही साथ कहीं-कहीं के लिये हिंदी बोली का भी विधान कर दिया गया है तथापि सच पूछिए तो वस्तुतः इसने हिंदी-भाषा और हिंदी-लिपि की हत्या कर मुगली-भाषा और मुगली-लिपि का प्रचार कर दिया है। कारण, इस प्रकार उसने जो हिंदुस्तानी का ढोंग किया और फारसी को निकाल बाहर करने का जो उपाय रचा वह सब हिंदी के सिर पड़ा और फलतः उसी का सर्वनाश हुआ। देखिए न, सदर दीवानी अदालत ने कहा कि 'हिंदी जहाँ वह प्रचलित है।' 'प्रचलित' और 'जहाँ' का अर्थ ? वह तो घर-घर बरती जाती है। तो भी सरकार का कहना है—

"It is the wish of Government that care should be taken especially on first introducing the measure, that the pleadings and proceedings be recorded in clear intelligible Oordoo, (or Hindee were that dialect is current,) and that the Native ministerial officers, hitherto accustomed to write a somewhat impure Persian, do not merely substitute a Hindoo-

stanee for a Persian verb at the end of a sentence, under the mistaken idea that such a practice will be considered as fulfilling every object in view in making the change." (वही)

सदर दीवानी अदालत ने यह जान लिया कि लोग किस प्रकार लिया-दिया आदि को जोड़कर फारसी को उर्दू बना लेते हैं पर वह यह न जान सकी कि यह उर्दू कभी फारसी को छोड़ कर लोक-वाणी की पटरी पर चल नहीं सकती। तभी तो उसने जान-बूझकर हिंदी की जगह हिंदुस्तानी यानी उर्दू को चालू किया ? इसका कारण चाहे जो हो, पर इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि उसका उर्दू से पूरा पड़ता नहीं दिखाई देता है और इसी से वह सरल और सुलझी रीति की चेतावनी देती है। पर क्या कभी यह संभव है ? नहीं, उर्दू तो फारसी-प्रिय लोगों की प्रसन्नता के लिये मैदान में आई है और इसी से हिंदुस्तानी की आड़ में वह हिंदी का शिकार करने में लगी है।

हाँ, तो माल के सदर बोर्ड ने भी दीवानी का साथ दिया। उसने भी कह दिया कि बोर्ड का प्रस्ताव है कि फारसी-लिपि बनी रहे। सो इस प्रकार अब हम देखते हैं कि युक्तप्रान्त की सदर दीवानी अदालत और माल के सदर बोर्ड ने मिलकर नागरी को नष्ट करने का उपाय रचा और फारसी की जगह उर्दू का प्रचार कर हिंदी-उर्दू का नया प्रपंच खड़ा किया। अच्छा, तो सदर बोर्ड की उक्त विज्ञप्ति है कि जहाँ कहीं नागरी जमी है वहाँ वह चले पर उसको छोड़कर अन्यत्र फारसी लिपि ही बनी रहे। भाषा गई पर लिपि नहीं। यही तो न्याय है !

"The Board propose that the Persian character shall be retained, except in those very few districts in which the Nagree has obtained and established an almost "universal currency." (No. III, dated 28ht August, 1840.)

अतः हम देखते हैं कि वस्तुतः बोर्ड के सामने फारसी-लिपि की रक्षा का प्रश्न है कुछ लोक-लिपि के प्रचार और लोक-वाणी के व्यवहार का उद्योग नहीं। बोर्ड की दृष्टि में यह उचित जान पड़ता है कि फारसी लिपि रहने दी जाय और केवल वहीं से वह हटाई जाय जहाँ नागरी का व्यापक प्रचार और बोलबाला हो गया है। तनिक विचार करने की बात थी कि जनता की लिपि फारसी किस प्रकार कही जा सकती थी और क्योंकर प्रजा के हित के विचार से उसका व्यवहार किया जा सकता था। परंतु बोर्ड ने किया यह कि फारसी-लिपि की रक्षा की ठान ली और फलतः आज तक उसके प्रताप से वहाँ फारसी-लिपि और फारसी-भाषा की प्रधानता बनी है। उसके व्यवहार में देश की खरी भाषा कहाँ है? उसकी भाषा तो बिगड़ी फारसी या मुगली ही है देश से उसका कौन-सा सीधा लगाव है कि वह बरबस जनता के गले उतारी जाती और उसके व्यवहार की लिपि बताई जाती है? सच बात तो यह है कि यदि वस्तुतः सरकार लोक का कल्याण चाहती और किसी अपनीति का सहारा न लेती तो कचहरियों में उर्दू को कभी जगह न मिलती और अँगरेजी शासन में हिंदियों के हित के लिये फारसी के मदरसे न खुलते। आज जो चारों ओर उर्दू का झंडा फहराया जा रहा है वह और कुछ नहीं, इसी आग का धुआँ है जो धीरे-धीरे इतने दिनों से बड़ी सावधानी के सथ

सुलगाई जा रही थी और फलतः आज भी राष्ट्र-जीवन का दम घोटने के लिये पर्याप्त समझी जाती है। पर इसमें दोष किसका है ? सरकार नहीं, आप का।

कचहरियों और सरकारी काम-काजों में उर्दू कैसे और किस ओर से घुसी, इसका रंचक आभास तो मिल गया, अब थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए कि सरकार इस भाषा के विषय में बराबर कहती क्या आ रही है और उसके कचहरिया बाबू उसकी सुनवाई कहाँ तक करते आ रहे हैं। माल के सदर बोर्ड ने उसी समय स्पष्ट कह दिया था कि सरकार फारसी से लदी उर्दू को नहीं पसंद करती। उसकी दृष्टि में तो उस भाषा का व्यवहार होना चाहिए जो किसी शिष्ट सज्जन की समझ में जो फारसी से सर्वथा अनभिज्ञ हो, सरलता से आ जाय। परंतु बोर्ड की बात अनसुनी कर दी गई। उसने कहा था कि न केवल हिंदी क्रिया और हिंदी प्रत्ययों का प्रयोग किया जाय बल्कि उसकी पदयोजना भी हिंदी हो और उसे फारसी से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति भी समझ ले—

"You should therefore explain to the officers under your control that it is not the mere substitution of Hindee verbs and affixes which the Board wish to see adopted. They desire that every paper shall be written in the phrase in which a well spoken respectable man, altogether unacquainted with Persian, would express himself." (वही)

अस्तु, कहा गया था कि गँवारू बोली नहीं; शिष्टभाषा को जगह दी जाय, पर उसका अर्थ लगाया गया कि कभी जनता की वाणी को जगह न मिले। कचहरिया बाबुओं की दृष्टि में उर्दू के सिवा शिष्ट हो ही कौन सकता है कि उसकी भाषा को प्रमाण माना जाय! नतीजा यह निकला कि अभी तक इस प्रांत की सरकारी हिंदुस्तानी भाषा बिगड़ी फारसी अथवा दरबारी उर्दू ही रह गई। वह दिल्ली के कुलीन मुसलमानों की ज़बान भी न बन सकी। बिहार आदि प्रांतों में जहाँ हिंदी को जगह मिली, वहाँ से भी यह गड़बड़झाला दूर नहीं हुआ, किसी न किसी रूप में चलता ही रहा, और आज तो न जाने कहाँ से बल पाकर और भी उभर आया है। खैर, कुछ भी हो; कहना तो यह है कि सरकार ने उर्दू को बसाकर जनता को उजाड़ दिया और पढ़े लिखे सच्चे नागरिकों को भी पक्का जपाट बना दिया। कचहरियों के शिकस्त कागदों ने किसको परास्त नहीं किया! स्वयं सरकार को भी!

दीवानी और बोर्ड की आज्ञाएँ निकलती और रद्दीखाने की टोकरी की शोभा बढ़ाती रहीं। कचहरी में उर्दू का जाल बिछा तो जनता कागज पढ़ने के लिये, उर्दू के पीछे पड़ गई। चारों ओर उर्दू के मदरसे खुलने लगे और गँवारू हिंदी को गाँवों से भी बिदाई मिलने लगी। जिसके हृदय में राष्ट्र की भावना काम कर रही थी और जो निरीह जनता की बोली को समझता था वह यह कपटलीला कहाँ तक देख सकता था। निदान राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद मैदान में आए और कचहरियों में हिंदी का प्रचार करना चाहा। चाहते वस्तुतः वे सरल उर्दू ही थे, पर प्रचार नागरी-लिपि का करना चाहते थे, जिससे व्यथित होकर सर सैयद अहमद खाँ बहादुर ने खतरे की घंटी बजाई, जो आज कयामत के मुँह से

बोल रही है और बातों में उलझाकर जनता की वाणी को सहसा मिटा देना चाहती है। इसके लिये उर्दू कहीं मेल-जोल की मिठाई बताई जाती है तो कहीं जिहाद करने के लिये 'नबी की ज़बान।' आये दिन रंग बदलना तो उसका धर्म हो गया है। पर सच्ची बात यह है कि वह जैसे-तैसे फारसी को पालना और उसके बंदों का पेट भरना चाहती है, कुछ हिंदियों को पार लगाना नहीं। यही कारण है कि जब कभी कचहरी की भाषा को सरल और सुबोध बनाने का प्रश्न छिड़ता है तब बी उर्दू चिटक जाती हैं और उसका मुँह खोलकर विरोध करती हैं। सरकार भी इस हो-हल्ला से तंग आकर अपनी जान बचाती और कचहरी की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं करती है। गत सौ वर्ष इसके बोलते प्रमाण हैं। उनके आधार पर यह प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है कि वास्तव में उर्दू क्या है और उसका प्राण कहाँ बसा है और सरकार क्यों जो कहती है उसे पूरा नहीं करती।

जो हो, कोसने अथवा व्यर्थ के विवाद से काम न चलेगा। यदि प्रमाद से, हमारी भूल, वितंडा से, नीति से अथवा किसी भी लग्गू-बज्झू कारण से हिंदी की जगह उर्दू चालू कर दी गई और उसे फारसी की पटरी पर रपटने के लिये छोड़ दिया गया तो कोई बात नहीं। जो लोग उसके प्रेमी हैं, शौक से उसे गले लगाएँ, पर कृपया भूल न जाएँ कि इस देश की वाणी भी अभी इसी देश में जीवित है। घर-बाहर सभी जगह कण-कण से बोल रही है। सरकार ने उसी को महत्त्व दिया है। कचहरियों और दफ्तरों में उसी के शिष्ट रूप को स्थान मिला है। फिर जो लोग अपने कागदों में उसकी सच्ची प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं उनकी अवहेलना क्यों होती है और उन्हें फटकार किस बूते पर बताई जाती है? क्या कायरता और कुपूतता के अतिरिक्त और भी कोई

कारण हो सकता है ? नहीं। क्योंकि हम भली भाँति जानते हैं कि सरकार ने सरल और सुबोध शिष्ट भाषा को ही अपनाया है और इसीलिये बारबार इस बात का आग्रह भी किया है कि कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में वही भाषा बरती जाय जो फारसी से सर्वथा अनभिज्ञ, शिष्ट समाज के व्यवहार में हो अथवा उनकी समझ से बाहर की न हो और पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर बिलकुल बोलचाल की हिंदुस्तानी यानी शिष्ट खड़ी बोली हो। साथ ही लिपि का प्रश्न भी हल कर दिया है। उसने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि लिपि के व्यवहार में जनता स्वतंत्र है। चाहे फारसी-लिपि का व्यवहार करे, चाहे नागरी-लिपि का प्रयोग, सरकार की ओर से इसमें किसी प्रकार की अड़चन न होगी। फिर भी देखने में यह आता है कि सरकारी कर्मचारी अपनी ओर से कभी-कभी कोई न कोई बाधा उठाते रहते हैं और अहलकारों के चकमें में आकर हाकिम भी कुछ बेढंगी और हिंदी के प्रतिकूल बातें कर जाते हैं। निदान जनता को विवश हो फिर उसी बहुरंगी उर्दू की शरण लेनी पड़ती और अपनी प्राण की कमाई को पानी की भाँति बहाना पड़ता है। केवल कागद पढ़ने के लिये जो पैसे ऐंठे जाते हैं उनकी मात्रा कुछ कम नहीं होती। अतएव यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि सरकार नागरी को अपनाने के लिये तैयार है और उसके सभी कर्मचारी नागरी अपनाने को विवश भी हैं। उन्हें सरकार को विश्वास दिलाना पड़ता है कि वे नागरी जानते हैं। यदि यह सिद्ध हो जाय कि उन्हें नागरी का ज्ञान नहीं है तो अंत में उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़े। फिर भला उनमें इतना बल कहाँ कि जनता की लिपि की उपेक्षा कर उसके जन्मसिद्ध अधिकार की अवहेलना करें। पर यह तभी संभव है जब जनता दिलेरी और साहस के साथ अपने अधिकार के लिये अधिकरण

अथवा कचहरी में अड़ जाय और नागरी के अतिरिक्त और किसी को न अपनावे।

पहले कहा जा चुका है कि सन् १८६८ ई० में राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद ने कचहरियों में नागरी के प्रवेश के लिये प्रयत्न किया पर उनको सफलता न मिली। उन्हीं की भाँति बहुतों ने जब तब छिटफुट यत्न किया, पर सभी असफल रहे। अंत में महामना पंडित मदनमोहन मालवीय मैदान में आए और एक अत्यंत व्यवस्थित ढङ्ग से इस काम को हाथ में लिया। एक ओर तो उन्होंने नागरी के पक्ष में हस्ताक्षरों की योजना की तो दूसरी ओर बहुत सी सामग्री संचित कर 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन' नाम की पुस्तक लिखी। इन सामग्रियों को हाथ में लेकर प्रांत के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के मंडल के साथ छोटे लाट साहब से मिले और उनकी सरकार को समझा-बुझाकर अपने पक्ष में कर लिया। अंत में १८ अप्रैल सन् १९०० ई० को सर ए० पी० मैकडानल ने एक विज्ञप्ति निकाल दी, जिससे कचहरियों में नागरी को भी स्थान मिल गया। फिर क्या था? देश के मुगली लोगों ने ऐसा ऊधम मचाया कि उसका कुछ ठिकाना नहीं। जगह-जगह पर सभायें की गईं, जगह जगह से प्रस्तावों की बौछार आई, पर लाट साहब तनिक भी विचलित न हुए और अंत में बड़े लाट साहब की अनुमति से यह आईन बन गया कि सभी लोग अपनी अर्जी शिकायत की दरख्वास्त चाहे नागरी या फारसी-लिपि में दे सकते हैं और सभी कागद जैसे समन आदि जो सरकार की ओर से जनता के लिये निकाले जायँगे, दोनों लिपियों में यानी नागरी और फारसी-लिपि में लिखे अथवा भरे होंगे। सरकार ने इसके साथ ही इस बात का भी प्रबंध कर दिया कि आगे किसी भी व्यक्ति को तभी

सरकारी नौकरी मिल सकेगी जब वह हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं को जान ले और जो कर्मचारी अभी हिंदी नहीं जानते हैं, वर्ष भर में वे उसे अवश्य सीख लें अन्यथा नौकरी से अलग कर दिये जायँगे। अच्छा तो वह आईन है—

I. All persons may present their petitions or complaints either in the Nagri or in the Persian character, as they shall desire.

II. All summonses, proclamations, and the like in vernacular, issuing to the public from the courts or from Revenue officials, shall be in the Persian and the Nagri characters, and the portion in the latter invariably be filled up as well as that in the former.

III. No one shall be appointed, except in a purely English office, to any ministerial appointment after one year from the date of this Resolution unless he knows both Hindi and Urdu, and any one appointed in the interval who knows one of these languages not the other, shall be recquired to qualify in the language which he does not know within one year of his appointment.

(नं० ५८५/३–३४३ सी ६८, १९०० संशोधन के साथ)

नागरी को स्थान मिला तो सही, पर कर्मचारियों के साथ जो उदारता का व्यवहार किया गया वह हिंदी के लिये घातक होता रहा। कभी किसी हाकिम की शिकायत सरकार के पास पहुँचती थी तो कभी किसी अहलमद की। सरकार भी अपने कर्तव्य की इति इसी में समझ लेती थी कि उक्त हाकिम अथवा अहलमद को सचेत कर दिया जाय कि भविष्य में वह ऐसा न करे। सरकार की इसी ढिलाई का यह परिणाम है कि आज तक कचहरियों और दफ्तरों में हिंदी को उचित स्थान न मिला और आये दिन इस बात पर विवाद होता रहता है कि हिंदी को कहाँ तक सरकारी काम-काजों में महत्त्व दिया जाय।

समय-समय पर सरकार की ओर से युक्तप्रांत की भाषा के विषय में जो विज्ञप्तियाँ निकलती रही हैं उनका विवरण देना व्यर्थ होगा। संक्षेप में यहाँ इतना जान लीजिए कि १६ फरवरी सन् १९३२ ई० को कौंसिल ने यह प्रस्ताव मान लिया कि हाकिम को अधिकार है कि वह कचहरी अथवा अदालत की कार्रवाई चाहे जिस भाषा में करे। वह देवनागरी और उर्दू में से किसी भी लिपि का व्यवहार कर सकता है। पर साथ ही उसने यह भी प्रस्ताव किया कि किसी भी देश-भाषा के कागद की नकल उसी लिपि में दी जायगी जिसमें कि लेनेवाला चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कौंसिल ने भी हिंदी और उर्दू को बराबर का स्थान दिया। कौंसिल का उक्त प्रस्ताव अपने शुद्ध रूप में यह है—

"That the Council recommends to the Government that the Presiding officers of all courts should be at liberty to write the Proceedings of courts either in Devanagri or Urdu script as they like.

"That this Council recommends to the Government that certified copies of all vernacular records and documents may be supplied to the applicants according to their desire either in Devanagri or Urdu script." (February 16, 1933).

फारसी-भाषा की जगह जैसे उर्दू-भाषा चालू हो गई, वैसे ही फारसी-लिपि की जगह उर्दू-लिपि का नाम चल निकला, फिर भी उर्दू के हिमायतियों को संतोष न मिला। कारण यह था कि उन्हें नागरी से बड़ा भय था। भय ने उस समय निश्चय का रूप धारण कर लिया जब कांग्रेस प्रभुत्व में आई और जनता सचेत हो अपनी भाषा और अपनी लिपि की ओर लपक पड़ी। अब चारों ओर से यह आग्रह होने लगा कि वस्तुतः युक्तप्रांत की देशभाषा उर्दू और देशलिपि भी उर्दू ही है। सरकार की आज्ञाओं और विज्ञप्तियों में जहाँ कहीं वर्नाक्यूलर शब्द दिखाई देता था वहाँ चट उसका अर्थ उर्दू लगा लिया जाता था। निदान, इस धाँधली से ऊबकर ७ फरवरी सन् १९३९ ई० को लेजिस्लेटिव असेंबली में श्री चरणसिंह ने यह प्रश्न किया कि युक्तप्रांत की अदालती अथवा हाकिमी भाषा क्या है? यह केवल उर्दू ही है अथवा नागरी और फारसी-लिपि में लिखी जानेवाली हिंदुस्तानी? कहना न होगा कि यह प्रश्न बड़े ठिकाने का था और सरकार की ओर से इसका उत्तर भी ढङ्ग का मिल गया। प्रधान मंत्री के पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी ने उत्तर दिया कि हाकिमी भाषा अँगरेजी है और अदालती भाषा हिंदुस्तानी है जो नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है सरकार की नीति है कि देवनागरी और फारसी लिपि को समभाव से देखा जाय। उत्तर महत्त्व का है, अतएव इसे मूल रूप में भी देख लें। सरकार का कहना है—

The official language is English. The court language is Hindustani written in both scripts–Devanagri and Persian. The policy of Government is that both Devanagri and Persian scripts shuld be treated on the same footing"

(February 7, 1939.)

अस्तु हम देखते हैं कि ठीक सौ वर्ष के बाद इतनी रगड़-झगड़ करने के उपरांत फिर नागरी को युक्तप्रांत की अदालतों में उचित स्थान मिला है। अब कहना चाहें तो सरलता से बिना किसी रोक-टोक के कह सकते हैं कि आरंभ में कंपनी सरकार ने जिस प्रकार फारसी-भाषा और फारसी-लिपि के साथ ही साथ नागरी-भाषा और नागरी-लिपि को अदालतों में स्थान दिया था, उसी प्रकार युक्तप्रांत की उदार सरकार ने आज फिर उर्दू भाषा (यदि कही जा सकती है) और फारसी-लिपि के साथ हिंदी-भाषा और हिंदी-लिपि को भी स्थान दिया है। अब यह आपका कर्त्तव्य है कि अपनी भाषा और अपनी लिपि का अपमान करें अथवा संमान। सरकार तो अब इस विषय में कुछ और करने से रही। यदि कुछ करेगी भी तो नागरी का अनिष्ट ही। क्योंकि गत सौ सवा-सौ वर्षों का इतिहास इसी बात का प्रमाण है कि सरकार ने धीरे-धीरे नागरी-लिपि और हिंदी-भाषा को कचहरियों और दफ्तरों से बड़ी क्रूरता के साथ निकाल दिया और जीजान से इतना प्रयत्न करने पर भी किसी प्रकार उसे उर्दू के बराबर रख दिया। उसने कभी इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि उसके व्यवहार की भाषा कहाँ तक देशभाषा अथवा जनता की बोली है। अच्छा होगा, उसकी सर्वसुबोध हिंदुस्तानी का एक नमूना उसके सामने रख दिया जाय और यह भी स्पष्ट बता दिया जाय

कि वस्तुतः हम उसे किस रूप में देखना चाहते हैं और सचमुच किसे सर्वसुबोध समझते हैं। लीजिए एक नोटिस है—

लिहाज़ा वज़रियः इस तहरीर के तुम रामपदारथ मज़कूर को इत्तला दी जाती है कि अगर तुम ज़र मज़कूर यानी मुबलिग़ १५।=) जो अज़रूए डिगरी वाजिबुल अदा है इस अदालत में अंदर पंद्रह रोज़ तारीख मौसूल इत्तलानामा हाज़ा से अदा करो वरनः वजह ज़ाहिर करो कि तुम मुंदर्जा ज़ैल खेतों से जिनके बाबत बक़ाया डिगरीशुदा वाजिबुल अदा है, बेदखल क्यों न किये जाओ।

यह तो हुई हमारी उदार सरकार की ठेठ हिंदुस्तानी जिसे उसके पाले-पोसे जीव ही समझते हैं पर हम इसे इस रूप में सहज में समझ सकते हैं—

सो इस लेख से तुमको जताया जाता है कि तुम ऊपर कहा हुआ रुपया जिसकी तुम्हारे ऊपर डिगरी हो चुकी है इस नोटिस के पाने से पंद्रह दिन के भीतर इस अदालत में चुकता करो, नहीं तो कारण बतलाओ कि तुम नीचे लिखे खेतों से जिनके ऊपर डिगरी का रुपया चाहिए, क्यों न बेदखल किये जाओ। (आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल के 'हिंदी एण्ड मुसलमांस' शीर्षक लेख से, लीडर १६ अप्रैल, सन १९१७ ई०)

कहने का निचोड़ यह कि जब तक हिंदी-जनता हिंदी और नागरी के व्यवहार के लिए तुल नहीं जाती और वकीलों, मुहर्रिरों और अहलकारों को विवश नहीं कर देती तब तक देश में किसी देशभाषा का बोलबाला नहीं हो सकता। यदि सचमुच आर्यावर्त को अपनी भाषा और अपनी लिपि की लाज रखनी और अपने जन्मसिद्ध अधिकार को प्राप्त करना है तो आज से ही आप दृढ़

संकल्प कर लें कि नागरी के अतिरिक्त किसी और को अपने प्रतिदिन के व्यवहार और काम-काज में कभी भी स्थान न देंगे और यदि कोई विघ्न डालेगा तो उसे भी देख लेंगे। विश्वास रखिए जहाँ आपने ऐसा अनुष्ठान किया वहाँ देश से हिंदुस्तानी का ब्रह्मराक्षस दूर हुआ और आप राष्ट्र की स्वतंत्र भावभूमि पर आ जमे। फिर न तो हिंदी-उर्दू का द्वन्द्व रहा और न रहा हिंदुस्तानी का कहीं कोई ओझा ही। हाँ, सभी को अपनी वाणी मिल गई और साथ ही मिल गया अपनों में अपना स्थान भी। हम निपट गँवार राजनीति को क्या जानें? पर हमारी परंपरागत भाषा का व्यवहार यही है, यही है, यही है। और यही है हमारा राष्ट्रहृदय अथवा सच्चा स्वराज्य भी—राष्ट्र और राज्य भी।

———

१८—देशी सिक्कों पर नागरी

देश में जब राजभाषा और राजलिपि का प्रश्न छिड़ गया है तब यह भी देख लेना अनिवार्य हो गया है कि देशी नरेशों ने नागरी के प्रति अपने सिक्कों पर क्या व्यवहार किया है। सो प्रथम ही यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि वास्तव में यह इस जनका विषय नहीं और न इस समय इतना अवकाश ही है कि इसका पूरा-पूरा अध्ययन कर इसकी मीमांसा में लगे। परंतु जब दिखाई यह देता है कि किसी जानकार का ध्यान ही इधर नहीं जाता तब थोड़ा अपनी ओर से ही इस विषय में लिख देना कोई पाप नहीं। निदान बताया जाता है कि देशी नरेशों ने जब तब अपने सिक्कों पर जो नागरी को स्थान दिया है वह कुछ कम महत्त्व का नहीं। क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या गौड़ क्या द्रविड़ सभी राज्यों में नागरी को कुछ न कुछ, कहीं न कहीं स्थान अवश्य मिला है, हमारे पास पूरी सामग्री नहीं फिर भी जो प्रस्तुत है उसके आधार पर यह बताया जाता है कि मैसूर के कन्नड़ राज्य से लेकर जावरा के मुसलमानी राज्य तक नागरी का व्यवहार पाया जाता है। सर्वप्रथम मैसूर राज्य को ही ले लीजिए, क्योंकि यही हमारा प्रमुख देशी राज्य है। कश्मीर का विस्तार अधिक है, पर धनजन उतना नहीं जितना मैसूर का। रहा हैदराबाद का उसमानी राज्य, सो उसको देशी राज्य मानना ही भूल है। उसके शासक कभी अपने आपको हिंदुस्तानी नहीं कह सकते। निदान कहना पड़ता है कि मैसूर के देशी राज्य में नागरी को स्थान मिला है। हैदरअली और टीपू सुलतान के कट्टर

शासन के पहले के सिक्कों पर नागरी को जो स्थान मिला उसकी चर्चा व्यर्थ सी जान पड़ती है अतएव संक्षेप में बताया यह जाता है कि मुसलमानी पंजे से मुक्त होने और कुछ-कुछ स्वतंत्रता की साँस लेने पर मैसूर के श्रीकृष्ण राज (सन् १७९९–१८६८) ने अपने सिक्के पर नागरी को स्थान दिया और अपना नाम इसी में अंकित कराया, ऐसा क्यों किया, इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में 'नागरी' का यह अधिकार था और वही उनके विचार में उनकी सार्वभौम लिपि थी, उनके पूर्व पुरुषों के द्वारा नागरी का कितना हित हुआ था, इसे कौन कहे, परंतु इस अवसर पर उन्होंने जो कुछ किया वह भी कुछ कमी नहीं।

मैसूर के अतिरिक्त बड़ौदा का भी देशी राज्यों में प्रमुख स्थान है। उसके शासकों ने जब तब हिंदी के लिये जो कुछ किया है उसका लेखा लेने का यह अवसर नहीं, यहाँ तो इतना कह देना ही पर्याप्त है कि उसके सिक्के भी नागरी से भरे हैं। तृतीय सयाजी राव के सिक्के पर जहाँ आपको मध्य में 'सरकार' और ऊपर तथा नीचे घुमाव में लिखा मिलेगा 'श्री सयाजीराव म० गायकवाड़, सेनाखास खेल शमशेर बहादुर' वहीं दूसरी ओर दिखाई देगा 'संवत दोनयैसे १९४०' भी। सारांश यह कि यहाँ आप को मुगली शान भी दिखाई देगी और नागरी रूप भी, यहाँ फारसी का विरोध नहीं किंतु नागरी का सत्कार अवश्य है।

बड़ौदा की भाँति ही 'गवालियर' भी देशी राज्यों में महत्त्व का संस्थान है। उसका क्षेत्र हिंदी के भीतर तक फैला हुआ है। और राजधानी तो हिंदी क्षेत्र में है ही। अतः नागरी को अपना लेना कोई महत्त्व की बात नहीं कही जा सकती, परंतु जब हम

देखते हैं कि 'व्रज' का अभिमानी जयपुर राज्य आज तक अपने सिक्कों पर नागरी को स्थान न दे सका और दबाव पड़ने पर भी किसी प्रकार सौत की आँख से उसे देखा. तब हमारा जी चाहता है कि हम इस प्रसंग में भी कुछ कह ही डालें। माना कि मुगल बादशाहों ने कभी नागरी को अपने सिक्कों पर स्थान नहीं दिया और उदार अकबर ने सूरियों की इस प्रथा को तोड़ ही डाला। किंतु तो भी कहने और दिखाने को शाहआलम का वह 'एक पाई सीका' तो है ही जो बनारस प्रांत के लिये उसकी ओर से अंगरेजी कंपनी सरकार के द्वारा ढला था और जिस पर 'त्रिशूल' के साथ ही 'एक पाई सीका' भी नागरी में ढला था। विवरण के लिये इस जन का 'एक पाई सीका' शीर्षक लेख देखा जा सकता है। वह 'भाषा का प्रश्न' में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित भी हो चुका है। अतः उसकी चर्चा यहाँ इतनी ही अलं है और यह बताती है कि 'हाँ' जयपुर को अवश्य ही समय के साथ चलना था और अपनी मुगली आन को छोड़कर कुछ प्रजा की कानि पर भी ध्यान देना था, हो सकता है, उसको 'मिरजा' और 'सवाई' का अभिमान हो, और वही उसको 'नागरी' से रोकता भी हो। तो कहना है कि देखो प्यारे! बात भी ऐसी नहीं है। कहीं का कोई 'मिरजा' और 'सवाई' नागरी में अपना सिक्का चला रहा है और उस पर ढला रहा है 'श्री खेंगारजी सवाई बहादुर महाराजाधिराज मिरजामहाराउ'। कीजियेगा क्या? कच्छभुज के शासकों ने 'मिरज़ा' और 'सवाई' की आन को भी ले लिया और 'नागरी' का उपयोग कर प्रजा का मान भी रख लिया; पर आप तो बस 'पराये पानि पर बाज ही बने रहे' अपने पक्ष का ही शिकार करते रहे।

हाँ, ग्वालियर के शासकों में भी अभिमान की मात्रा न्यून

नहीं, कभी बूढ़े और अन्धे शाहआलम की ओर से उनको उपाधि मिल गयी थी 'अलीजाह बहादुर' की, इसमें संदेह नहीं कि यही उस समय की सबसे बड़ी उपाधि थी और मिली भी थी बड़े उपकार के उपलक्ष्य में ही। परंतु जब दाता ही नहीं रहा तब इसका महत्त्व क्या? किंतु तो भी इस उपाधि का अभिमानी शिंदे वंश इसका स्वागत करता है, और इसको नागरी में ढाल कर मानो इसको भी नागरी बनाना चाहता है। देखिए, उसका ठप्पा है—'श्रीमाधवराव शिंदे आलीजा बहादुर'। शासक कोई भी बने पर वह कभी 'शिंदे आलीजा बहादर' को भूल नहीं सकता। मुगल प्रताप ही कुछ ऐसा था कि हिंदू सिक्कों पर अपनी छाप छोड़ गया।

किंतु कहीं आप यह न समझ लें कि देश के सभी रजवाड़े मुगलभक्त हो गये थे और मुगल उपाधि पर ही लट्टू थे। नहीं, सिक्कों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें ईश-भक्ति का अभाव नहीं। बूँदी के हाड़ावंश की वीरता किससे छिपी है जो उसके हाड़ का बखान किया जाय? देखिए उसी की वीरव्रती छाप है 'रंगेशभक्त बुंदीश राम सिंह'। १९२३ संवत् का यह रंगेशभक्त, अपने रंग का कैसा रहा, इसे इतिहास जाने, पर रंगेशभक्ति का इसे अभिमान रहा, इसे आप भी जान गये और यदि भक्ति का रंग कुछ और भी देखना हो तो जयनगर (ग्वालियर) के महाराज जयसिंह का सिक्का उठा लीजिए। उसपर आप को एक ओर दिखाई देगा—'श्री राघव परताप पवन पुत्र बल पाये के।' और दूसरी ओर इसी भाषा और इसी लिपि में—"यह सिक पर छाप महाराज जयसिंह कौ' का दर्शन होगा। भाषा में दोष देखने अथवा शुद्धाशुद्ध पर विचार करने का यह युग नहीं। भाषा और भेष जैसे तैसे बना रहा, यही बहुत है।

भक्ति का भाव उमड़ा तो जूनागढ़ के 'दीवान' को "श्री हाटकेश्वराय नमः" और "श्री रघुनाथ जी नमः" की सूझी, परंतु वहाँ के नवाब को यह न रुचा। फलतः वहाँ के सिक्कों पर कुछ ऐसी छाप न लगी, पर इससे इतना तो हुआ कि वहाँ के सिक्के पर नागरी में "श्रीदीवान" आ गया और उसपर दर्शन हो गया—"श्री सोरठ सरकार" का, 'सोरठ' का, 'सोरठ' किस 'सौराष्ट्र' का द्योतक है, इसे भी न भूलें और देखें यह कि यहाँ का नवाबी देशी राज्य अपने अतीत का अभिमानी है वा नहीं ?

जूनागढ़ की भाँति ही 'जावरा' भी मुसलमानी राज्य है। किंतु यहाँ भी हम देखते हैं कि नागरी का अभाव नहीं। यहाँ के पैसे पर आप को लिखा मिलेगा नागरी में "सरकार जावरा।" इस प्रकार इतना स्पष्ट हो गया कि इसलाम का नागरी से कोई विरोध नहीं और मुगलों के अतिरिक्त कहीं उसका ऐसा बहिष्कार नहीं, हैदराबाद की मुगली नीति के जानकार उसकी नागरी उपेक्षा को भलीभाँति समझ सकते हैं। यहाँ, उसका कोई प्रसंग नहीं।

हाँ कुछ मनचले इंदौर का भी पता हो जाना चाहिये! कारण कि वह सदा से कुछ निराला करतब दिखाता रहा है। सो यहाँ आपको देववाणी का साक्षात्कार होगा। देखिये न यहाँ के रुपये पर क्या छपा है ? यही न—

"श्री इन्द्रप्रस्थस्थितो राजा चक्रवर्ती मंडले
तत्प्रसादात्कृता मुद्रा लोकेस्मिन्वै विराजते।"

स्मरण रहे यह शक संवत् १७२८ (ई० सन् १८०६) की बात है। यशवंत राय होल्कर अभी दिल्लीश्वर के प्रसाद से ही सिक्का ढाल रहे हैं और संस्कृत का उपयोग कर उसके प्रसाद

को घटाना इष्ट नहीं समझते। उनकी दृष्टि में इससे उसका प्रसाद बढ़ेगा ही। कारण कि मुगल बादशाहों ने संस्कृत का सदा सत्कार किया है और कभी उसके विनाश का भाव नहीं दिखाया। अस्तु, यह सिक्का इस दृष्टि से बड़े ही महत्त्व का है और आज से १४० वर्ष पहले की भावना को व्यक्त करता है।

और, एक ही बात और रह गई; बड़े महत्त्व की बात! रजवाड़ों में 'उदयपुर' की आन कुछ और रही है। उसके सिक्के में भी यही बात है। 'मुगल' से उसकी ठनी तो ठनी ही रही; पर अंगरेज से ऐसा कुछ मेल हुआ कि उसका हृदय पिघल गया और उसने अपनी मुद्रापर 'दोस्तिलंधन' का विधान किया। उसके रुपये पर एक ओर 'चित्रकूट उदयपुर' और दूसरी ओर लिखा गया 'दोस्तिलंधन।' 'चित्रकूट' एवं 'उदयपुर' के प्रति हृदय में, हमारे हृदय में, जो भाव है वह कागद पर नहीं उतर सकता। 'राम-राज्य' 'जौहर' और 'राजपूत दर्प' की आज कितनी आवश्यकता है, कौन नहीं जानता? परंतु आज की जो परिस्थिति है वह बहुत कुछ 'दोस्तिलंधन' में बसी है। बोलती नहीं पर बोलना चाहती है। अवश्य सुनिए। कहिए, क्या सुना? यही न कि इस स्वाधीनता के युग में भी 'लंदन' से मित्रता रखने की आवश्यकता है हम कह नहीं सकते, पर कहना अवश्य चाहते हैं कि जैसे-तैसे गिरी से भी गिरी दशा में 'चित्रकूट' हमारे जीवन को सहारा और 'उदयपुर' हमारे प्रताप का अड्डा रहा है। तो कोई कारण नहीं कि इस अवसर पर भी उससे जीवन और दर्प की कुछ प्रेरणा न मिले। जो हो अभी तो 'दोस्तिलंधन' के साथ ही इस लेख को समाप्त करते हैं। फिर कभी उचित अवसर हाथ लगने पर इसकी मीमांसा भी हो लेगी।

———

१६—हिंदुस्थानी का भँवजाल

महात्मा गांधी और महामना मालवीय की भाषा-नीति में भेद यह था कि महात्मा जी 'हिंदुस्थानी' को जानते पर 'हिंदु-स्तानी' को मानते थे और महामना जी 'हिंदुस्तानी' को जानते पर मानते 'हिंदी' को थे। भेद क्या था, इसका रहस्य आगे खुलेगा। आज से ४० वर्ष पहले की बात है। १० अक्टूबर सन् १६१० ई० को काशी नागरीप्रचारिणी सभा की पावन भूमि में प्रथम हिंदी साहित्य संमेलन के अवसर पर अध्यक्षपद से महामना मालवीय जी ने कहा यह था—

आपने (डाक्टर ग्रियर्सन ने) एक स्थान में लिखा है कि हिन्दी सन् १८०३ ई० के लगभग लल्लूलाल जी से लिखवाई गई। और भी लोगों ने इसी प्रकार की बात कही है। जो विदेशी हिन्दी के विद्वान हैं, वे तो यही कहते आए हैं कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। इस भाषा का नाम उर्दू है। इसी का नाम हिन्दुस्थानी है। ये लोग यह सब कहेंगे, किन्तु यह न कहेंगे कि यह भाषा हिन्दी है। (लज्जा) तो कुछ नहीं है, विचार की बात है। सज्जनों! ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित कितने अँगरेज अफसरों ने मुझसे पूछा था कि हिन्दी क्या है? इस प्रांत की भाषा तो हिन्दुस्तानी है। मैं यह प्रश्न सुन दंग रह गया। समझाने से जब उन्होंने स्वीकार नहीं किया तब मैंने कहा कि जिस भाषा को हिन्दुस्थानी कहते हैं, वही हिन्दी है। अब आप कहेंगे कि इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह है कि न हमारी कही आप मानें, न उनकी कही हम। इसमें न्यायपूर्वक विचार कीजिए। **(प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन काशी, कार्य-विवरण; पहला भाग, नागरीप्रचारिणी सभा, पृष्ठ—१०-११)।**

इस पर न्यायपूर्वक विचार न हुआ और न इस समय होने की आशा है, कारण प्रत्यक्ष है आज 'ग्रियर्सन' और 'अँगरेज' का सामना नहीं, आज तो 'राष्ट्रपिता' और राष्ट्र के 'प्रधान' का प्रश्न है, किंतु यदि अपराध क्षमा हो तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह भ्रम की बात है। सत्य की दृष्टि और विवेक की आँख से देखा जाय तो झगड़ा 'ग्रियर्सन' और 'मालवीय' का ही है कुछ 'महात्मा' और 'महामना' का नहीं। 'महात्मा' 'ग्रियर्सन' की कहते हैं और 'महामना' अपनी। बस, भेद इसी का है। बात कुछ कड़ी है पर है सर्वथा यथार्थ ही। टुक धीरज धरें तो आप ही स्पष्ट हो जाय।

हाँ, तो 'विदेशी विद्वानों' और 'ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित अँगरेजों' का दुराग्रह धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि सन् १९४१ की जनगणना में हम अपनी जन्मभाषा के अधिकारी न रहे, और गणकों को स्पष्ट आदेश मिला कि कोई कुछ भी बकता रहे किंतु तुम उसकी 'मादरी जबान' का नाम 'हिंदुस्तानी' ही भरो। देखिए न, कितना सच्चा विधान है—

"१८—आप की मादरी जबान क्या है?"

हिदायत—(मादरी ज़बान) यह दर्ज कीजिए कि उस शख्स की मादरी ज़बान क्या है। यानी उस शख्स ने कौन सी ज़बान सब से पहले बोली, दूध पीते बच्चों और गूँगे, बहरे लोगों की ज़बान वही दर्ज की जायगी जो उनके माँ की है। सूबे की आम लोगों की ज़बान को 'हिंदुस्तानी' दर्ज कीजिए। उर्दू या हिंदी न दर्ज कीजिए। पहाड़ी बोली के लिये भी 'हिंदुस्तानी' दर्ज होगी।

कितनी बढ़िया सीख है। तपस्वी 'पहाड़ी' भी 'हिंदुस्तानी' के प्रकोप से न बचे? उनकी बोली हिंदी रही और सदा नागरी

में लिखी गई, पर सरकार के सामने सब झूठ, सच वही जिसको वह सराहे ।

परंतु परमात्मा की कृपा और देश के उद्योग से पलड़ा पलट गया। आज युक्तप्रांत की भाषा 'हिंदी' घोषित हो चुकी और उसकी 'हिंदुस्तानी एकाडमी' भी 'हिंदी' बन चली। साथ ही समस्त उत्तर भारत 'हिंदी' का हो गया। हिंदीभाषी कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जहाँ 'हिंदुस्तानी' का अनुष्ठान आज भी चालू हो। किंतु, हम फिर भी देखते क्या हैं ? यही न कि हमारे 'राजा' और 'जवाहिर' हिंदुस्तान के लिये मर मिटने की ठान रहे हैं और विश्ववन्द्य महात्मा गांधी एवं पूज्य राष्ट्रपिता, 'बापू के प्रिय 'हरिजनसेवक' में छप रहा है 'हिंदुस्तानी' का पुराण उसके एक त्यागी, तपस्वी, कर्मवीर का कहना है—

'हिन्दुस्तानी न तो प्रान्तभेद को जानती' न उसके लिये हिन्दीसंघ की सीमा का बन्धन है। वह उससे बाहर पाकिस्तान में भी फैली हुई है। उसकी दोनों लिपियों—नागरी और उर्दू —के जरिये हमें उसकी उपासना करनी है। उर्दू की उपासना हमें अपने पड़ोसी अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान, अरबस्तान वगैरा के नजदीक ले जायगी। (८ अगस्त, १९४८)

पते की बात मुँह से निकल आई, सचमुच उर्दू की उपासना हमें 'अपने पड़ोसी के नजदीक ले जायगी' और हमारे देश के एक खंड-पश्चिमी पाकिस्तान को उधर ले भी गई; परन्तु पूर्वी पाकिस्तान का क्या होगा ? उसका भी कहीं पड़ोस है ? कुछ उत्तर और पूर्व के पड़ोस पर भी तो ध्यान दीजिए। कहाँ तक आपका प्रसार है और विश्व के कितने लोगों पर ?

और सच तो कहिए, राष्ट्र की दृष्टि और देश के हित से सदा आपको औरों के पास जाना ही है या कभी किसी को अपने पास लाना भी! भाई! सच्ची बात तो यही है। सदा उर्दू ने यही काम किया है। इस देश को रसातल में भेज ईरान-तूरान का गीत गाना ही उसका काम रहा है। अरे आप कहते क्या हैं? उर्दू के द्वारा मुसलमानी देशों से 'नजदीक' का लगाव होगा? हो सकता है। पर सच तो कहें, यदि यही बात थी तो 'पाकिस्तान' के आदिद्रष्टा अल्लामा 'पंडित' इक़्बाल को 'फ़ारसी' की क्यों सूझी और क्यों उर्दू को तलाक दे फारसी के हो रहे?

एक दिन था कि फारसी यहाँ की राजभाषा थी और क्या ईरानी, क्या तूरानी, क्या मुगल, क्या पठान, क्या शेख, क्या सैयद, सभी मुसलमान और कुछ सरकारी या शाही हिंदू लोग भी फारसी का ही अभ्यास करते थे और फारसी के द्वारा ही बाहर के फिर्कों से भी बात-व्यवहार रखते थे। अँगरेजों के आने और फारसी के उठ जाने से देश में कुछ दिन उर्दू के द्वारा भी यह काम चला. पर विदेश में उसे कभी फारसी का स्थान नहीं मिला। इसी से अल्लामा इक़्बाल को फिर से, मुसलमानी राज्य स्थापित करने के विचार से, फारसी को अपनाना और उर्दू को 'चल दूर हट' करना पड़ा। परंतु 'पड़ोस' अब वह पड़ोस नहीं रहा। अब तो उस फारसी को फारस में भी स्थान मिलना कठिन हो गया। कारण, वह ईरानी नहीं, ईरान की 'उर्दू' थी और ईरान की गुलामी में फूलीफली और चारों ओर अरबी के आधार पर बढ़ी थी। निदान, उसका भी स्वागत न हुआ और कभी के फारसी क्षेत्र की स्थिति आज यह हो गई कि कुछ पूछिए न। उर्दू की कौन कहे कुरान की पाक ज़बान को भी कूच का

मिल गया। सुनिए, किसी भाषामनीषी का कहना है और कहना है कितना सटीक—

भारत के मुसलमान आखिर उस अवस्था में आ जायँगे; जिसमें तुर्की और ईरानी मुसलमान पहुँच गए हैं। राष्ट्रीयता के साथ ही साथ तुर्की और ईरानियों में (और सुनते हैं, अफगानों में भी) स्वाजात्य-बोध और अपनी भाषा और संस्कृति पर इतना ही आत्मीयता-बोध बढ़ गया है, कि तुर्क लोग अपनी भाषा से अरबी शब्दों को, और ईरानी लोग फारसी भाषा से अरबी शब्दों को यथासंभव बहिष्कार करने के काम में दत्तचित्त हुए हैं। तेहरान का विश्वविद्यालय आजकल "दारू-ल-उलूम" नहीं है, वह अब "दानिश-गाह" बन गया है। "बिस्मिल्लाहि-र्-रहिमानि-र्-रहीम" की जगह 'ब-नाम-ए खुदावन्द-ए-बख्शीन्दः—ओ मिहिरवान्' लिखते हैं। तुर्की में इस वक्त "अल्लाह" के स्थान पर तुर्की भाषा के पुराने ईश्वर-वाचक शब्द, यथा, तेंग्री' इदि, 'मुन्कू" पुनरुज्जीवित किये गये हैं, और नये कानून के मुताबिक, अरबी भाषा विदेशी होने के कारण उसमें आजान देना भी दंड योग्य अपराध गिना जाता है—किसी मसजिद से अगर आजान देना हो, तो तुर्की-भाषा में ही देना पड़ता है,। "अल्लाहो अकबर" के स्थान पर लाईसेंस पास मुल्ला लोग तुर्की में पुकारते हैं—"तेंग्रि उलूघ्दिर" अर्थात् "ईश्वर श्रेष्ठ है।" भविष्य में शिक्षा की वृद्धि के साथ भारतीय मुसलमान का दृष्टिकोण भी बदल जायगा, संस्कृत शब्द तथा उनके अपने ही हिंदू, जैन और बौद्ध पूर्वजों से प्राप्त भारतीय संस्कृति के संबंध में उनका मानसिक वातावरण भी दूसरा हो जायगा। पुराने जमाने में भाषा के विषय में भारतीय मुसलमान इतने सहिष्णु नहीं थे। अरबी "अल्लाह" और फारसी "खुदा" के साथ-साथ उत्तर भारत के मुसलमान "कर्तार, साईं, गुसाईं" आदि

शुद्ध हिन्दी शब्द व्यवहार करते थे, देहात में कहीं-कहीं अब तक करते हैं। (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन-कराँची, राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापति का अभिभाषण, पृष्ठ २३—४)।

श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे भाषामनीषी की साखी आपके सामने है। किंतु 'उर्दू की उपासना' के कारण यह बात आपकी समझ में नहीं आ सकती, अतएव आप को बताया जाता है कि एक दिन—

अकबर सानी द्वितीय के हुजूर में परचः गुजरा कि आज शाहजहाँ आबाद में शहर वालों ने खटबुनवों को खूब मारा पीटा। क्योंकि खटबुनवों का काअदः है कि जब वह शहर में फेरी फिरने आते हैं तो आवाज लगाते हैं—खाट बुना लो खाट, खाट बुना लो खाट। शहरवालों ने कहा—निकले तुम्हारी खाट। यह क्या बुरी फाल[1] मुँह से निकालते हो। फिर जो उन्हें पीटा है तो पीटते पीटते झिलँगा बना दिया और इस टकसाल बाहर लफ्ज से तोबा करवाई और समझाया कि बजाय 'खाट बुना लो' के 'चारपाई बुना लो' कहा करो। चुनांचे जब से अब तक 'खटबुने' 'चारपाई बुना लो' ही कहते हैं। इस तकल्लुफ[2] व तंबीह[3] और तदबीर[4] से 'उर्दू-ए-मुअल्ला को सँवारा गया है। और जगह उर्दू को चार चाँद नहीं लग सकते।

इन 'खटबुनवों' की एक सिफत[5] काबिले रश्क[6] यह है कि शाहजहाँ के अहद से आज तक उनका किसी किस्म का मोकदमः किसी अदालत शाही में नहीं आया। उनका सरगिरोह जो चौधरी कहलाता है, वही चुका देता है। (लालकिलअ की एक झलक, इंपीरियल ट्रेंनिग प्रेस, देहली—पृष्ठ ४६७)।

१—शकुन। २—बनावट। ३—चेतावनी। ४—तदबीर। ५—गुण। ६—ईर्ष्या के योग्य।

ख्वाजा मीर दर्द के गद्दीधर, हकीम ख्वाजा सैयद नासिर नज़ीर साहब 'फ़ुराक' देहलवी ने जो कुछ फरमाया है, ठीक है। उर्दू का इतिहास इसी की साख भरता है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। बात साहब आलमों (राजकुमारों) की है। बेटा पढ़ता है—

साँस इक फाँस सी खटकती है, दम निकलता नहीं, मुसीबत है
तुम भी अपने 'हया' को देख आवो, आज उसकी कुछ और हालत है

बाप टोकता है—"मियाँ 'हया'! लखनऊ जाकर अपनी शकल तो बदल आए थे अब ज़बान भी बदल दी। सोस को मुवन्नस बाँध गए?" हया ने जवाब दिया—

"जी नहीं क़िबलः, मैंने तो उस्ताद 'ज़ौक़' की तक़लीद की है। वह फ़रमाते हैं—

सीने में साँस होगी अड़ी दो घड़ी के बाद।"

भला साहिबे आलम कब चूकने वाले थे? कहने लगे—

"भला हमारे मुक़ाबले में आपके उस्ताद का कलाम कहीं सनद हो सकता है? वह जो चाहें लिखें। यह बताओ क़िले में साँस मुज़क्कर है या मुवन्नस? बेचारे 'हया' मुसकरा कर खामोश हो गए।" (देहली का एक यादगार आख़िरी मुशाअरह, एजुकेशनल बुक-हाउस, अलीगढ़, पृष्ठ ६४)।

मिरज़ा फ़रहत उल्लाह बेग बी० ए०, देहलवी ने जो बाप-बेटे का शास्त्रार्थ सामने रखा है उसमें ध्यान देने की बात है 'सनद'। उर्दू की 'सनद' किसी 'उस्ताद' के पास नहीं—चाहे वह बादशाह बहादुर शाह का उस्ताद 'ज़ौक' ही क्यों न हो। नहीं, वह तो

सदा बादशाह और बादशाहजादों की ही चीज़ है और फलतः उसकी 'टकसाल' भी है 'क़िला' ही। वही 'क़िला' जिस पर आसफ़जादी झंडा फहराने का स्वप्न कोई उर्दू का लाड़ला और हैदराबादी नव्वाब का प्यारा कोई 'रिज़वी' देख रहा है। और क्यों? इसी से तो कि वहाँ 'उर्दू' का बोलबाला और विलायत का पहरा है। और साथ ही आपके देश में भी कोई देशप्रेम आपसे किसी अंदाज और अदा से कह रहा है—

"हमें शिकवह[1] अपनों से होना चाहिए। पाकिस्तान वालों से क्या ग़र्ज़ उनका जी चाहे अरबी में बातें करें या संस्कृत में। हम अपने घर में देखते हैं कि लोगों को पंद्रह सौ बरस पहले वाले अलफ़ाज़ से तू तू मैं मैं करनी पड़ती है और बेचारे परेशान हैं। याने—

(१) अँगरेज़ी के वह लफ़्ज़ जो एक देहाती से लेकर कौंसिल के मंत्रियों तक को मालूम हैं इस बिना पर खारिज हो रहे कि वह विदेसी हैं।

(२) फ़ारसी-अरबी के लफ़्ज़ जो इसी तरह हर आदमी जानता है, इस बिना पर निकाले जा रहे हैं कि वह ईरानी और अरबी हैं या मुसलमान में रायज हैं। हम पूछते हैं संस्कृत भी तो वस्त[2] एशिया से आई है? अब अगर फ़ारसी 'अंगुश्त' को आप संस्कृत 'अंगुष्ठ' कहें तो फ़र्क़ बहुत कम है। मगर फ़ारसी लफ़्ज़ ज़्यादह मशहूर हो चुका है। इसी तरह 'नोटिस', 'मुद्दई' 'मुद्दालय' कौन नहीं जानता? आप उनकी जगह 'विज्ञापन', 'वादी' और 'प्रतिवादी' रखकर बेचारे देहातियों को ख्वाहमख्वाह परेशान ही तो कर रहे हैं?"

(ज़मानः, जुलाई सन् १९४८ ई०, कानपुर, पृष्ठ २५-६)

१—क्षोभ।

२—मध्य।

सैयद मक़बूल हुसैन अहमदपूरी, बी० ए०, एल० एल० बी० साहब की वकालत देखने योग्य है। आपको शिकायत अपनों से है। पाकिस्तान से आपका अपना कोई नाता नहीं। न सही, पर मानवता का नाता तो है? सुरक्षा समिति में आप अपने देश के प्रतिनिधि होकर जायँ तो क्या वहाँ आपका यही पक्ष होगा? आप यहाँ रहते हुए भी संस्कृत को 'मध्य एशिया से आई' बताते और १५०० वर्ष पहले की मरी बानी समझते हैं। फिर आप ही कहें आप पाकिस्तान में संस्कृत का प्रचार देख सकेंगे? पाकिस्तान में अरबी का प्रचार क्यों हो? पाकिस्तान की किसी बोली से अरबी का कोई नाता? रही संस्कृत की बात। सो किसी भी जानकार से पूछ देखिए, 'सप्तसिन्धु' संस्कृत घर है। पश्तो, पंजाबी और सिन्धी और बंगाली सभी पाकिस्तानी भाषाएँ आर्यभाषा की संतति हैं। उनका संस्कृत से जो लगाव है वह फारसी से भी नहीं, अरबी का तो नाम ही क्या? देखिए, आपको अभी देखना है कि 'फारसी अंगुश्त' संस्कृत 'अंगुष्ठ' से कहीं अधिक पिछड़ा है और फलतः 'अंगुल' मात्र का द्योतक है। हिंदू को तो अलग रखिए और लीजिए केवल मुसलमान को। कहिए तो सही एक मुसलमान यदि 'अँगूठा चूमना' और 'अँगूठे बाँधना' का प्रयोग करता है तो दूसरा मुसलमान उसका अर्थ क्या समझता है। क्या पहला हर्ष और दूसरा विषाद का पता नहीं देता? पैग़म्बर की प्रशंसा में मुसलमान 'अंगूठा चूमता' तो मरने पर मुसलमान के 'अंगूठे बाँधे' जाते हैं जिससे शव सीधा पड़ा रहे। कहिए, मुसलमान में यह 'अंगूठा' कहाँ से आया? मशहूर 'अंगुश्त' या १५०० वर्ष पहले के 'अंगुष्ठ' से? मीर हसन साहब फरमाते हैं—

कहा जो परीज़ाद ने हाथ ला। अंगूठा दिखाया कि इतरा न जा।

और 'अंगूठी' को कौन नहीं जानता ? अब आप ही कहें इतनों के दादा 'अंगुष्ठ' का यहाँ राज्य है कि आपके आका 'अंगुश्त' का। भाई सच बात तो यह है कि आप जिन्हें 'मशहूर' की कसौटी समझते हैं उनका संबंध इस देश से कभी का छूट चुका है, और आज वे समाज में आटे में नमक के बराबर भी नहीं हैं। आँख खोलकर देखने और कान खोलकर सुनने का कष्ट करें तो आपको 'वादी मुद्दई' के साथ लगा दिखाई देगा, और यदि कुछ आगे बढ़ने का साहस होगा तो पता चलेगा कि किस प्रकार विदेशी शासन ने देशी शब्दों को देशनिकाला दिया है। दूर की बात जाने दीजिए। 'फरियादी' और 'आसामी' जैसे सरल और प्रचलित शब्दों को खदेड़ कर ही 'मुद्दई! और 'मुद्दालेह' आपकी अदालत में आम हुए हैं। फारसी को खदेड़ कर अरबी आई। और क्यों ? अहिंदी होने के कारण ही न ? अवश्य ही इन आक्रमणकारी शब्दों को राजसत्ता के साथ पदच्युत होना होगा और अधिकारी शब्दों का अधिकार अपने स्थान पर फिर होगा। इसे कोई रोक नहीं सकता।

आपने राजभाषा का पक्ष लिया है लोकभाषा का कदापि नहीं। कल की राजभाषा याने फारसी का पचड़ा हो गया अब आज की राजभाषा (?) अंगरेजी को लीजिए और दोनों को एक साथ ही देखिए। आपका कहना है—'It is hereby notified', देसी ज़बान में इसका तरजमा यह होगा। इस तहरीर के ज़रिया एलान किया जाता है'। (वही)

भाव यह कि 'देसी ज़बान' में संज्ञा तो अपनी हो ही नहीं सकती, वह तो सदा अरबी-फारसी ही रहेगी। कहिए न 'तहरीर' 'ज़रिआ' और 'एलान' किस देश के शब्द हैं ? और 'तहरीर' का

तो मूल से कोई नाता ही नहीं। ठेठ में इसे कहना हो तो बड़ी सरलता से कह सकते हैं कि 'इससे यह जताया जाता है।' और यदि इसे और भी 'शिष्ट' रूप में कहना हो तो कहा जा सकता है कि 'इसके द्वारा यह सूचित किया जाता है।' अब इसको भी जो न समझे वह इस देश का वासी नहीं, निवासी चाहे जहाँ कहीं का हो। फारसवालों के ढंग पर अपने नाम के साथ अपना गाँव जोड़ लेना पर्याप्त न होगा। नहीं, उनका देश-प्रेम भी अपना होगा। देखिए, यह ईरान की राष्ट्रीयता ही तो है जो इस देश में भी 'रोजा' और 'नमाज' को तो सब जानता है पर 'सौम' और 'सलात' को बिरला ही। 'ज़कात' से कहीं अधिक प्रचलित है 'खैरात' और क्यों ? कहाँ तक कहें, यदि लेखा लिया जाय तो 'खुदा' 'अल्लाह' से कहीं अधिक आगे बढ़ जायगा। और क्यों ? इसी से तो कि ईरान ने अपने को सँभाला और इसलाम में वह कर दिखाया जो अरब से न हो सका ? सो भी इसलाम कबूल कर। और आप चाहते हैं कि हिंदुस्तान, हिंदू का हिंदुस्थान होते हुए भी अपनी जबान काट दे और सदा अरब-फारस के मुँह से बोले ? भला कहें तो सही 'फारसी' की कहीं कोई पूछ है ? आज तो उसका देश 'फारस' से 'ईरान' हो गया और फलतः वहाँ ईरानी की ही प्रतिष्ठा है। बस, आपकी यह विषभरी बात आप ही या आपके 'जमाना' तक ही रहे, नहीं तो और आगे बढ़ने से आपका उपहास और देश का विनाश होगा। क्या कहा ? कोई 'हरिजनसेवक' कह रहा है कहता रहे। हमें उसकी चिंता नहीं। हम उसके उस्ताद को जानते और उसके गुरु को पहिचानते जो हैं। देखिए न, उसका लाड़ला 'अमृतलाल नाणावटी' क्या कहता है। यही न—

हिंदी के प्रेमी हिंदी को उसकी जगह से घसीटते यहाँ तक ले आए

हैं कि उसके मानी अब होने लगे हैं; नागरी लिपि में लिखी जानेवाली संस्कृत शैली की ज़बान।

(हरिजन सेवक, वही, पृष्ठ १)

सच है, घसीटू लोग यही करते जो हैं। कौन नहीं जानता कि 'हिंदुस्तानी' के उपासक उसके जीवन के लिये क्या नहीं करते हैं। घसीटना तो एक सामान्य बात है। दम्भ में आकर यहाँ तक कह जाते हैं कि 'ओछे खयाल के लोग' पाकिस्तान बन जाने के कारण 'हिंदुस्तान' को 'हिंदुस्थान' कर रहे हैं और इसे केवल हिंदू का स्थान बताते हैं। कहीं अलग जाने की बात नहीं। यहीं इतना और भी देख लीजिए। लिखते हैं—

अभी अभी पाकिस्तान के निर्माण से 'हिंदुस्तान' शब्द कुछ अप्रिय हो गया है इसलिए ओछे खयाल के लोग 'हिंदुस्तान' के 'हिंदुस्थान' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर करते हैं, और इस तरह हमारे देश को सिर्फ हिंदुओं का ही देश मनवाने की कोशिश करते हैं। (वही)

'ओछे खयाल के लोग' को मुँह लगाना ठीक नहीं पर इतना तो मानना ही होगा कि यह कोशिश हो रही है 'मुसलमान' से मनवाने के लिये ही। अथवा किसी अहिंदू से कह लीजिए। किंतु तो भी कहिए तो सही इस हिंदुस्तानी का अर्थ होता क्या है। सुनिए किसी अल्लामा किंवा पूज्य राष्ट्रपिता के शब्दों में 'मुसलिम डिवाइन' का कहना है—

मुसलमान जब इस मुल्क में आए तो उनमें से अहल अरब ने इस मुल्क को 'हिंद' कहा, और अहल खुरासान ने 'हिंदुस्तान' का नाम दिया। लफ्ज़ 'स्तान' जगह या ज़मीन के लिये फ़ारसी और संस्कृत

दोनों में बोलते हैं। इसलिए 'हिंदुस्तान' 'हिंदु अस्थान' भी हो सकता था। (तुक़ूशे सुलैमानी, दारुल मुसनिफ्फीन, आजमगढ़ १९३९ ई०, पृष्ठ १०१)

तात्पर्य यह कि 'हिंदुस्तान' कहें या 'हिंदुस्थान' भाव इसका 'हिंदु का स्थान' ही होगा। और यदि धृष्टता न हो तो 'हिंदुस्तान' का अर्थ है भी यही। हाँ, विदेश में 'हिंदी मुसलमान भी 'हिंदू' कहा जाता है, इसे टाँक लें और इतना और भी जान लें कि अरब इसलाम के पहले से भी इस देश को हिंद और खुरासान हिंदुस्तान क्या हिंदुस्थान कहते थे। यदि 'हिंदुस्तान' शब्द का प्रचार इस देश में मुसलमान के साथ होता तो मध्यदेश न तो कभी हिंदुस्तान ही बनता और न कभी अहिंदी भाषी अपनी ठेठ बानी में हमें 'हिंदुस्थानी' ही कहते। हाँ, हाँ, नोट कर लें, गाँठ दे लें, और हिंदुस्तानी में गठिया भी लें कि मूल शब्द 'हिंदुस्थान' ही है और इस देश में इसके प्रचारक हैं 'शकादि' ही। शक-स्थान, मूलस्थान आदि के साथ इसकी तुलना कीजिए और कृपया भूल न जाइए कि अरबी के प्रचार के पहले ईरानी 'थ' बोलते थे। 'जरथुष्ट्र' का 'थ' इसका साक्षी है। इसलाम ने अरबी लिपि में लाकर इसे 'त' अवश्य किया। जो हो, अभी तो हमें यह दिखाना है कि 'हिंदुस्थान' का प्रयोग 'पाकिस्तान' के निर्माण क्या, उसकी कल्पना से भी पुराना है और है इसका खड़ा, ठेठ रूप ही, कुछ 'हिंदुस्तान' का विकृत रूप नहीं। सुनिए, आज से कोई ३५ वर्ष पहले संवत् १९७० वि० में किसी श्री राधामोहन गोकुलजी ने लिखा था, और उसके सम्पादक थे हमारे राष्ट्रपति देशरत्न श्री राजेन्द्रप्रसादजी ही। उनका कहना है—

मेरी प्रतिज्ञा है कि, भाषासंबंध से हिंदी उर्दू एक हैं अर्थात् हिंदुस्थान या भारतवर्ष में सर्वत्र बोली जानेवाली व समझी जानेवाली भाषा समस्त हिंदू मुसलमानों की एक भाषा है।

एवं—

फिर हम देखते हैं कि, उर्दू संसार में सिवा भारत के और कहीं नहीं बोली जाती। तब तो उर्दू हिंद या भारत या हिंदुस्थान की भाषा हुई। जब हिंदुस्थान की भाषा हुई तो उसका असली नाम हिंदी होना चाहिए हिंद शब्द से संबंधसूचक तद्धित हिंदी बनता है न कि उर्दू। (तृतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, कलकत्ता कार्यविवरण-दूसरा भाग, पृष्ठ ५६)

भारती, हिंदी तथा हिंदुस्थानी को छोड़कर सरकार 'हिंदुस्तानी' को क्यों चाहती है, इसे आप जानें। हमें हिंदुस्थान' के प्रसंग में कहना यह है कि कांग्रेस अथवा राष्ट्रीय महासभा के जन्म के १ वर्ष पहले '१ जनुवरी १८८४' को 'फ्रेड्रिक पिङ्काट' ने भारतेंदु हरिश्चंद्र जी को लिखा था—

खेद की बात है कि आपका सारा प्रयत्न शिक्षा प्रचार करने के निमित्त अब तक सफल न हुआ। और भारी खेद की बात है कि किसी स्वदेशी पुरुष से आपका हितकारक उद्योग व्यर्थ हो गया। राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस बरस हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी कैसी बातें अच्छी लगती हैं उन बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने काव्य को और अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया। उसके उपरांत उसने देखा कि हिंदी भाषा साल पर साल पूज्यतर होती जाती थी तब उसने उर्दू और हिंदी के परस्पर मिलाने का उद्योग किया। बहुतेरे अँगरेज़ लोग

जानते हैं कि उन दो भाषाओं का मिश्रित होना सबसे श्रेष्ठ बात होगा। क्योंकि वैसी संयुक्तता से सारे हिंदुस्थान के लिये एक ही भाषा निकलेगा। मेरी समझ में वैसा बोध मूर्खता की बात है। (हिंदी, नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी, सं० २००१, पृष्ठ १)

'मूर्खता की बात' के साथ इतना और भी जान लें कि उक्त सज्जन की दृष्टि में—

यह सच बात है कि आपको हिंदी और हिंदुस्थान सबसे मनोहर है। इसके बदले राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सब से भारी बात है। (वही)

'हिंदी और हिंदुस्थान' के भक्त किसी 'हिंदुस्तानी' के द्वारा किस प्रकार सताए जाते हैं, इसका उदाहरण आपके सामने है। पर 'हिंदुस्थान' अंगरेज की देन नहीं। आलमगीर औरंगजेब के शासन की बात है। 'सोबा हिंदुस्थान' पर ध्यान दीजिए। कहते हैं—

तिणि बेला नौबति निसाण तोगभरुडा सामिध्रम सोबा हिंदुस्थान री सरम भुजे आई। तिणी वेला रा आइऔ काला पहाड़ सोभा वरणी न जाई। (वचनिका रा० रतनसिंह जी री महेसदासौत री, बिबलिओथिका इंडिका, प्रथम भाग, डिङ्गल, १६१७, पृष्ठ ४७)

और साथ ही इतना और भी जान लें कि इसके (औरंग-जेब के) पितामह जहाँगीर के शासन के अंतिम दिनों में भी यह 'हिंदुस्थान' था और किसी द्वेष या द्वन्द्व का कारण न था। एक ख्यात में कहा गया है—

सं० १६७६ नै पातिसाही उमराव हिंदू तुरक दखिण था त्याँ नूँ पातसा तेड़ाया खाँधार मेलण नूँ तरै साहजादै खुरम ही जाणियौ जु

अठा सुगला ही परा तेड़ाइजै नै मो नूँ अठै अकैलौ राखीजै तरै किण ही नूँ जाँण न दिया नै पातसा नूँ लिखियौ दखिण था थे सगलाँ नूँ तेड़ावौ छौ पछौ अठै ही तीं दखणी जोर करसी तरै पातसा साहजादा रा हिंदुस्थान रा परगना सौह तगीर किया नै कहाड़ियौ जु दखिण गुजरात मांडू पैली धरती थाँ नूँ दी छै। (एशियाटिक-सोसाइटी आव बंगाल, नवीन माला, भाग १५, १९१९, अंक १, पृष्ठ ५७)

तथा—

साहिजादौ पण छुडो हुई हेक ताजमहल असपखाँ री बेटी साथे लै नै हिंदुसथान नूँ गढ रिणथँभर नूँ खड़िया तत्रै पातिसा ही लाहौर आयौ खबरि हुई साहजादौ फिरियौ। (वही, पृष्ठ ५८)

मारवाड़, गुजरात, दक्षिण और लाहौर के साथ आपको जिस हिंदुस्थान का परिचय मिला उसी को दृष्टि में रखकर इतना और शोध लीजिए कि—

स्वयं गुजराती की स्थिति इस क्षेत्र में क्या है। सो सौभाग्य से 'दाक्तर रुस्तम नानाभाई राणीना' की साखी हमारे सामने है। आप कहते हैं—

पारसीओ ईश्वी सनना छेक सातनां सैकयार्थी मांडीने हिंदुस्थानमां आव्या तेज बखतथी मातृभूमि गुजरातने बनावी अने मातृभाषा गुजराती बनी; अने गुजराती भाषा हालनी तेमज जूनि बन्ने उपर सारो काबू मेलवी लखाण करवामां पण केटलाक पारसीओ अग्रेसर थया छे। तेमां बे प्रकारनो भेद लेखकोमां लखाणपरत्वे जेवामां आवे छे। एक तो ऊँची संस्कारी गुजराती भाषा लखनाराओ—संस्कृत अने फारसी बन्ने भाषाओंनो योग्य तथा समांतर मेल लावी मिश्रण करी लखनाराओ; अने बीजो दैनिक वगेरे छापावालाओ, सिनेमा वगेरेनी जाहेर-

खबर लखवावलाओ इत्यादिनो वर्ग। एवा बे म्हाटो मुख्य विभागो तो हिंदु लेखकोमां पण कुदरती रीते होवा जोइए अने छे; पण शियाल ताणे सीमभड़ी ए कहेवतने न्याये पारसीओ फारसी शब्दो तरफ प्रीति अने वलण देखाडे छे, ज्यारे हिंदु लेखको जडबांतोड़ संस्कृत शब्दो जोडी मुके छे। आ एक अंग्रेजी केलवणीना वाजी पांगरवा मांडया पछी वधारे म्होटे भागे साहित्यना कजिया सरखो बनाव थई गयो छे; अने तेथी नहि इच्छवा जेवा प्रसंगी हजी सुधी पेदा थया नथी परंतु ए बाबतमां वधारे चोखटवाली समजण थवानी खास जरूर लागे छे। ('वसन्त' रजत-महोत्सव-स्मारक-ग्रंथ १९२७, अहमदाबाद, पृष्ठ २४७)

श्री 'राणीना' जीने पारसी-गुजराती साहित्य के विषय में जो कुछ कहा है उसका भाव स्पष्ट यह है कि गुजराती के पारसी लेखक भी दो प्रकार की भाषा बरतते हैं। उनकी विशेषता यह है कि पारसी की ओर स्वभाव से ही अधिक झुकते हैं। इधर अँगरेजी के प्रभाव से कुछ हिंदू लेखक भी संस्कृत की ओर बढ़ रहे हैं और घोर शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं जिससे अहित की आशंका है। हम इसी के साथ इतना और कह देना ठीक समझते हैं कि यही आज का युगधर्म है। सभी अपने अतीत से बल प्राप्त कर अपने को दृढ़ करना चाहते हैं और अतीत के अध्ययन के अभाव में कोस की शरण लेते हैं। अतएव स्थिति का सामना न कर किसी को कोसना व्यर्थ है।

हाँ, तो श्री 'राणीना' जी ने 'हिंदुस्थान' का प्रयोग 'पाकिस्तान निर्माण' के कारण नहीं, गुजराती बानी के हेतु किया है। यही गुजराती का खरा और ठेठ घरेलू शब्द है। फारसी से प्रभावित लोग ही इसे 'हिंदुस्तान' कहते हैं। किंतु और भी विचारणीय

बात तो है 'संस्कारी' और 'व्यवहारी' गुजराती का अलग अलग होना एवं पारसी गुजराती का हिंदू गुजराती से भेद। सच तो यह है कि यदि महात्मा जी अपनी जन्मभाषा की ही भली भाँति मीमांसा करते तो भी उन्हें पता चल जाता कि वास्तव में जैसे पारसी-गुजराती भी गुजराती ही है और फलतः लिखी भी उसी लिपि में जाती है वैसे ही मुसलमानी हिंदी भी वस्तुतः हिंदी ही है और लिखी भी जानी चाहिए हिंदी लिपि में ही। परंतु ऐसा हो न सका। यहाँ लिपि ही नहीं बदली अपितु नाम भी बदल गया। और फलतः आज 'हिंदुस्तानी' का संग्राम छिड़ गया। परंतु तथ्य की बात यह है कि सभी देशभाषाओं में मुसलमानी भाषा देशी भाषा से कुछ भिन्न है पर लिपि की एकता के कारण अलग नहीं हो पाती। उस मुसलमानी भाषा की प्रवृत्ति क्या है, इसे उसी अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी साहब के मुँह से सुनिए। कहते हैं—

इसलामी अहद की अदबी तारीख के गहरे मुताला[1] से मालूम होता है कि यह मखलूत[2] ज़बान सिंध, गुजरात, अवध, दकन, पंजाब और बंगाल हर जगह की सूबावार ज़बानों से मिलकर हर सूबा में अलग-अलग पैदा हुई, जिनमें खसूसियत के साथ ज़िक्र के क़ाबिल सिंधी, गुजराती, दखिनी और देहलवी हैं। जिन सूबों की बोलियों को अलग वजूद नहीं बख्शा गया उसमें भी यह अब तक मानना पड़ता है कि उनकी दो क़िस्में हैं—एक मुसलमानी और एक खालिस देसी। चुनांचे बंगाली, मरहठी, कन्नड़ी, तिलंगी, मलयालम, हरएक में मुसलमानी बोली खालिस बोली से अलग है। मुसलमानी बंगाली, मुसलमानी मरहठी, मुसलमानी तिलंगी, खालिस बंगाली, खालिस मरहठी और खालिस तिलंगी से अलग और मुमताज है। यह इम्त-

---

१—पर्यालोचन। २—मिश्रित।

याज़ भी है कि मुसलमान इन सूबावार बोलियों में अरबी फ़ारसी लफ्ज़ों को मिलाकर बोलते हैं, और इन सूबों के असल बाशिन्दे उनको ख़ालिस और बेमेल बोलते हैं। (नु.कूशे सुलैमानी, पृष्ठ २५१)

अब यदि यही बात है तो इसके कारण पर ध्यान देना चाहिए और देखना यह चाहिए कि स्वयं हिंदी की क्या स्थिति है। और क्या कारण है कि अन्य देशभाषाओं में तो कोई विभेद खड़ा न हुआ पर हिंदी में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का बखेड़ा खड़ा हो गया। और लुत्फ़ की बात तो यह ठहरी कि तीनों नामों के विधाता विदेशी या मुसलमान ही ठहरे। उर्दू के मुसलमानी होने में कोई संदेह नहीं। आज चर्चा भी उसकी नहीं 'हिंदुस्तानी' की है। पर यह 'हिंदुस्तानी' है क्या ? किसी की नहीं 'हरिजनसेवक' की सुनिए। वही श्री 'अमृतलाल नाणावटी' जी लिखते हैं—

लेकिन अगर कोई हिंदुस्तानी के मानी उर्दू करता है, तो वह ख्वाब देखता है, और वह उसका ख्वाब ही बना रहेगा। यह कई बार साफ कर दिया गया है कि हिंदुस्तानी वह ज़बान है, जिसमें हिंदी और उर्दू का कुदरती मेल है। (वही, पृष्ठ १)

भला इस अभिमान का कोई ठिकाना है ! आप साफ करते रहें पर आप की सफाई को मानता कौन है ? और यह 'हिंदी और उर्दू का कुदरती मेल है' क्या ? कहाँ है ? किस भूमि और किस क्षेत्र में किसके घर है ? पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि उर्दू लालकिला की शाही बोली का नाम है और है वह आदि से अन्त तक मुगली। नहीं नहीं, बादशाहज़ादी हिंदी। और हिंदुस्तानी भी उसी का चलता और सब जग-प्यारा नाम है। रही हिंदुस्थानी की बात। सो ठेठ अहिंदी जनता में हिंदी

का पर्याय है और है परंपरा से प्राप्त। हाँ, श्री ग्रियर्सन आदि की कूट-दृष्टि में वह अवश्य ही गंगा यमुना के 'द्वाब' में बोली जाने-वाली बानी है। उनकी कृपा से भाषा-विज्ञान के लोग तथा इस देश के सरकारी प्राणी हिंदुस्तानी को बोलचाल की भाषा मानते हैं और उसी मुसलमानी रीति को उर्दू तथा हिंदू-रीति को हिंदी कहते हैं। हिंदू मुसलमान का कुदरती मेल कब, कहाँ और किस कुदरत में होगा, इसे कौन कहे? पर इसे कौन नहीं कह सकता कि इसी 'कुदरती' 'ख्वाब' का परिणाम है अकुदरती पाकिस्तान। पाकिस्तान में किसी कुदरत का नहीं, किसी 'सर सैयद' का हाथ था। उसी 'सरसैयद' का जिसने 'मुसलमान' की 'रोज़ी' और 'रोज़गार' पर इसलाम को कुरबान कर दिया। सो कैसे? इसे किसी 'आज़ाद' से पूछ देखिए और पढ़ देखिए किसी 'अकबर' इलाहा-बादी से।

अच्छा तो अब आइए प्रकृत विषय 'हिंदुस्थानी' पर। हिंदुस्थानी नहीं तो हिंदुस्तानी पर। वही सैयद साहब फिर कहते हैं—

उर्दू के इब्तदाई मुसन्नफ़ीन[1] ने इसको हमेशा हिंदी कहा है, और अँगरेजों की ज़बान में अब तक इसका नाम हिंदोस्तानी है। (वही, पृष्ठ ७)

हिंदुस्तानी का अर्थ आज भी विदेशों में उर्दू ही समझा जाता है और फिरंगी प्रायः हिंदी और हिंदुस्तानी का ही उल्लेख करते हैं। हिंदी के स्थान पर 'हिंदवी' वा 'हिंदुई' का दर्शन भी बहुधा हो जाता है और उसका संकेत होता है हिंदू या देश की गँवारी भाषा। जो हो, इसी सैयद जी का इतना और भी निष्कर्ष है—

१—आरंभिक लेखकों।

चूँकि शुरूत्र शुरूत्र में जो पुर्तगाली, या इस्पेनी, या और अगले यूरपियन यहाँ आए, बल्कि खुद अँगरेजों ने भी इस ज़बान को सहीह तौर से 'हिंदुस्तानी' कहा तो हम में से अकसरों को यह धोका हुआ कि यह नाम अँगरेजों का बक्सा हुआ है। हालां कि इस ज़बान का यह नाम हम अपने हिंदुस्तानी के मक़ाला में बता चुके हैं कि 'बादशाहनामा' और तारीख़ 'फरिश्ता' तक में मौजूद है। फ़रिश्ता में आदिलशाह सानी वाली बीजापूर के मुतल्लिक़ है कि 'ता वहिंदुस्तानी मुत्कल्लिम नमी शुद।" शाहजहाँ की दरबारी तारीख़ 'बादशाहनामा' में है "नमः सरायाने हिंदुस्तानी ज़बाद" तलाश से और भी मिसालें मिल सकती हैं। इसलिये यह शुबहः दूर हो जाना चाहिए कि इस ज़बान का यह नाम फिरंगियों ने रक्खा है। बल्कि यक़ीन करना चाहिए कि 'हिंदी' के बाद हमारी 'ज़बान' का यह वह नाम है जो हमारे बुजुर्गों ने रक्खा था, और हमको भी इस नाम को बाकी रखना चाहिए।" (वही, पृ० १०७-८)

विचारने की बात यहाँ यह है कि फारसी में 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग किस भाषा के लिये हुआ है और इसको प्रयोग में लानेवाले किस क्षेत्र के लोग हैं। सो इतना तो सभी जानते हैं कि 'फ़रिश्ता' दक्षिण का अधिवासी था और 'बादशाहनामा' का लेखक लाहौर का बासी। 'लाहौरी' उसके नाम के साथ लगा भी रहता है। फ़रिश्ता का पूरा कथन है—

इसके बाद शाहनिवाज़ खाँ ने नस्र व नज़्म की किताबें शाही मुलाहिजः में पेश करनी शुरुअ कीं। अदालतपनाह ने उन किताबों का मुताला[1] शुरुअ किया और देखते ही देखते फ़ारसीख्वाँ[2] हो गए।

१—पर्यवेक्षण। २—फारसीविद्।

थोड़े ही ज़मानः में अदालतपनाह ऐसी खूब फ़ारसी बोलने लगे कि जब तक हिंदी ज़बान में तकल्लुम[1] न फ़रमाते सामश्रीन[2] को यह मालूम होता था कि बादशाह ने तमाम उम्र सिवा फ़ारसी के और किसी दूसरी ज़बान में गुफ़्तगू नहीं फ़रमाई। (तारीख फ़रिश्ता जिल्द चहारुम,उसमानिया-हैदराबाद, १९३२ पृ० १३८-९)

श्री मुहम्मद फ़िदा अली साहब 'तालिब' ने जो 'हिंदुस्तानी' को 'हिंदी' कर दिया है उसका कुछ अर्थ है। इसने अपने ब्राह्मण मंत्रों को निकाला और फारसी को मुँह लगाया, किंतु इसके पूर्वज की दशा यह थी।

इब्राहीम आदिल ने फ़ारसी ज़बान को दफ़्तर से खारिज करके हिंदी उसकी जगह रायज की। इब्राहीम आदिल ने बरहमनों को साहबे एख्तयार[3] किया। (वही पृ० ३६)

अस्तु, फ़रिश्ता जिस 'हिंदुस्तानी' का उल्लेख कर रहा है वह वास्तव में 'हिंदी' ही है और 'हिंदी' ही उसे कहना भी चाहिए। रही 'बादशाहनामा' के लेखक श्री अब्दुल्ला हमीद लाहौरी की 'हिंदुस्तानी'। सो तो प्रत्यक्ष ही व्रजभाषा है, क्योंकि यही उस समय की संगीत की भाषा है, और फलतः 'भाषामणि व्रज' का उल्लेख भी अनेक गानों में पाया जाता है। एक स्थल पर यह बहुत कुछ स्पष्ट भी हो गया है। वह लिखता है—

जगन्नाथ कलावंत कि बखिताब कबिराय सरअफ़राज़ अस्त, व दर तसनीफ़ नग़मात हिंदुस्तानी व तालीफ़ मआनी इमरोज़ मिस्ल ऊ दर हिंदुस्तान बिहिश्त निशाँ नेस्त। व बजहत बस्तन तसनीफ़ात हसबुल हुक्म दर दारुस्सलतनत मांदा बूँद बदरगाह आसमान जाह आमदह

१–वार्तालाप। २–श्रोताओं। ३—प्रभुत्वशाली।

दवाज़दह तसनीफ़ कि बहिंदुस्तानी ज़बान धुरंद नामंद......।
(बादशाहनामा; कलकत्ता १८६७ ई० भाग २, पृ० ५६)

भाव यह है कि जगन्नाथ 'कलावंत कविराय' की उपाधि से विभूषित है और हिंदुस्तानी गानों की रचना तथा उत्तम भावों के संग्रह में उसके समान स्वर्गतुल्य हिंदुस्तान में कोई नहीं। वह आज्ञानुसार रचना करने के लिये राजधानी में रह गया था। हिंदुस्तानी भाषा में जिसको ध्रुपद कहते हैं उसकी बारह रचनाओं को लेकर बादशाह शाहजहाँ की सेवा में प्रस्तुत हुआ।

आगे जो कुछ हुआ वह तो दान-दक्षिणा की बात ठहरी। उससे अपना प्रयोजन क्या? हाँ, इस बात को जान रखिए कि 'बादशाहनामा' में हिंदुस्तानी ज़बान' का प्रयोग उर्दू किंवा अरबी-फारसी से लदी हिंदी के लिये नहीं वरन् 'ब्रजभाषा' के लिये ही हुआ है। और उर्दू के प्रसिद्ध खोजी श्री हाफिज महमूद शेरानी ने 'बादशाहनामा' के 'बहिंदुस्तानी ज़बान तरजमा नमूदंद' को लक्ष्य करके लिखा भी है—

मैं समझता हूँ कि इस इबारत में हिंदुस्तानी से मुराद उर्दू नहीं है बल्कि ब्रजभाषा है। (ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, अगस्त सन १९३१, पृष्ट २०)

ब्रजभाषा के प्रति शाहजहाँ की जो ममता रही है उसे इस जन की 'मुगल बादशाहों की हिंदी' में देखिए और यहाँ बस इतना जान भर लीजिए कि उर्दू के लोग भी 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग ब्रजभाषा के लिये फारसी ग्रंथों में पाते हैं। अच्छा तो जगन्नाथ कविराय की 'हिंदुस्तानी ज़बान' है—

> हों जु निभर्मी बैठी औंचक मूँदे री पाछे ते नयन।
> अछन अछन पग धरन धरणी पर आवत जाने मयन।

हों इतने चौंकि परी मेरो आली मेरी छतिया धीर धरय न।
जगन्नाथ कविराय के प्रभु रीझि हँसे तब होंहुँ हँसी वह सुरत कहत बनय न।
(संगीत रागकल्पद्रुम, २रा खंड, पृ० १४५)

'बंगीय साहित्य-परिषद्-मंदिर' का कार्य सराहनीय है कि उसने इस अनुपम ग्रंथ का प्रकाशन किया, किंतु खेद इस बात का है कि इसका संपादन ठीक न हो सका। फिर भी भाषा स्पष्टरूप से व्रजभाषा ही है, कुछ 'हिंदुस्तानी' याने 'उर्दू' नहीं।

'हिंदुस्तानी' का प्रयोग कभी 'हिंदी' के लिये ही होता था इसके विदेशी प्रमाण भी पाये जाते हैं। 'हाब्सन जाब्सन' के आधार पर 'हिंदुस्तानी' में कहा गया है—

सन् १५८२ में पादरी एकवा वीवा (Aqua Viva) ने एक खत पादरी रूई वीनसेंट (Ruy Vincente) के नाम लिखा, रूई वानसेंट गोवा में रहता था और इस सूबे का सदर (प्राविंशल) था। इस खत में एकवा वीवा ने यह तजवीज़ की कि गोवा में एक मदरसा कायम होना चाहिए जिसमें मुसलमानों के लिये फ़ारसी और दीगर मज़हब वालों के लिये हिंदुस्तानी की तालीम हो। ज़ाहिर है कि हिंदुस्तानी से मुद्दआ वह ज़बान है जो हिंदू बोलते थे।

और—

टेरी (१६१६) इस ज़बान के मुताल्लिक यह भी खबर देता है कि यह बाईं से दाईं तरफ़ लिखी जाती है। (हिंदुस्तानी रिसाला, सन् १९३८, पृ० २२२-३)

इतना ही नहीं, सन १६७७ में एक खत इंगलिस्तान से कंपनी के डाइरेक्टरों ने फ़ोर्ट सेंट जार्ज भेजा। उसमें इस एलान का एआदह है—

जो शख्स हिंदुओं (Gentoo) की ज़बान याने हिंदुस्तानी (Hindostani) में क़ाबिलियत दिखाएगा उसे बीस पौंड इनआम दिया जायगा।

(वही, पृ० २२४)

किंतु आज 'कंपनी' की कृपा से हिंदुस्तानी है विजयी मुसलमानों की भाषा। देखिए, अँगरेजी के अति प्रमाणिक कोष का कहना है कि हिंदुस्तानी—

The language of the Mohammadan Conquerors of Hindustan being a form of Hindi with a large admixture of Arabic, Persian and other foreign elements; also called Urdu.

(A New English Dictionary on Historical principle, edited by Sir James A, H. Murry, Oxford.)

हिंदुस्तान के विजयी मुसलमानों की भाषा है जो हिंदी का ही एक रूप है और अरबी-फारसी और बाहरी अंशों से बहुत मिली-जुली है। इसको उर्दू भी कहते हैं। अस्तु इस विषय में कुछ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रही। सभी फिरंगी इसका यही अर्थ समझते हैं और आज उनके प्रताप से यही अर्थ विश्व में प्रचलित भी है। किंतु कुछ दिनों से इस देश में एक दूसरी हवा भी चली है जिससे कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि वस्तुतः हिंदुस्तानी उत्तर भारत में 'सबकी बोली' है और 'हिंदू' भी घर में इसी को बोलता है और 'मुसलमान' भी, तथा इसको जो हिंदुस्थानी रूप दिया जा रहा है यह पाकिस्तान के द्वेषवश।

इसलिए थोड़ा इसको भी देख लेना चाहिए। सो सबसे पहले श्री कवींद्राचार्य की सूची को लीजिए। आप को कुछ फारसी के प्रेमी भी जानते ही हैं। कारण, 'कवींद्र' की उपाधि शाहजहाँ की ओर से ही मिली है और वही 'उर्दू-ए-मुअल्ला' (भाषा नहीं, उसके अड्डे लाल किला) का निर्माता भी है।

हाँ, तो 'कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र' में कई स्थलों पर 'हिंदुस्थानी भाषा' का ही नहीं उसके ग्रंथों का उल्लेख है। संख्या १०११ में 'हिंदुस्थानी भाषाकृत ग्रंथ वैद्यक' का उल्लेख है, तो संख्या १०१३ में 'वैद्यविद्वज्जनोल्लासग्रंथ हिंदुस्थानी भाषेचा' एवं संख्या २१६५ में 'बुद्धिसेनकृत हिंदुस्थानीभाषेचा' का। तात्पर्य यह कि सर्वत्र भाषा का नाम 'हिंदुस्थानी' ही किया गया है कुछ 'हिंदी' या 'हिंदुस्तानी' नहीं। कारण वही 'अहिंदी क्षेत्र' का होना है। सच तो यह है कि अभी तक एक भी प्रमाण ऐसा न मिला जिससे सिद्ध हो कि हिंदी भाषी भी अपनी भाषा को कभी हिंदुस्थानी वा हिंदुस्तानी कहते रहे हों। निश्चय ही इस नाम का प्रचार फिरंगियों के द्वारा ही इतना व्यापक हुआ और उन्होंने इसे दक्षिणियों से ही सीखा। जो लोग 'सबरस' के आग़ाज दास्तान, ज़बान हिंदोस्तान' को हिंदुस्तानी की प्राचीनता की सनद मानते हैं उनसे भी हमारा यही कहना है कि यह भी 'दक्षिण' की ही बात है, और हमारी समझ में तो यह नहीं आता कि 'वजही' ने 'भूमिका' में ही शीर्षक का विधान क्यों किया, सारी कहानी में करता तो कोई बात भी थी। जो हो, उसने कहीं हिंदुस्तानी जबान का प्रयोग नहीं किया है और किया भी है तो 'हिंदी' का ही। देखिए, वह स्वयं लिखता है—

'कोई इस जहान में, हिंदुस्तान में' हिंदी ज़बान सों इस लताफ़त

इस छुंदाँ सों नज्म होर नस्र मिला कर जुला कर यों नहीं बोल्या। (पृष्ठ ११)

और 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग उसने किया भी है तो निवासी के अर्थ में ही। जैसे नजर की माँ थी हिंदुस्तानी, स्याह पेशानी; बाप था तुर्किस्तानी। (पृष्ठ ८६, अंजुमन तरक्की उर्दू, दिल्ली, सन् १९३२)

अस्तु, 'सबरस' के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'हिंदुस्तानी' किसी ज़बान का प्रचलित नाम है और हिंदी नाम से 'दक्षिण' में भी अधिक व्यापक है। हमारी धारणा तो यह है कि ठेठ देशी जनता में वह चाहे जितना चालू रहा हो पर दक्षिण के मुसलमान प्रायः 'हिंदी-जबान' का ही प्रयोग करते थे। इसी से तो मद्रास के मौलाना बाकर आगाह का भी कहना है--

और हिंदुस्तान मुद्दत लग ज़बान हिंदी कि उसे ब्रजभाषा बोलते हैं रवाज रखती थी। (मद्रास में 'उर्दू' अदबियात उर्दू, हैदराबाद दकन, १९३८ पृष्ठ ४७)

मौलाना बाकर आगाह के विचारों का उल्लेख 'मुसलमान' में पर्याप्त हो चुका है अतएव यहाँ इतना ही कह कर संतोष करते हैं कि उनके प्रिय शिष्य 'नामी' की दृष्टि में भी 'ठेठ हिंदी' कुछ और ही थी। कहते हैं—

है इस मसनवी की ज़बाँ रेखता, अरब और अजम से है आमेखता।
नहीं सिर्फ उर्दू मगर है अयाँ, ज़बाने सुलैमान हिंदोस्ताँ।
अगर बोलता ठेठ हिंदी कलाम, तो भाका था वह पुरबियों का तमाम।
ज़बाने दकन में नहीं मैं कहा, कि है वह जबाँ भी निपट बेमजा॥

(वही पृष्ठ ७५)

'रेखता' और 'उर्दू' के इस पुजारी ने 'ठेठ हिंदी' और दक्खिनी को किस दृष्टि से देखा है इसे आप भी देख सकते हैं, परंतु इसके मूल में जो वृत्ति काम कर रही है वह सहसा आप के सामने नहीं हो सकती। बला का उसका परदा है। तो भी इतना तो समझ ही लें कि मुहम्मदशाह 'रंगीला' के शासन (१७४४-५) में जो उर्दू ईजाद हुई तो देश में देशी हिंदी का घोर विरोध हुआ और लोग परदेशी मुगली याने उर्दू के हो रहे। यहाँ तक कि 'ठेठ हिंदी' में रचना करना हिंदू होना समझा गया और हिंदी के प्रसिद्ध सूफी कवि 'नूरमुहम्मद' को विवश हो शपथ खाकर* कहना ही पड़ा—

जानत है वह सिरजन हारा, जो कछु है मन-मरम हमारा।
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ, का जौं बहुतै हिंदी भाखेउँ।
मन इसलाम मसलकैं माँजेउँ, दीन जेंवरी करकस भाँजेउँ।

(अनुराग बाँसुरी, साहित्यसम्मेलन, प्रयाग पृष्ठ ५)

'अनुराग-बाँसुरी' की रचना सन् ११७८ हिजरी में हुई थी और हुई थी 'पूरबी हिंदी में। 'पूर्वी हिंदी' या 'अवधी' में ही सूफियों (कवियों) की रचना विशेषरूप से मिलती है। इसलिए सन् १२०० हिजरी में 'नामी' ने जब 'ठेठ हिंदी' का नाम लिया तब उनके सामने 'पूरबी' लोग ही आये। 'पूरब' के लोग उर्दू में किस दृष्टि से देखे जाते हैं इसे स्वयं उर्दू के भीतर लखनऊ की उर्दू को लेकर देखा जा सकता है। निदान हमारा कहना यह है कि 'हिंदी' का विरोध एक निश्चित दिन और निश्चित तिथि और निश्चित मुहूर्त से निश्चितरूप में किया जाने लगा, और उसमें रचना करना 'हिंदू' होने का अपराध समझा गया। इसके कुछ दिन पहले सन् ११६४ हिजरी में 'तारीख़ ग़रीबी' के लेखक ने भी 'हिंदी रचना की तो बड़े से बड़ों की दुहाई दी, यहाँ तक कि स्वयं 'कुरान मजीद' की नजीर दी। वह बड़े परिताप के साथ लिखता है—

हिंदी पर ना मारो ताना, सभी बतावैं हिंदी माना।
यह जो है कुर्आन खुदा का, हिंदी करैं बयान सदाका।
लोगों को जब खोल बतावैं, हिंदी में कह कर समझावैं।
जिन लोगों में नबी जो आया, उनकी बोली सों बतलाया।

'जिन लोगों में नबी जो आया' में जो बात कही गई है बड़े ही महत्व की है। देखिए तो विधि की विडम्बना कि आज भी इसी के मानने वाले हिंदी का विरोध न जाने किस मुँह से कर रहे हैं जब कि स्वयं 'कुर्आन करीम' का कहना है--

और (आक्षेप करते हैं कि कुर्आन अरबी भाषा में क्यों उतारा गया, तो ऐ रसूल तुम इनसे कह दो कि) हमने (जब) किसी रसूल को भेजा तो (उसको) उसी की जाति (और उसी के देस)की भाषा में (अपनी किताब प्रदान की। और वही भाषा उसको सिखलाई) जिससे कि वह उनको (अर्थात् अपनी जाति के लोगों को) साफ (साफ अल्लाह के आदेशों को) बता सके। (कुरान मजीद, सूरत इब्राहीम, आयत ४ का ख्वाजा हसन निजामी देहलवी का अनुवाद)

कहा जा सकता है कि कहा तो कहा पर किसी ने इस देश में इसका पालन भी किया ? हाँ किया और बड़ों से बड़ों ने किया। सुनिए उसी का आगे कहना है--

हिंदीं महदी ने फ़रमाई, खूँद मीर के मुँह पर आई।
कई दोहरे साखी बात, बोले खोल मुबारक ज़ात।
मियाँ मुस्तफ़ा नैं भी कही, और किसी की फिर क्या रही ?

(औरियंटल कालेज मैगज़ीन, लाहौर, सन् १६३८, पृष्ठ ८)
कोई भी विचारशील व्यक्ति देख सकता है कि इसमें जिस

'हिंदी' की वकालत की गई है वह वही हिंदी है जिसका विरोध 'उर्दू की ईजाद' के कारण बड़े वेग से बढ़ रहा था और कुछ ही दिनों बाद जिसके लिये नूरमुहम्मद को 'दीन' की दुहाई तक देनी पड़ी थी। पर यह सब धर्म खाते में पड़ा रहा और 'मुसलमान' ने 'हिंदी' को 'हराम' समझ लिया। यहाँ तक कि किसी हिंदू-कथा का लिखना भी गुनाह हो गया। जिज्ञासा हो तो एक जन की 'अनुराग-बाँसुरी' की भूमिका पढ़िए और 'हवा' को सदा के लिये पहिचान लीजिए। देखिए 'फारसी' के प्रेमी भी हिंदी की उपेक्षा करते थे पर कुछ और ही रूप में। उसका समाधान भी कुछ और ही ढङ्ग से किया जाता था। जैसे हिंदी के प्रसिद्ध कवि 'मलिक मुहम्मद—

> अरबी, तुरकी, हिंदुई, भाषा जेती आहिं।
> जेहिं माँ मारग प्रेम कर, सुकवि सराहहिं ताहिं॥

में 'प्रेम' को महत्व देते हैं तो 'मुल्ला बहरी'—

> हिंदी! तू ज़बान चे है हमारी, कहने न लगे हमन भारी।
> और फ़ारसी इस ते अति रसीला, हर हर्फ़ में इश्क़ है न हीला।

में 'इश्क़' को। किंतु साथ ही 'क़ाज़ी महमूद बहरी' कुछ और भी बता जाते हैं। 'हमारी ज़बान' और 'न लगे हमन भारी' में जो ममता, जो वेदना और जो उल्लास छिपा है वह किसी अंधे से भी ओझल नहीं। मलिक मुहम्मद 'जायसी' शेरशाह के समय के जीव ठहरे और क़ाज़ी महमूद 'बहरी' औरंगजेब आलमगीर के काल के प्राणी। इतने वर्षों में बयार किधर को बही, प्रत्यक्ष है। फिर भी हम 'बहरी' के इस 'हिंदी'- अभिमान का स्वागत करते और जानना चाहते हैं कि आज इसका विरोध क्यों? केवल इसीलिए न कि अब उसको मुँह लगाना 'हिंदू' हो जाना है! हो, पर सच तो कहिए, इसका मर्म क्या है—

देश के लिये 'हिंद' शब्द जितना प्यारा लगता है, उतना देश की ज़बान के लिये 'हिंदी' शब्द प्यारा नहीं रहा। ऐसा कहा जा सकता है, 'हिंदी' के मुकाबले 'हिंदुस्तानी' शब्द ज्यादा पसंद किया जायगा (हरिजन सेवक, वही)

क्यों पसंद किया जायगा, इसका भी कारण है। और कारण यही कि आज 'हिंदुस्तानी' का संकेत 'उर्दू' 'हिंदी' कदापि नहीं। सुनिए, उसी 'मुसलिम डिवाइन' का कहना है—

लेकिन हम अपने बदगुमान दोस्तों को बावर[1] कराना चाहते हैं कि यह लफ्ज हिंदुस्तानी मुसलमानों के इसरार[2] से और मुसलमानों ही की तिफ्ल तसल्ली[3] के लिये रक्खा गया है, और इससे मुराद हमारी ज़बान है जो हमारी आम बोलचाल में। हमको जो कुछ शिकायत है वह यह है कि हिंदी और हिंदुस्तानी को हममानी[4] और मुरादिफ़[5] क्यों ठहराया गया। (वही, पृष्ठ १०६)

हो सकता है 'आम बोलचाल' और 'हमारी ज़बान' का अर्थ आपने कुछ और समझ लिया हो और सत्य की खोज में पाषंड को पा लिया हो। अतएव आपको जताया जाता है कि—

यह समझना भी दुरुस्त नहीं कि इस तजवीज़ के पेश करनेवालों का यह मक़सद है कि हम अपनी ज़बान में कोई ऐसी तबदीली कर लें जिससे वह 'हिंदी' या हिंदी के करीब बन जाए। हाशा व कल्ला[6] इस क़िस्म की कोई बात नहीं है। बल्कि बईनहि[7] उसी उर्दू उसी ज़बान, उसी बोलचाल को जो हम बोलते हैं, हम हिंदुस्तानी कहते हैं।

(वही, पृष्ठ १११)

१—सचेत। २—आग्रह। ३—सुखसंतोष। ४—एकार्थी। ५—पर्यायवाची। ६—कदापि वा कथमपि। ७—वस्तुतः।

हम पहले ही बता चुके हैं कि हिंदुस्तानी का यही अर्थ आज विश्व में माना जा रहा है; किंतु कहीं कहीं इसमें कुछ परिवर्तन भी हो गया है। आज हमारे देश के महात्मा लोग उसी की पूँछ पकड़कर इस वैतरणी को पार करना चाहते हैं और चाहते हैं महात्मा जी के नाम पर उन्हीं के त्याग की ओट में ऐसा करना। परंतु सच पूछिए तो स्वयं महात्मा जी भी इसके पुरोहित नहीं यजमान थे और जीवन के अंतिम क्षण तक इसका आचरण इसी अल्लामा की पुरोहिती अथवा डाक्टर ग्रियर्सन साहब की विधि से करते रहे थे। उसकी आलोचना के पहले कुछ इस 'बोलचाल' का रहस्य भी समझ लीजिए। उर्दू की 'बोलचाल' में आप कभी नहीं कह सकते 'वे'। उर्दू में 'वह' का बहुवचन होता ही नहीं। वह अव्यय हो गया है। पर 'हिंदी' में होता है और मीर अम्मन 'देहलवी' की 'ठेठ हिंदुस्तानी' रचना 'बाग़ो बहार' में पाया भी जाता है। उर्दू में 'देश' कभी नहीं चल सकता, सदा उसे 'देस' ही होना पड़ेगा। और यदि आप कुछ कहना चाहेंगे तो सेंटर से डा० ताराचंद बोल उठेंगे—हिंदी गाँव से दूर जा पड़ी है। गाँव के लोग 'देस' बोलते हैं। किंतु यहाँ भी आप ठगे जा रहे हैं और धोखा खा रहे हैं और यह नहीं जानते कि उर्दू में आप का 'प्रसाद' नहीं रह सकता। नहीं, 'हमारी ज़बान' में तो उसे 'परशाद' होना ही होगा। और हिंदुस्तानी में? इसकी कौन कहे! पूज्य 'बापू' जी को भी तो उसके तोष के लिये अपने प्रिय 'मौन' को छोड़कर 'खामोश' को अपनाना पड़ा—यद्यपि 'चुप' से भी यह काम चल सकता था। निदान हिंदुस्तानी प्रेमी उक्त अल्लामा का ही यह दावा है कि 'यह लफ़्ज हिंदुस्तानी मुसलमानों के इसरार से और मुसलमानों ही की तिफ्ल तसल्ली के लिये रक्खा गया है' कौन है हिंदुस्तानी का ऐसा लाड़ला

गांधीभक्त जो हृदय पर हाथ रख और उन्हीं का 'फूल' नहीं तो चित्र हाथ में लेकर कहे कि यथार्थ में यह बात नहीं है। माना और हम जानते भी हैं कि इसमें हमारे देश का अज्ञान भी बहुत कुछ काम रहा है पर हम यह मान नहीं सकते कि इसमें हठ और दुराग्रह का कुछ भी हाथ नहीं है। नहीं हमारा हाथ यदि खाली है तो अपने आपसे, हमारा मस्तिस्क यदि रीता है तो अपने आपसे। हम अपने 'आप' को छोड़कर सब का सब कुछ करना चाहते हैं और जानते इतना भी नहीं कि 'घर में दीया बार कर मसजिद में दीया बारते हैं' की कहावत बहुत पुरानी है और आज भी उसी प्रकार हम अंधों को अपना प्रकाश दे रही है। क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या सिक्ख, क्या ईसाई, किसी भी देशवासी ने इस रहस्य को कब समझा है और यदि समझा है तो इस देश के परदेशी 'तूरान' या 'उर्दू' सरकार ने ही। हिंदी ने कदापि नहीं। और हमारे प्रधान नेता भी तो हिंदी ही हैं न? उधर 'चर्चिल' नहीं स्वर्गीय डाक्टर ग्रियर्सन को देखिए। आप हिंदुस्तानी के परम भक्त थे। सदा जनता का गुन गाते थे। उसकी बोलीबानी को बेद से बढ़ कर बताते और सब को ठेठ बानी का पाठ पढ़ाते थे। किंतु कोई उनकी आत्मा से बुला कर तो पूछे—बाबा! आपने 'हिंदुस्तानी' को हिंदोस्तानी' 'क्यों कर दिया? क्या यहाँ का कोई गँवार या काजी ऐसा बोलता है? नहीं, उनकी समझ में यही पक्की फारसी जो है? लेकिन जानकारों से छिपा नहीं है कि फारसी का शुद्ध उच्चारण 'हिंदुस्तान' ही है, कुछ हिंदोस्तान नहीं, 'हिंदुस्तान' को चाहे 'वाव' से लिखें चाहे 'पेश' से, पर पढ़ेंगे उसे सदा ह्रस्व ही। 'हिंदोस्ताँ' या 'हिंदोस्तान' पद्य में भले ही साधु समझे जायँ पर बोलचाल में तो ईरान में भी चलता है 'हिंदुस्तान' ही। मूल शब्द है भी तो 'सिंधु' ही, फिर

उसका 'हिंदी' रूप क्यों है ? जो हो, पर ग्रियर्सन तो अपनी कर गए और 'सरकार' की ओर से कह गए कि बस यही साधु रूप है, और केवल इसी का व्यवहार करो। सो भी सही। परंतु बात यहीं तक नहीं रही। उन्होंने आगे बढ़कर इस 'हिंदोस्तानी' के घर-घाट का पता दिया और प्रमाण माना अपने घर के लोगों को ही। किसी ने कहा जो गंगा-यमुना के उत्तरी द्वाब में बोली जाती है वही खड़ी हिंदुस्तानी है और किसी ने बताया जो दोनों लिपियों में लिखी जा सकती हो वही हिंदुस्तानी है; पर देखा किसी ने नहीं कि स्वयं इसके घर के लोग इसे क्या कहते हैं। आपको इस सरकारी भाषा-पड़ताल में यदि 'नागरी भाषा' का नाम न मिले तो आश्चर्य नहीं। अचरज तो तब होता जब इसे 'हिंदुस्तानी' न कहकर 'नागरी' कहा गया होता और नागर अपभ्रंश का प्रसार कस कर दिखाया गया होता, या लल्लूजी लाल के समय से हिंदी में जो 'खड़ी बोली' का नाम चल पड़ा है उसी को ले लिया गया होता। यह सब इसी से तो नहीं हुआ कि इससे सरकार का काम नहीं बनता और हिंदी-उर्दू का अखाड़ा गरम न होता। नागरी भाषा का भी नाम है इसे पंडित सरजार्ज इब्राहीम ग्रियर्सन मानते ही नहीं, आप भले ही कितने ही प्रमाण दे लें। कारण वही कूटनीति है जो तोड़ो और चमको पर टिकी है। हिंदू मुसलिम-मेल के लिये अँगरेज का होना आवश्यक था तो हिंदी-उर्दू-मिलाप के लिये हिंदुस्तानी, नहीं नहीं, 'हिंदोस्तानी' का होना जरूरी। आप 'अँगरेज' को तो समझ गए पर अँगरेजी नीति को नहीं। आप होने को तो 'आज़ाद' हो गए पर गुलामी कर रहे हैं किसी ग्रियर्सन की ही। किंतु आप ही का 'अहमद' 'सर सैयद अहमद' नहीं, मौलवी सैयद अहमद, किसी 'फ़रहंग आसफ़िया' में लिख रहा है कि नागरी 'ठेठ हिंदी बोली' का नाम है। ध्यान से

देखिए और चित्त लगा कर पढ़िए तो 'नागरी' का रहस्य खुले। वह लिखता है—

'नागरी-सीन-इस्म मुवन्नसः—(१) नागर की स्त्री, (२) संस्कृत के हुरूफ़ तहज्जीदेवनागरी अच्छर, (३) हिंदी भाषा-हिंदी भाका, ठेठ हिंदी बोली।

'नागरी ही क्यों' में इस जन ने इसका कुछ प्रतिपादन भी कर दिया है अतएव यहाँ इसको और नहीं बढ़ाया जाता है। हाँ, संक्षेप में दिखाया यह जाता है कि इसको मान लेने से भारतीय भाषाओं की अनेक गुत्थियाँ आप ही सुलझ जायँगी और 'दखिनी' को जो 'गूजरी' कहा गया है उसका भेद भी खुल जायगा। किंतु इससे एक बड़ी भारी क्षति भी होगी। और वह यही कि अब 'सर्वे' की आड़ में 'हिंदी' का शिकार न हो सकेगा और न दोनों लिपियों का विधान कर जनता को हिंदुस्तानी के भँवजाल में अधिक डाला जा सकेगा। साँच को आँच कहाँ ? पर अंजन को आँख चाहिए न ? यदि आँख ही नहीं तो कालिख तो वह है ही। आपका 'दिठौना' किसी की दीठि को कलंक का टीका दिखाई दे तो इसका उपचार क्या ? हम तो 'नागरी' से ही देश का हित समझते हैं और उसी से आपकी आँख को आँजकर आप की दृष्टि को ठीक करना चाहते हैं। वैसे आपकी इच्छा।

हाँ, तो बड़े अभिमान से पूज्य महात्मा जी के पत्र 'हरिजन सेवक' में कहा गया और सच सच कहा गया है कि--

विधान-सभा राष्ट्रभाषा का निर्णय करनेवाली अथवा उस पर शास्त्रीय ढंग से चर्चा करनेवाली संस्था नहीं है। ज्यादा से ज्यादा वह राजभाषा के बारे में निर्णय कर सकती है। लेकिन इसमें भी उसे जनता से निर्णय लेना चाहिए।

ठीक, पर इसे लेता कौन है? कांग्रेस-जन के निर्णय को कांग्रेस-सरकार ने ठुकरा दिया और कांग्रेस सरकार के निर्णय को महात्मा जी ने। फिर इस ठुकरान के राज्य में किसी 'निर्णय' का महत्त्व क्या? उत्तर भारत पुकार कर कहता है–'हिंदी'। आप गोहार लगाकर कहते हैं–'हिंदुस्तानी'। और कोई कुशल विवेकी कहता है–'हिंदी-हिंदुस्थानी।' गढ़ंत नहीं, इतिहास की बात है। श्रीभूदेव मुखर्जी की आशा है––

भारतवासीर चलित भाषा-गुलिर मध्ये हिंदी हिंदुस्थानीई प्रधान, एवं मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त-महादेश व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहाके अवलम्बन करिया-इ कोना दूरवर्ती भविष्य काले समस्त भारतवर्षे भाषा सम्मिलित थाकिबे। (अचर प्रबंध, बंगला संवत् १३२८, पृष्ठ, १६० से 'हिंदी ही क्यों'? बंगीय हिंदी परिषद् पृष्ठ ३ पर उद्धृत)

इस 'हिंदी-हिंदुस्थानी' से महात्मा जी की 'हिंदी हिंदुस्तानी' सामने आ गई हो तो कृपा कर इतना और टाँक लीजिए। किसी उर्दू के पारखी की 'अगवानी' है। कहते हैं–

पंजाब, सिंध, सूबा सरहद उर्दू के फ़ेडरेशन में शामिल होंगे। यहाँ उर्दू हाकिम आला[1] होगी। मक़ामी हुकूमत[2] खुद एख्तयारी[3] पंजाब में पंजाबी को, सिंध में सिंधी को, सूबा सरहद में पश्तो को दी जायगी। बिलोचिस्तान के मुताल्लिक़ मैं कोई राय क़ायम नहीं कर सकता कि आया वह इस फेडरेशन में शामिल होगा या नहीं।

१—प्रमुख शासक। २—स्थानीय शासन। ३—स्वाधीन।

दूसरा हिंदी का फ़ेडरेशन होगा। इसमें मुमालिक मुतवस्त:[1] महारासटरा, बंबई शामिल होंगे। हमारा सूबा और बिहार हिंदी के फेडरेशन में होगा, मगर उर्दू का फेडरेशन यहाँ हमलाआवर[2] रहेगा। और बहुत मुमकिन है कि यहाँ लिसानी तवायफुलमलूकी (Linguistic Anarchy)[3] रहे। जिस तरह बिलोचिस्तान के मुताल्लिक़ मैं कोई राय नहीं दे सकता, बंगाल के मुताल्लिक भी मैंने कोई राय क़ायम नहीं की। (हिंदुस्तानी रिसाला, सन् १९३८ ई०, खुतबा सदारत, पृष्ठ २६)

श्री सैयद सज्जाद हैदर की पैठ पूरी न थी, इसलिए उनकी बुद्धि फ़ेडरेशन से आगे नहीं बढ़ी, किंतु उसे इस बात का आभास हो गया कि युक्तप्रांत और बिहार पर उर्दू-संघ का आक्रमण बराबर बना रहेगा और यहाँ भाषा का व्यभिचार कभी बंद न होगा। कर्मविपाकवश आज उर्दू फेडरेशन 'पाकिस्तान' के पाक नाम से प्रचलित हो गया और पश्चिम से उड़कर पूर्वी बंगाल पर भी दुर्दिन सा छा गया; और बराबर हिंदी-संघ पर 'हमला आवर' भी हो रहा है। और सो भी किसके सहारे! किस भाँति और किस ढब से !!

उर्दू ? ना, उसके लिये अब लाग नहीं। अब तो रगड़ा 'हिंदी' 'हिंदुस्तानी' का हो रहा है और हो रहा है पूज्य बापू जी की प्रेरणा से। क्यों ? बात यह है कि उसे सुझाया गया है कि हिंदी हिंदू की भाषा है कुछ हिंदी की नहीं। हिंदी की भाषा तो है हिंदुस्तानी। वही हिंदुस्तानी जो दोनों लिपियों में लिखी जा सकती हो। 'ग्राऊज़' की सूझ, ग्रियर्सन की बूझ और महात्मा जी की बानी।

१—मध्यप्रदेश। २—आक्रमणकारी। ३—भाषापरक अराजकता।

बस यही तो इसका बल है ? किंतु कोई पूछे तो सही इन विधाताओं से कि घर की बोली सबकी बोली कब हुई है और सबकी बोली शिष्ट की भाषा कब बनी है ? सीधी सी बात है। आप घर में जिस वेष और जिस भूषा में रहते हैं क्या उसी वेष और उसी भूषा में बाहर भी जाते हैं ? क्या जीवन में बनाव-चुनाव, सिंगार-पटार, बन-ठन और हाव-भाव का कोई महत्त्व नहीं ? यदि हाँ, तो यह गोहार कैसी ? और कैसा यह रोना ? भले आदमी का काम है भला बनना और भला बनने का अर्थ है सबको नहीं अपने संघ व समाज को भला लगना। बस इसी बनने-बनाने का नाम तो सृष्टि है, सर्जन है, रचना है और है साहित्य भी ? फिर इसी की उपेक्षा क्यों ? कारण समाज नहीं राज है, जनता नहीं जन है, ज्ञान नहीं मोह है। और है पक्की विडंबना भी। कहते हैं–हम स्वतंत्र हैं। करतब बताता है—परतंत्र। कहा जा चुका है कि बादशाहनामा में हिंदुस्तानी ज़बान' का प्रयोग हुआ है संगीत की शिष्ट भाषा व्रजभाषा के लिये, जिसे उर्दू के लोग 'ग्वालियारी' के रूप में जानते हैं। और यह भी कहा गया है कि इस 'हिंदुस्तानी' को अहिंदीभाषी बहुत दिनों से जानते हैं 'हिंदुस्थानी' के रूप में ही। 'हिंदुस्थानी' का फारसी में उसी तरह हिंदुस्तानी हो गया जिस तरह 'जगन्नाथ' कविराय का 'जगन्नात'। अस्तु, अब देखना यह चाहिए कि यह हिंदुस्तानी हिंदी से उर्दू कैसे हो गई और क्यों 'उर्दू' की न रहकर 'उत्तर द्वाब' की मानी गई।

हाँ, अँगरेजों या गोरों को यह नाम 'दक्षिण' में मिला पहले बाएँ से दाए अर्थात् आज की हिंदी के रूप में ही। परंतु यह उस समय की बात है जब दिल्ली का मुगल सम्राट कुछ समझा

जाता था। और उसके प्रसाद के बिना यहाँ किसी प्रकार का व्यापार करना असंभव समझा जाता था। और स्वयं सम्राट और शाहजादे भी हिंदी पढ़ते-लिखते थे। औरंगजेब की तूरानी नीति और शिवा जी की सूरत-लूट का प्रभाव अँगरेजों पर कुछ कम न पड़ा। दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह तूरानी-दल के नेता सैयद-बंधुओं का विनाश और साथ ही राष्ट्र का ध्वंस भी। वैसे तो इरानी-तूरानी अमीर या सरदार भी पद और जागीर के हेतु आपस में लड़ते रहे पर 'हिंदी' को दबाने में दोनों साथ रहे १७४४-५ में फारसी के भोग के लिये उर्दू-ए-मुअल्ला में उर्दू की ईजाद की जिसके धनी ले-दे के 'क़िला' के लोग ही रहे। दक्षिण में 'आसफजाह' के जम जाने और वहाँ की नवाबी के टिक जाने से वहाँ भी 'उर्दू' का सिक्का चल निकला। अँगरेज का पाला उन्हीं नवाबों से पड़ा जो उर्दू के भक्त हो रहे थे। बंगाल क्या, उस समय चारों ओर मुसलमानी अमीरा उसी के प्रचार में लीन थे। किसी भी दरबार की भाषा फारसी या उर्दू ही थी। 'फारसी 'फरमान' की और उर्दू 'फरमाने' की। 'कंपनी' दीवान बनी तो उसके कर्मचारियों को इन भाषाओं को सीखना ही पड़ा और जब जनता से संपर्क बढ़ा तब ठेठ हिंदी का ठाठ भी दिखाई पड़ा। फिर तो बढ़कर हाथ मारने और पक्की जड़ जमाने के लिये फोर्ट विलियम-कालेज की स्थापना हुई और एक ही भाषा की तीन शैलियाँ मानी गईं। भाषा का नाम 'हिंदुस्तानी' मँज गया था। अस्तु वही ठीक ठहराया गया। मीर अम्मन के पहले भी किसी दिल्ली के रोड़े ने अपनी जबान को 'हिंदुस्तानी' कहा हो, इसका पता नहीं पर हिंदी का प्रयोग अपनी ज़बान के अर्थ में 'ग़दर' के बाद तक फ़रसी के भक्त मिरज़ा "ग़ालिब" तक ने किया है।

'हिंदी' के स्थान पर 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग अँगरेज की

पहली जीत है। उक्त कालेज के हिंदी मुदर्रिस गिलक्रिस्ट साहब ने न तो 'गँवारी' शैली को लिया और न 'मिरज़ा' शैली को। उन्होंने तो बीच की 'मुंशी' शैली को लिया। और यह प्रत्येक के प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि 'मुंशी' सदा 'दरबार' का होता है कुछ घर या 'घरबार' का नहीं, फलतः 'मुंशी' जी की ज़बान भी 'मिरज़ा' साहब की ज़बान बनने लगी और धीरे धीरे 'मिरज़ा' से भी दुरूह हो गई। उधर एक बात और हुई। हिंदुस्तानी की 'गँवारी' शैली को जान-बूझकर 'हिंदुई' कहा गया। फिर क्या था प्रजा के नाते 'हिंदुई' का नाम लिया गया और राजा के नाते उर्दू का, और अपने धंधे के लिये 'हिंदुस्तानी' का। कहिए, किस सफ़ाई से 'हिंदी' विदा हुई। पर राजा और प्रजा, हिंदू और मुसलमीन दोनों ही 'हिंदी' को जानते थे और अपने आप इसी का व्यवहार भी करते थे अँगरेजों की करनी अथवा अपनी अकड़ से ५७ की क्रांति मची तो हिंदू-मुसलिम मिल गए और अँगरेज जाता जाता रह गया। फिर तो स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ बहादुर की मंत्रणा से वह काम कर गया कि आज स्वतंत्र होकर भी आप उसी का पानी भर रहे हैं और अपनी 'हिंदी' छोड़ उसी की 'हिंदुस्तानी' को पोस रहे हैं। परंतु यह 'मुंशी' की हिंदुस्तानी अपनी 'सरकार' का काम कर सकती है, आपका उद्धार कदापि नहीं। अँगरेज के यहाँ अब 'हिंदुई' नहीं रही। नहीं, वह तो 'उच्च हिंदी' हो गई और यहाँ के 'गँवार' भी अब बोलने लगे 'हिंदुस्तानी'। सभी 'मुंशी' जो हो गए! किंतु पहले कहा जा चुका है कि 'हिंदुस्तानी' हिंदी का पर्याय है और अहिंदी क्षेत्रों में इसी की ओट में हिंदुस्तानी अपना घर बना रही है। पर किसकी हिंदुस्तानी? दिल्ली की नहीं, लखनऊ की नहीं, प्रयाग की नहीं, काशी की नहीं, कहीं की नहीं,

और कहने को सबकी। सच पूछिए तो आज की हिंदुस्तानी कोष की हिंदुस्तानी है जो वाक्य में शब्दों की तोड़-मोड़, उखाड़-पखाड़ या सरकार की बेगार से बनती और किसी की छाप से हिंद को भरमाती रहती है। तत्त्व-दृष्टि से खोपड़ी की खाज के अतिरिक्त हम इसे कुछ और नहीं कह सकते और राष्ट्र की दृष्टि के 'कोढ़'में की खाज तो है ही। भाषा के क्षेत्र का इसे फ्रंग रोग ही समझिए सचमुच फिरंग ही इसका आचार्य है। रंग लाने के लिए फिरंगी ने जिस रँगीली की रचना की उसी का नाम हिंदुस्तानी है। जो है नहीं, होने को है—मेल नहीं मिलाने से। किंतु हमारा कहना है—मिलाने की चिंता दूर करो और करो मिलने का काम। बस, आप ही बेड़ा पार है। नहीं तो 'दुबिधा में दोऊ गए माया मिली न राम।' मिलने की भाषा उर्दू नहीं, हिंदुस्तानी नहीं; नहीं, वह तो हिंदी ही है। कौन सी हिंदी ? मूढ़ता का प्रश्न है। वही हिंदी जो आप अपने आप वेदना से लिखेंगे और अधिक से अधिक लोगों को समझने का अवसर देंगे। समझने और बोलने में भेद है और भेद है बोलने तथा समझने में भी। हम जितना समझते हैं उतना बोल नहीं पाते और जितना बोलते हैं उतना समझा भी नहीं पाते। इसलिए बोलचाल की भाषा में लिखने का चाहे जितना फरमान निकाला जाय पर साहित्य बनेगा हृदय की भाषा में ही जिसे वाचाल भले ही न माने पर सहृदय तुरत ताड़ लेगा। बात जीभ और कान की नहीं, प्राण और चित्त की है। लेखक की चित्तवृत्ति को देखिए। उसकी प्रवृत्ति को सुधारिए। हिंदुस्तानी के थोथे फतवे से कुछ नहीं होगा और होगा भी तो विद्या का विनाश और बुद्धि का ह्रास ही। राष्ट्र का उद्धार खेल नहीं जो बातों और विधानों में सध जाय। नहीं, इसके लिए तो राष्ट्र के हृदय में पैठना होगा और जानना होगा उसके मन को,

उसके चित्त को। उसके तत्त्व को। और इस राष्ट्र की सच्ची जानकारी प्राप्त होगी इसकी भाषा 'हिंदी' में ही। हिंदी संस्कृत भी हिंदी प्राकृत भी है, हिंदी हिंदुस्थानी भी है और है हिंदी उर्दू भी; किंतु केवल उर्दू के लोगों के लिये। और उर्दू का अर्थ है 'मुगल दरबार' या हिंद के 'ईरानी' 'तूरानी' मुसलमान। यदि ये लोग अपनी अँकड़ को छोड़कर सचाई की आँख से देखें और आज के 'ईरान-तूरान' से पाठ पढ़ें तो इनके हिंदी होने में विलंब क्या? हाँ, हिंदी का अर्थ घृणा नहीं, प्रेम है। आप किसी भी अपने प्यारे बोल को न छोड़िए, लिखिए और अपनी भाषा में लिखिए; पर उसको सबसे लिखवाने का आग्रह छोड़ दीजिए, और देखिए कि यहाँ अरबी-फ़ारसी बोलों के लिए जो कुछ हो रहा है क्या वह ईरान तूरान से अधिक है? ईरान तूरान मुसलमान होकर अरबी को छोड़ रहा है और ढूँढ़ ढूँढ़ कर अपनी बानी के शब्दों को ले रहा है तो हिंद हिंदू होकर भी उन शब्दों को कैसे छोड़ सकता है जो सदा से उसके साथ रहे हैं—घरों से लेकर पोथीपत्रों तक भरे पड़े हैं और प्रतिदिन लेनदेन नहीं तो कथा-वार्ता में अवश्य सुनाई देते हैं। आप भूलते हैं जो अरब की भाँति इस देश को भी जाहिल समझते हैं और इसलाम के पहले यहाँ का कुछ मानते ही नहीं। 'मुहम्मद' का इसलाम तो यहाँ चल सकता है 'महमूद' का कदापि नहीं।

अच्छा, 'हिंदुस्तानी, यदि उर्दू का पर्याय नहीं है तो वह मुसलमान को क्यों मान्य है? माना कि हिंदी से मुसलमान का झगड़ा है पर 'हिंदुस्तानी' से उसका मेल कहाँ? कब किसने उसकी हाँ भरी है और क्यों? प्रकट है कि 'उर्दू' शब्द की अशक्ति और 'हिंदुस्तानी' के प्रपंच के कारण कुछ लोग उसकी ओर झुक रहे हैं और अपने तथा अपने वर्ग को सचेत कर मैदान मारना चाहते हैं।

परंतु देखना तो यह है कि क्या इस तीन टाँग की दौड़ से ही हमारा राष्ट्र आगे बढ़ सकेगा और तनी फाट पर बहकर ही देश का कल्याण करेगा। अरे, सरस्वती की चिंता छोड़ो, दिल्ली की यमुना को प्रयाग में मिलकर गंगा बन जाने दो फिर देखो हिंदी में क्या नहीं है जो लुप्त सरस्वती के पीछे मर रहे हो। सरस्वती भीतर बहती है बाहर नहीं। एकता मन से होती है तन से नहीं। मन से तो—

इन ताज़ा खुदाओं में बड़ा सबसे वतन है।
जो पैरहन[1] इसका है वह मज़हब का कफ़न है।

का जाप करें और देश प्रेम को इसलाम का शत्रु समझें और मुँह से 'हिंदुस्तानी' और 'हिंदुस्तान' के भक्त बने रहें यह हो नहीं सकता। हम जानते हैं कि हमारे देश का पढ़ा-लिखा मुसलमान इतना गुमराह हो गया है कि 'हिंदी साहित्य के इतिहास' के इतिहास में लिख जाता है—

मुसलमान अरब नज़ाद[2] थे। उनकी ज़बान अरबी थी। लेकिन उनके अदब की ज़बान फ़ारसी थी। यह जबान मुगलों की आमद से पहले भी हिंदुस्तान में जारी हो चुकी थी और बहुत से अहल हुनूद[3] भी जो दरबार से मुताल्लिक[4] थे इस ज़बान में काफी महारत[5] व शुहरत[6] हासिल कर चुके थे। (तारीख अदब हिंदी, लाला रामनारायन लाल बुकसेलर इलाहाबाद, सन् १९४२ ई०, पृष्ठ १०६)

सैयद ज़हीरुद्दीन अहमद अलवी साहब की यह बात सुनकर विवेक को मूर्छा आ जाय तो आश्चर्य क्या? आरंभ में पहले-पहल

१—परिधान। २—उद्भव। ३—हिंदू लोग। ४—संबद्ध। ५—अभ्यास। ६—प्रसिद्धि।

अरब मुसलमान हुए लेकिन उनके अदब की ज़बान अरबी ही थी। यहाँ तक कि जब पारसी मुसलमान हो गए तब उनकी अदबी ज़बान भी अरबी हो गई। बाद में जिन मुसलमानों के अदब की ज़बान फ़ारसी हुई उनमें कहने को भी अरब कितने थे। अरब फ़ारसी को किस दृष्टि से देखते थे इसका पता इस प्रवाद से चल जाता है कि ख़लीफा मामून ने सन् १९९ हिजरी में 'ईद' का जो दरबार किया तो पूछा—क्या कोई फ़ारसी में रचना कर सकता है? झट एक ईरानी युवक आगे बढ़ा और अपनी ज़बान में एक कसीदा रच सुना दिया। परिणाम यह हुआ कि सर धड़ से अलग हो गया। अपनी माँ की बोली का यह पुरस्कार मिला? फिर भी हमारे देश के अभिमानी मुसलिम युनिवर्सिटी अलीगढ़ के उर्दू-प्रो.फेसर हिंद के मुसलमान को 'तारीख़ अदब हिंदी' में यह सबक सिखाते हैं कि वह अरब वंश का है और उसकी अदबी ज़बान फ़ारसी है। और हम भी इन्हें सच्चा पाठ पढ़ने का अवसर नहीं देना चाहते। कारण, हम 'सत्य' और 'अहिंसा' के भक्त जो ठहरे? हम 'मुसलमान' की बात को असत्य कैसे मान सकते हैं? हमारे यहाँ का 'नट' और 'दरजी' भी तो 'ख़लीफा' है न?

अस्तु, हमारा कहना है कि जब १८९२ में आपको आँसू पोछने को कुछ अधिकार मिला और आप एक देश के वासी होने के कारण, बिना हिंदू-मुसलिम-भेद के, उसके अधिकारी समझे गए तब 'अरबनज़ाद' हजरत सर सैयद का आसन डोल गया और उनका 'मुसलमान' ख़तरे में पड़ गया। फिर क्या था, मुसलिमहित-रक्षा की समिति बनी और उसका नाम भी रख दिया गया 'एम० ए० ओ० डिफेंस एसोसियेशन'। सन् १८९३ में जब यह डिफेंस अलीगढ़ में कायम हो गया तब सरकार को सन् १८९४ में सूझी 'भारत की भाषा-पड़ताल' की। फिर तो प्रांतीय सरकारों और

हिंद सरकार में आपस में कुछ ऐसी छनी कि हैदराबाद, मैसूर और मद्रास को अलग कर दिया गया और शेष भाग की भाषा पड़ताल हुई। फलतः आज भी हैदराबाद उर्दू का अड्डा है और मैसूर 'राज्य' से 'रियासत' बन गया है चक्रवर्ती राजाजी के शासन में, और मद्रास तो 'हिंदुस्तानी' के प्रचार में लगा ही है। कहते हैं, वहाँ 'हिंदी' का विरोध भी हो रहा है। क्यों न हो, भाषा-पड़ताल में वह भारत के साथ कब था? कहिए, हैं न आज 'चर्चिल' से मुक्त पर 'ग्रियर्सन' के दास? और दास हैं अपनी 'खुशी' और महात्मा की 'मरज़ी' से। ग्रियर्सन साहब कहते हैं कि पड़ताल का प्रस्ताव वियना में सन् १८८६ में ही स्वीकृत हो गया था पर अर्थाभाव के कारण व्यवहार की बात हुई १८६४ में ही। हमारा भी निवेदन है—जी हाँ, ८५ में कांग्रेस बन गई थी और ६३ में 'मुहम्मडन-एंग्लो इंडियन-डिफेंस एसोसियेशन', फिर शुभ मुहुर्त पर सूत्रपात क्यों नहीं होता! भारत-सरकार जो ठहरी? हिंद की सरकार और हिंदुस्तानी की भक्ति?

श्री सर जार्ज इब्राहीम ग्रियर्सन ने बड़े भोले भाव से कहा है कि हिंदुस्तानी गंगा-यमुना के उत्तरी द्वाव की बोली है इसको तो हमने लिया है सर चार्ल्स ल्याल्ल के लेख से और जो दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है को ग्रहण किया है मिस्टर ग्राउज्ञ से। हमने बस इन्हीं बातों को अपनी शोधों से सिद्ध भर किया है। ठीक है, रद्दे पर रद्दा जमाना ही तो अँगरेजी कूटनीति है। पर सब मिलाकर आपने तमाशा जो खड़ा किया है वह तो सबसे निराला है न? आपने 'खड़ी बोली' का तो नाम भी नहीं लिया है और 'नागरी' पर कृपा कर यह रिमार्क जड़ दिया है कि यह प्रसिद्ध लिपि का नाम है और इसीसे कभी कभी यह 'हिंदी' का एक रूप भी बता दी जाती है। ऐसा नहीं कि आपने

'नागरी' नाम की भाषा का उल्लेख ही न किया हो। नहीं, आपने बताया है कि नगर ब्राह्मणों की गुजराती नागरी कही जाती है। परंतु इस जन ने भली भाँति दिखा दिया है कि 'दिल्ली' से 'कलकत्ता' तक नागरी का व्यवहार भाषा के अर्थ में हुआ है और फलतः 'द्वाब' की ठेठ जनता में होता भी है। सच तो यह है कि यदि भारत की भाषा-पड़ताल भारत की दृष्टि से होती और राजनीति का 'तिनतसवा' न होता तो उसी पड़ताल में हिंदी का विभाजन इस प्रकार होता है—
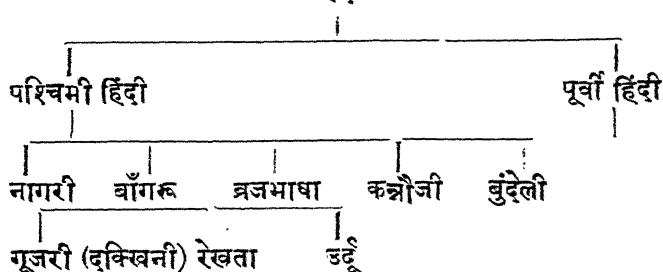
हमारा उद्देश्य विवरण देना या पंजर खड़ा करना नहीं, केवल इतना दिखाना भर है कि 'नागरी' को भाषा मान लेने का परिणाम यह होता कि उत्तर से दक्षिण तक इसका सारा इतिहास आपही झलक उठता और फिर किसी हिंदी-हिंदुस्तानी का संघर्ष न उठता। परंतु 'भाषा-पड़ताल' का इष्ट भाषाशास्त्र नहीं राजनीति है और वह विज्ञान की ओट में खड़ी भर की गई है, इसीसे 'नागरी' को उसमें 'लिपि' कह कर टाल दिया गया। और हिंदी को 'उच्च' बताकर छोड़ दिया गया। वरद हाथ 'हिंदुस्तानी' पर पड़ा और वह घर की बोली के साथ ही देश की बानी भी

बनी। उर्दू भी उससे कुछ अलग खड़ी कर दी गई और हसरत भरी निगाह से इस लाड़ले को देखने लगी। हिंदी और उर्दू का झगड़ा वस्तुतः देशी और विदेशी, हिंदी और तूरानी का झगड़ा था पर ग्रियर्सन की कृपा से एक ओर तो वह हिंदू-मुसलमान का द्वन्द्व बना और दूसरी ओर हिंदी और हिंदुस्तानी में राशि का झगड़ा छिड़ गया और नाम का बखेड़ा खड़ा हो गया। अहिंदी भाषी तह की बात ताड़ न सके और हिंदी को बनावटी मान 'हिंदुस्थानी' के भुलावे में 'हिंदुस्तानी' के हो रहे और भ्रम किंवा व्यामोहवश उर्दू की ओर से 'हिंदी' पर हमला करने लगे। महात्मा जी भी हिंदी से हिंदी-हिंदुस्तानी की ओर ढले और पहले हिंदी याने 'हिंदुस्तानी' की व्याख्या करते रहे, पर जब दबाव पक्का पड़ा और जाल भी सच्चा बिछा तब 'हिंदुस्तानी' के फंदे में आ फँसे और उस 'सरस्वती' की शोध में लगे जो लुप्त होकर प्रयाग में कहीं लुप्त पड़ी थी। कदाचित् 'नया हिंद' ने उसे ठेके में पा लिया है। परंतु दिल्ली की 'हमारी ज़बान' ने उसे 'सरस्वती देवी' समझ लिया और एक उर्दू देवी ने उसे बुतपरस्ती का फतवा-सा मान लिया। भला जहाँ का जी ऐसा भरा हो वहाँ विवेक का नाम कैसा ? 'महामना' व्याकुल थे कि विदेशी विद्वान् उनकी बात नहीं मानते 'महात्मा' हैरान थे कि अब क्या करें। कैसे हैवान को इंसान बनाएँ और पाकिस्तान को आदमी। जवाहिर परेशान हैं कि हिंदुस्तानी नाक कैसे रहे और 'आज़ाद' की 'ज़बान' न डिगे। पर लोग कहते हैं—लोकतंत्र है, लोकतंत्र। अब लोक की सुनें और लोकवाणी हिंदी को अपना लें। बुद्धि कहती है ठीक है, विवेक कहता है साधु, है, नीति कहती है, न्याय है, पर जीभ कहती है—नहीं, 'हिंदुस्तानी'। इसी का अभ्यास जो हो गया है ! और अहिंदी भाषी ? उसकी कुछ

न पूछिए। वह हिंदी नहीं नहीं 'महात्मा' को जानता और उनको नहीं उनके चर को पहिचानता है। वह चाहता तो 'हिंदुस्थानी' याने 'हिंदी' का है, पर जान नहीं पाता कि उसकी 'हिंदुस्थानी' का संकेत हो गया है 'हिंदुस्तानी' याने उर्दू। लोग भिड़क कर कह बैठते हैं--नाम में धरा ही क्या है जो इसके लिये मर रहे हो? निवेदन है—कुछ नहीं और सब कुछ। आपके लिये 'कुछ नहीं' है तो नाम का आग्रह छोड़ दीजिए। व्यर्थ रार न बढ़ाइए। हम तो छोड़ नहीं सकते। हमारे लिये तो वह 'सब कुछ' है न? और यदि नहीं छोड़ते हैं तो श्रीमुख से आप ही कहें। हम आपको क्या समझें? चिंतक वा वंचक? पहला इष्ट नहीं, दूसरा मान्य नहीं। यही असमंजस है और यही हैरानी। तो भी, आज भी, इस विषम परिस्थिति में भी, कहीं से आशा की किरण फूटती दिखाई देती और उल्लास भरी दृष्टि से रह रह कर संकेत करती और मूकवाणी में कहती रहती है जो—

मौलवी वहीदउद्दीन साहब सलीम पानीपती ने अपनी किताब 'वज़ा इसतलाहात 'इल्मिया' में 'फ़रहंग आसफ़िया' का हवाला देकर लिखा है कि उर्दू ज़बान में खालिस अरबी-फ़ारसी अलफाज़ की तादाद बक़दर $\frac{1}{6}$ के है। सवाल यह पैदा होता है कि अरब और ईरान की ज़बानों में भी हमारे हिंदुस्तान के $\frac{1}{6}$ अलफाज मौजूद हैं या नहीं? और अगर नहीं हैं तो हमें भी उनका बायकाट करने का हक है। जब कमाल अतातुर्क अरबी रस्मुल्खत से नजात[1] हासिल करने के बाद भी मुसलमान बाकी रह सकते हैं तो हम हिंदुस्तानी भी हिंदी देवनागरी रस्मुल्खत एख्तयार करके क्यों मुसलमान बाक़ी न रहेंगे? रस्मुल्खत बदलने से न मज़हब बदल जाता है और न तमद्दुन मस्ख[2] हो जाता

१—मुक्ति प्राप्त। २—भ्रष्ट।

है। अगर हिंदू और मुसलमानों को आपस में एकदिल होना है तो उनको एक ही जबान और रस्मुल्खत रखना होगा। यही वहदत खयाल[1] पैदा करने और आपस में मुहब्बत इखलास[2] क़ायम करने का बेहतरीन ज़रिया[3] है।

(ज़माना, जुलाई सन् १९३७ ई०, कानपुर पृष्ठ ३२)

श्री सैयद इब्न हसन शारिक़ साहब नेता नहीं, बादी नहीं, लीडर नहीं कि आप उनकी झट सुन लें। लेकिन जो कुछ कह रहे हैं वही आज चारों ओर सुना जा रहा है। सौभाग्य से महात्मा जी के जीवन में उन्हीं के सामने एक प्रतिष्ठित और संभ्रांत राष्ट्रप्रेमी कुल की महिला का प्रस्ताव भी ऐसा ही आ गया था। आपने अपने ढंग से उसका समाधान भी कर दिया। परंतु उससे हुआ कुछ भी नहीं। वह कभी बैठ नहीं सकती। जब ईरान और तूरान, मिस्र और अरब हमारे शब्दों का सत्कार न करेंगे और हमें आदर की दृष्टि से न देखेंगे तब हम भी उनको किसी और ही दृष्टि से देखेंगे। किंतु बीती बातों को लेकर उनसे उलझने की कोई बात नहीं। यहाँ कभी उनका शासन अपनी ओर से न रहा। वहाँ के लोग जैसे-तैसे यहाँ आए और यहाँ राजसुख भोगने तथा यहाँ के लोगों को खसोटने में लगे रहे। मन बहुत बढ़ गया तो राज भी गया, सुख भी गया और वह मान भी न रह गया। वह दिन लद गया, दुनिया पलट गई। अब तो इंसान से नाता हो गया और देश का देश से डाँडा। बस, अब अपने हित की बात कहें और अपने देश का भला करें। पड़ोस का प्रेम पाना है तो पड़ोस में जाकर पड़ोस की

१—विचार की एकता। २—सच्ची सहानुभूति। ३—उत्तम मार्ग।

भाषा पढ़ें। यहाँ की ७०० वर्ष पहले की पुरानी भाषा वहाँ किस काम की समझी जायगी। स्वप्न की बात नहीं परिस्थिति यह है–

उन फारसी अलफाज से जिन्हें हम फारसी समझ कर फ़ारसी में इस्तैमाल करते हैं, अहल ईरान उन पर चौंकते हैं और हमारी हँसी उड़ाते हैं। याने वह अलफाज फारसी नहीं रहे। हमने उर्दू में उनको दूसरे माने दे दिए हैं; और अब वह लफ्ज बिल्कुल हमारे हो गए हैं। आप उनको अपनी जबान से निकाल दीजिए आप के हाँ से निकलकर वह बिल्कुल निघरे हो जायँगे; क्योंकि फारसी या अरबी इन मानों में उन्हें क़बूल न करेगी।

(हिंदुस्तानी रिसाला, वही, पृष्ठ ६–७)

स्वर्गीय सैयद सज्जाद हैदर 'यलदरस' साहब की साखी आप के सामने है। अब आप ही कहें, किस पड़ोस से नाता जोड़ने के लिये आप उनका 'दस्तक' ले रहे हैं। आप उदार हैं तो इन 'निघरों' को घर में रहने दें पर कृपा कर घर-घर फैलाने का स्वप्न न देखें। उर्दू ने कैसे-कैसे काम किए हैं इसको कहने का यह अवसर नहीं, समय नहीं। तो भी इतना तो देख ही लें कि आप का 'यहाँ' उर्दू में 'हाँ' हो गया और इसी रूप में वह 'उर्दू' में चल भी सकता है। है तो यह आप ही का पर यह आपकी नहीं मानता। यही दशा इसकी सबके साथ है। अरब इसकी सुन नहीं सकते, ईरानी इसे मान नहीं सकते, पर बलिहारी है आप की बुद्धि की जो आप इसी को अपनाते नहीं सब के सिर लादते हैं और इस लोभ से कि आप अरब और ईरान से नाता जोड़ सकें। अरे! महात्माजी की बात महात्माजी के साथ गई। उनकी शक्ति भी किसी में न आ सकी। फिर महात्माजी की दुहाई देकर आप मूक जनता से कराना क्या चाहते हैं? वह महात्माजी के

नाम पर अपना प्राण दे सकती है, पर हिंदुस्तानी की आन मे अपना सिर नहीं। वह जानती है कि उर्दू उसकी नहीं, फिर चाहे जिसकी हो। रही हिंदी, सो उसे छीन कौन सकता है ? दस दिन के लिए उसकी छाती पर मूँग चाहे जो दल ले उसका अंत भला कब हो सकता है। वह जी में जमी, मन में रमी, चित्त में बसी और कान में भरी है। रही 'हिंदुस्तानी'। सो इस अमर परी को चाहे जितना पाल लें। यह कभी न इस देश की हुई और न कभी होगी। और यदि होना चाहती है तो 'हिंदी' तो वह है ही। उसका विरोध कैसा ? नहीं चाहती, इसी से तो 'हिंदी' से जलती और उसे अपनी सौत समझती है ? वह 'सच्ची है' इसकी परख यही है कि वह 'हिंदी' को मान ले, नहीं तो उसकी पूछ दिल्ली में भले ही हो पर देश में उसको स्थान नहीं। देश अपना हृदय चाहता है अपमान नहीं। मान 'हिंदी' में है 'हिंदुस्तानी' में नहीं, हिंदुस्थानी ? वह तो रही नहीं। आपने उसको कब पहिचाना ? वह 'पन्ना' नहीं 'पूतना है, 'दुर्गा' नहीं 'तिलोत्तमा' है, 'चाँदबीबी' नहीं 'नूरजहाँ' है, 'जहाँआरा' नहीं 'रोशनआरा' है, और है आप की 'भावती' भी ? उससे आप का उद्धार कहाँ ?

———

२०—मौलाना आज़ाद की हिंदुस्तानी

मुसलिम-शिरोमणि मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' जन्म से हिंदी नहीं, अरबी हैं। अरब के पवित्र धर्म-तीर्थ मका मोअज़्ज़मा में सन् १८८८ ई० में आपका उदय हुआ और आपका बचपन भी वहीं बीता। आपकी माता भी मदीना मुनव्वरा के प्रतिष्ठित कुल की संतान थीं और अरबी के अतिरिक्त कुछ जानती भी न थीं। इस प्रकार मौलाना अबुलकलाम 'आजाद' की शिक्षा-दीक्षा सब अरबी में ही हुई और अरबी विचारधारा ही उनके मस्तिष्क में बहती रही। मौलाना के जीवन का ध्येय तब से अब तक क्या रहा है, इसे उन्हीं के मुँह से सुन लीजिये और फिर देखिए यह कि उनके द्वारा राजनीति के क्षेत्र में कब क्या हुआ है और क्यों हुआ है। आपका स्वयं कहना है—

दोस्तो! मैं अपनी जिंदगी का अगर कोई काम समझता हूँ तो वह यही है। मुझको यक़ीन है कि मैं हिंदुस्तान के उन इंसानों में हूँ जिन्होंने इंसानों को किताब अल्लाह[1] की तरफ़ बुलाया है। मैं अपने लिये कोई नाचीज खिदमत समझता हूँ तो वह सिर्फ़ यही है। जब मुसलमान अपने हिंदू भाइयों से तमाम कामों में अलग थे, अलीगढ़ की मुसल्लमा[2] क़ौमी पालिसी यही समझी जाती थी कि वह हिंदुओं से अलग रहें, तो मैंने दावत दी थी कि अगर वह हिंदुस्तान की जिंदगी में बहैसियत मुसलमान होने के अपने तमाम अजीमुश्शान[3] फरायज अंजाम[4] देना चाहते हैं तो उनका फर्ज होना चाहिए कि

१—कुरान। २—संपूर्ण। ३—गौरवशाली कर्तव्य। ४—पूर्णता।

इत्तफाक़[1] का क़दम बढ़ायें और बाईस करोड़ हिंदुओं के साथ एक हो जायें। मुसलमानों के लिये ऐसा करना उनके मजहबी अमल[2] में से था। (ख़ुतबात अबुलकलाम आजाद, अदबिस्तान लाहौर, पृष्ठ ५१)।

मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' ने 'मज़हब' की प्रेरणा से हिंदूमुसलिम-एकता का नारा बुलंद किया और लोगों को कुरान का पाठ पढ़ाया तो इसमें आश्चर्य क्या? अचरज की बात तो यह है कि आज हम इतना भी नहीं समझते कि हमारे मौ० अबुलकलाम 'आज़ाद' वास्तव में जो कुछ कर रहे हैं 'इसलाम' के लिये ही कर रहे हैं। उनका स्पष्ट कहना भी यही है। धोखाधड़ी से उनका काम नहीं। उनकी तो खुली घोषणा यह है—

मैं मुसलमान हूँ, और फख्र[3] के साथ महसूस करता हूँ कि मुसलमान हूँ। इसलाम के तेरह सौ बरस की शानदार रवायतें मेरे बरसे[4] में आई हैं। मैं तैयार नहीं कि इसका छोटा हिस्सा भी जाया[5] होने दूँ। इसलाम की तालीम, इसलाम की तारीख, इसलाम के उलूम[6] व फ़ुनून,[7] इसलाम की तहजीब, मेरी दौलत का सरमाया[8] है और मेरा फर्ज है कि इसकी हिफाजत करूँ। बहैसियत मुसलमान होने के मजहबी और कलचरल दायरे में अपनी एक खास हस्ती रखता हूँ और मैं बरदाश्त नहीं कर सकता कि इसमें कोई मदाखलत[9] करे। लेकिन इन तमाम एहसासात[10] के साथ मैं एक और एहसास भी रखता हूँ जिसे

१—एकता। २—आचरण। ३—गर्व। ४—दाय, उत्तराधिकार। ५—नष्ट। ६—विद्यायें। ७—कौशल। ८—पूँजी। ९—हस्तक्षेप। १०—भावों।

मेरी जिंदगी की हकीकतों ने पैदा किया है। इसलाम की रूह मुझे इस से नहीं रोकती। वह इस राह में मेरी रहनुमाई[1] करती है। मैं फ़ख्र के साथ महसूस करता हूँ कि मैं हिंदुस्तानी हूँ। मैं हिंदुस्तान की एक और नाक़ाबिले तक़सीम[2] मुत्तहदा[3] क़ौमियत[4] का एक अंसर[5] हूँ। मैं इस मुत्तहदा कौमियत का एक अहम[6] अंसर हूँ जिसके बग़ैर इसकी अजमत[7] का हैकल[8] अधूरा रह जाता है। मैं इसकी तकवीन (बनावट) का एक नागुज़ीर[9] आनिल (factor) हूँ। मैं अपने इस दावे से कभी दस्तबरदार[10] नहीं हो सकता। (वही, पृष्ठ ३६५-६)

ध्यान देने की बात है कि राष्ट्रपति कांग्रेस के सभापति मौलाना 'आजाद' कांग्रेस के रामगढ़ के अधिवेशन में एक ओर जहाँ मुसलमान होने का अभिमान करते हैं दूसरी ओर वहीं हिंदुस्तानी होने का भी। किंतु हमारे देश के कितने नेता ऐसे हैं जो वास्तव में साहस के साथ ऐसी घोषणा कर सकते हैं! किसी महात्मा को हिंदू होने का अभिमान कब हुआ और किसी जिन्ना को हिंदुस्तानी होने का फ़ख्र ? कारण जो हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि मौलाना अबुलकलाम की दिलेरी किसी भी दूसरे नेता में देखने को नहीं मिलती। कितना पक्का विश्वास और कितना दृढ़ निश्चय है। कहते हैं कि—

१—पथप्रदर्शक। २—विभाजन। ३—एकनिष्ठ। ४—जातीयता। ५—अंग। ६—मुख्य। ७—बड़प्पन। ८—शृंखला। ९—अनुपेक्षणीय। १०—अलग।

इंसानी आमाल[1] की ख्वाह[2] कोई शाख हो, हम तो उसे मजहब ही की नज़र से देखते हैं। हमारे पास अगर कुछ है तो सिर्फ कुर्आन ही है, इसके सिवा हम कुछ नहीं जानते। सारी दुनिया की तरफ से हमारी आँखें बंद हैं, और तमाम आवाजों से कान बहरे हैं। अगर देखने के लिये रोशनी की जरूरत है तो यकीन कीजिए कि हमारे पास तो 'सिराजे मुनीर[3]' की बख्शी हुई एक ही रोशनी है। उसे हटा दीजियेगा तो बिल्कुल अंधे हो जायँगे। (**मज़ामीन आज़ाद, क़ौमी कुतुबखाना, रेलवे रोड लाहौर, सन् १९४४ ई०, पृष्ठ० १३**)

इतना ही नहीं अपितु—

अगर फी-उल-हक़ीक़त[4] दुनिया की किसी क़ौम के पास कोई उम्दा खयाल, कोई वाक़ई सचाई और कोई अच्छा अमल पाया जाता है तो उसके यह माने हैं कि वह बदरजा औला[5] इसलाम में मौजूद है, और अगर नहीं है तो उसकी अच्छाई भी क़ाबिले तसलीम[6] नहीं। (वही पृ० ४१)

ऐसी स्थिति में विचारणीय यह हो जाता है कि हमारे देश का जो सारा वाङ्मय है उसकी दशा मौलाना की दृष्टि में क्या होगी और हिंदुस्तानी की हैसियत से उसके प्रति उनका व्यवहार क्या होगा। क्या उसका प्रकाश उनकी दृष्टि में अच्छा होगा और उसके विकास को वे देख भी सकेंगे? निवेदन है लक्षण तो इसके सर्वथा प्रतिकूल ही दिखाई देता है। कारण कि उसकी अच्छाई मौलाना को मान्य नहीं। ध्यान से सुनें, कहीं मौलाना अबुल-कलाम 'आज़ाद' ने एक हिंदुस्तानी के नाते इस 'सरमाया' का

१—आचरणों। २—चाहे कुछ भी। ३—परम ज्योति। ४—सचमुच। ५—सूक्ष्म। ६—मानने के योग्य।

भी अभिमान किया है ? नहीं, उनकी धारणा ही कुछ और रही है। अधिक से अधिक इस विषय में उनका कहना यह है—

हमारी बोलियाँ अलग थीं, मगर हम एक ही ज़बान बोलने लगे, हमारे रस्म व रिवाज एक दूसरे से बेगाना[1] थे, मगर उन्होंने मिल जुलकर एक नया साँचा पैदा कर लिया। हमारा पुराना लिबास, तारीख की पुरानी तसवीरों में देखा जा सकता है मगर वह अब हमारे जिस्मों पर नहीं मिल सकता। यह तमाम मुशतरक[2] सरमाया हमारी मुत्तहदा क़ौमियत की एक दौलत है और हम उसे छोड़कर उस ज़माना की तरफ लौटना नहीं चाहते, जब हमारी यह मिलीजुली ज़िंदगी शुरुअ नहीं हुई थी। हम में अगर ऐसे हिंदू ज़िंदगी वापस लायें तो मालूम होना चाहिये कि वह एक ख्वाब देख रहे हैं और वह कभी पूरा होनेवाला नहीं। इसी तरह अगर ऐसे मुसलमान दिमाग़ मौजूद हैं जो चाहते हैं कि अपनी गुज़री हुई तहज़ीब व मुआशरत[3] को फिर ताज़ा करें जो वह एक हजार बरस पहले ईरान और वस्त[4] एशिया से लाये थे तो मैं उनसे भी कहूँगा कि इस ख्वाब से जिस क़दर जल्द बेदार[5] हो जायें बेहतर है। क्योंकि यह एक क़ुदरती तख़ैय्युल[6] है और हक़ीक़त की सरज़मीन में ऐसे खयालात उग नहीं सकते। (खुतबात, वही, पृष्ठ ३६७-८)

देखने में तो इसमें कोई दोष नहीं, पर वास्तव में बात कुछ और ही है। हिंदू तो हिंदू ही रहा। उसको अलग छोड़िए और आप ही इंसाफ कीजिए कि मुसलमानों में अधिक संख्या ईरानी-तूरानी मुसलमानों की है या हिंदी मुसलमानों की है। या हिंदी

१—भिन्न। २—मिली जुली। ३—अतीत। ४—मध्य। ५—सावधान। ६—कल्पना।

मुसलमानों की है तो आज किस न्याय से उन पर ईरान और मध्य एशिया की 'तहज़ीब' लादी जा रही है? क्या वही वास्तव में मुसलिम तहजीब है? अच्छा, इसे भी छोड़िए और देखिए यह कि यहाँ की सभी देशभाषाएँ इसी 'हज़ार बरस' के भीतर की बनी हैं या नहीं? फिर उनकी उपेक्षा क्यों की जा रही है? क्या मौलाना 'आज़ाद' जैसा सुशील, सुशिष्ट और उदार मुसलमान इतना भी नहीं देख सकता कि देश के मुसलमान देशभाषा का व्यवहार करते हैं और सभी देशभाषाओं का गत १००० वर्ष का इतिहास प्रायः एक सा ही रहा है। यदि कहीं कोई अपवाद हुआ है तो केवल उस भाषा में जिसे उर्दू कहते हैं। और उसका कारण यह रहा कि यह उसी 'ईरान और वस्त एशिया' का ख्वाब लेकर उठी है जिसका सफल होना उक्त मौलाना को संभव नहीं दिखाई देता। परंतु, आज तो उसका ख्वाब सफल रहा। वह पाकिस्तान के रूप में अपनी मुराद पूरी कर रहा है। रही हिंदू या हिंदुस्तान की बात। तो उससे भी यही कहा जा रहा है कि वह इसी हिंदुस्तानी या उर्दू की पैरवी करे। मुसलमान इसके बिना मिल नहीं सकते और मुसलमान के मेल के बिना उसका जीना कठिन है। हो, परंतु हमारा कहना तो यह है कि हम न तो उस उर्दू को चाहते हैं जो ईरान-तूरान का आदाब बजा लाती है और न उस हिंदुस्तानी को चाहते हैं जो उर्दू से रत्ती भर भी बाहर जाना नहीं चाहती। नहीं, हम तो केवल उस भाषा को चाहते हैं जो सदा से 'भाषा' रूप में चली आती है और इसलाम में भी जो हिंदी के नाम से ख्यात रही है। मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' की आज़ादी का हमें भरोसा है और हम चाहते हैं कि कृपा कर वे एक एक बार अपनी दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कर लें और यह भी जान लें

कि स्वयं उनकी ज़बान के बारे में उर्दू के लोगों का कहना क्या है। अच्छा होगा, सबसे पहले उसमानिया विश्वविद्यालय के एम० ए० सैयद मुहीउद्दीन क़ादिरी का मत आपके सामने रखा जाय। आपका कहना है—

इसी ज़माना में जब कि उर्दू का असलूब[1] तरक्क़ी की तरफ़ गामज़न[2] था मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' ने 'अलहिलाल' जारी करके एक जदीद[3] तर्ज़ इंशा[4] को रायज किया। यह तर्ज़ अगर उन ही की हद तक महफ़ूज़[5] रहती तो कोई मज़र्रतरसाँ[6] बात न थी। लेकिन अफ़सोस है कि औवल औवल नये तालीमयाफ्ता नवजवानों पर इसका बहुत गहरा और बहुत बुरा असर पड़ा।

मालूम होता है कि अबुलकलाम की मख़सूस[7] ज़ेहनियत[8] ने सर सैयद की इसलाही[9] कोशिशों के लिये रद्द अमल[10] का काम किया। उनका और उनके मुक़ल्लदीन[11] का ग़ालबन् यह अक़ीदा[12] है कि उर्दू ज़बान में मज़हब इसलाम की जुमला इस्तलाहात[13] और उसके मुताल्लिक़ा[14] अरबी व फ़ारसी लफ्ज़ों को बिल्कुल बेतकल्लुफ़ी से इस्तेमाल करते रहना चाहिए, ताकि मुसलमान उनसे हर वक्त दो चार होते रहें, और इस तरह उनके मज़हबी मोतक़दात[15] मौक़ा बमौक़ा ताज़ा हुआ करें। हमारे एक मुहतरम[16] उस्ताद जो दबिस्तान[17] अबुलकलाम के ज़बरदस्त खोशार्चो[18] नज़र आते हैं, इस अमर[19]

१—ढंग। २—प्रयत्नशील ३—नया। ४—शैली। ५—सुरक्षित। ६—हानिप्रद। ७—विशिष्ट। ८—प्रवृत्ति। ९—सुधार की। १०—मिटाने का। ११—अनुयायियों। १२—विश्वास। १३—सांकेतिक शब्द। १४—तत्संबंधी। १५—आज्ञायें। १६—आदरणीय। १७—संप्रदाय। १८—अन्वेषक। १९—कार्य।

के मुद्दई हैं कि वह आज तक अपने मुतफ़र्रिक[1] मज़ामीन[2] के ज़रिये से इस फ़र्ज़ को बड़ी शाइस्ता[3] अंजाम देते रहे हैं कि कुर्आन पाक के जुमला अल्फ़ाज़ उर्दू ज़बान में रायज कर दिये जाने चाहिएँ। (उर्दू के असालीब बयान, इब्राहीम इमदाद बाहकी, स्टेशन रोड, हैदराबाद दकन, सन् १९२७ ई०, पृष्ठ १०५-६)

इसी को एक दूसरे विद्वान् के मुह से सुनिए। आप भी उसमानिया विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं और नाम है आपका सैयद अली हसनैन साहब 'ज़ेबा'। आपका कहना है—

अबुलकलाम आज़ाद का नाम अदक़[4] उर्दू को रवाज देने की वजह से हमेशा लिया जायगा। हालाँ कि इस हलक़े में······उर्दू को बिल्कुल अरबी या फ़ारसी की तरफ़ राग़िब[5] करने का जो रिवाज है, उससे उर्दू को बजाय फ़ायदे के नुक़सान ही पहुँच रहा है। मगर मौसूफ़[6] ने अपने 'अलहिलाल' में सियासत[7] और मज़हब के मज़ामीन लिखकर इस तर्ज़ का सबसे बेहतर हक़ अदा किया। (उर्दू अदब बीसवीं सदी में, मजलिस इलमिया तियलसानयीन उसमानिया, सन् १९३७ ई०, पृष्ठ ३९)

उसमानिया विश्वविद्यालय की शोध आपके सामने है। इसीको और भी अच्छे ढङ्ग से सुनना हो तो इलाहाबाद के विश्वविद्यालय में आ जाइये। यहाँ आपको पढ़ाया जायगा कि

१—विभिन्न। २—लेखों। ३—यथार्थ रूप में। ४—दुरूह। ५—प्रवृत्त। ६—राजनीति। ७—आदरणीय (आज़ाद)

मौलाना को अरबी अलफ़ाज़ और फ़ारसी तराकीब[1] का खास शौक़ है, लेकिन निरा शौक़ ही नहीं बल्कि आप उनको निहायत सलीक़ा और उस्तादी के साथ इस्तैमाल करते हैं। आपकी इबारत में इल्मी और फ़िलसफ़ियाना उमक़[2] होता है। बड़े बड़े मफ़हूम[3] को निहायत सहूलत के साथ अदा करते हैं, और फिर इस तरह कि निहायत आसानी से ज़ेहननशीन[4] हो जाते हैं। (तनवीर अदब, नेशनल प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९३७ ई०, पृ० २७९)

जनाब सग़ीर अहमद जान एम० ए० ने जो कुछ लिखा है उर्दू के रंग में लिखा है। मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' की कलम का लोहा कौन नहीं मानता ? पर एक सच्चे आई० सी० एस० का फैसला तो यह है—

सर सैयद, हाली और अलीगढ़ तहरीक[5] के दूसरे रहनुमाओं[6] की तसानीफ़[7] में अरबी-फ़ारसी के मोटे-मोटे अलफ़ाज़ बहुत कम मिलेंगे। वह हत्ता-उल-उसा[8] वही ज़बान इस्तैमाल करते जो देहली और यू०पी० में बोली जाती। अरबी और फारसी के अलफ़ाज़ अशद ज़रूरत[9] के बग़ैर कभी इस्तैमाल न करते। दूसरे अँगरेज़ी के अलफ़ाज़ इस्तेमाल करने से इन्हें गुरेज़[10] न था। नतीजा यह कि इनकी ज़बान ऐसी थी जिसे हिंदू और मुसलमान दोनों बासानी[11] समझ सकते थे। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने जो तर्ज़ तहरीर रायज की उसमें मुशकिल और ग़ैरमानूस[12] अरबी और फ़ारसी अलफ़ाज़ की भरमार थी। उर्दू में अँगरेज़ी अलफ़ाज़ इस्तेमाल करने के वह सख्त मुखालिफ़[13] थे। आम मुरव्वज[14] अँगरेज़ी अलफ़ाज़ को तर्क[15] करके

१—पद योजना। २—गाम्भीर्य। ३—विचारों। ४—सुगम। ५—आंदोलन। ६—नेताओं। ७—रचनाओं। ८—भरसक। ९—अत्यावश्यक। १०—संकोच। ११—सरलता से। १२—अपरिचित। १३—प्रतिकूल। १४—प्रचलित। १५—छोड़।

उन्होंने ठोस अरबी अलफ़ाज़ इस्तेमाल करने की रस्म डाली। मसलन् 'लीडर' की जगह 'ज़ओम' और 'वाइरलेस' की जगह 'लासलकी'। 'अलहिलाल' और 'अलबलाग़' की आम सुरख़ियाँ ही ऐसी होती थीं जिन्हें थोड़ी बहुत अरबी जाने वग़ैर समझना मुशकिल था। मसलन् 'मुज़ाकरः इल्मियः' 'शऊन स्लामियः' 'असअलः व अजवबतहा' वग़ैरह। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की इस तर्ज़ तहरीर को मौलाना ज़फर अली खाँ ने पंजाब में रायज किया, और आहिस्ता-आहिस्ता ऐसी उर्दू लिखने का .फैशन हो गया जिसे अरबीदान मुसलमानों के सिवा कोई नहीं समझ सकता था और उर्दू फ़क़त मुसलमानों की ज़बान हो कर रह गई। (मौज कौसर, मरकंटाइल प्रेस, लाहौर, सन् १९४० ई०, पृ० १६५)

शेख़ मुहम्मद एकराम साहब ने जो कुछ लिखा है समझ कर लिखा है और यह प्रत्यक्ष दिखा दियां है कि क्यों मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' की उर्दू सिर्फ़ अरबी पढ़े-लिखे मुसलमान की ज़बान होकर रह गई है। मौलाना 'आज़ाद' की जन्मभाषा अरबी है और अरबी में ही उनका कंठ फूटा है। अरबी की गोद में पले, अरबी में ही बचपन बीता और अरबी में ही शिक्षा-दीक्षा भी हुई। निदान उनकी ओर से ऐसा हो जाना कोई अजीब काम नहीं हुआ। परंतु सबसे बढ़कर अचरज की बात तो यह हुई कि जहाँ उर्दू के लोग मौलाना 'आज़ाद' की वाणी को इस रूप में ग्रहण करते रहे वहीं हमारे काँगरेस के प्राणी उसी को सच्ची हिंदुस्तानी मानते रहे और फलतः काँगरेस की बानी भी अरबी बन चली। संदेह नहीं कि मौलाना 'आज़ाद' ने नेताओं को जैसा अरबी भक्त बनाया वैसा जिन्ना या लीग ने नहीं। महात्मा गांधी की पुकार में मौलाना 'आज़ाद' की प्रेरणा कितनी रहती है, इसे

कौन कहे ? पर इतना कौन नहीं जानता कि वास्तव में महात्माजी के हिंदुस्तानी के दीक्षा गुरु यही मौलाना साहब हैं। अस्तु, इसके बारे में थोड़ा और विचार कर लेना चाहिये जिससे राष्ट्रभाषा का मार्ग सदा के लिये साफ हो जाय और भारत की राजभाषा में अब कोई अड़चन न पड़े। सो बार-बार यह कहा गया है कि मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' की कृपा से उर्दू अरबी-फ़ारसी से भर गई और वह 'फ़क़त मुसलमानों की ज़बान होकर रह गई।' परंतु ध्यान से देखें और इतिहास के कान से सुनें तो उर्दू पहले भी कुछ और न थी। सीधी सी बात तो यह है कि भाषा के क्षेत्र में जो 'उर्दू' है, भेष के क्षेत्र में जो 'तुर्की लिबास' है वही राजनीति के क्षेत्र में 'पाकिस्तान'। तीनों एक ही विचार धारा के परिणाम हैं और उनके एकत्र रहने में ही देश का कल्याण है। प्रसंग उर्दू का है अतः उसके विषय में इतना जान लीजिये कि—

उर्दू ने हमेशा सलतनतों की आग़ोश[१] में तरबियत पाई। बादशाही दरबारों और शाही महलों में परवान[२] चढ़ी। दिल्ली लाख उजड़ी सही फिर भी एक क़दीम[३] सलतनत की राजधानी थी। वह सलतनत हज़ार गई गुज़री थी लेकिन अदीबों[४] का मावा[५] व मलजा[६] थी। दिल्ली के अलावा अगर उर्दू की रास[७] आई तो लखनऊ की रंगीन फ़ज़ा[८]। माना कि लखनऊ की ऐशपरवर फ़ज़ा ने उसकी मिट्टी खराब कर दी थी और उसका फ़ितरी[९] हुस्न मश्शातगी[१०] के हाथों खाक में मिल गया था फिर भी उसके परस्तारों[११] की रोटियों का सहारा यही था। (उर्दू अदब बीसवीं सदी में, वही, पृष्ठ १)

१—गोद। २—उन्नत हुई। ३—पुरानी। ४—शिष्टों। ५—आश्रय। ६—शरण। ७—राशि। ८—क्षेत्र। ९—स्वाभाविक। १०—विलासिता। ११—पुजारियों।

हाँ, बात भी यही है। उर्दू 'बादशाही दरबारों और शाही महलों' की चीज है और इसी से उन्हीं के साथ रहना भी चाहिए। दिल्ली दरबार की ओर से अगरेज हिंद में आये और अंत में दरबारी लोगों को पाकिस्तान देकर चले भी गये। अब उर्दू का स्थान भी पाकिस्तान ही रहा, कदापि नहीं। अतः कांगरेस के लोगों को सचेत हो जाना चाहिए और सावधान होकर सोचना चाहिए कि भारत के भाग्य का निबटारा 'दरबार' की ओर से कर रहे हैं या घरबार की ओर से। यदि सचमुच उन्हें इस बात का अभिमान है कि उनकी वाणी राष्ट्र की वाणी है और उनकी बोली समाज की बोली तो झट उस वाणी और उस बोली को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कर दें जो न जाने कितने दिनों से सबकी न सही, बहुतों की राष्ट्रवाणी रही है और उस लिखावट में लिखी भी जा रही है जो सबकी नहीं तो बहुतों की लिपि अवश्य है। अरे! इसी को और भी खुलकर क्यों न कह दिया जाय कि हमारी परंपरागत राष्ट्रवाणी के पारखी वास्तव में न तो महात्मा सुंदरलाल हैं और न मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' ही। हमें अभिमान दोनों का है, पर हम दोनों ही से स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि कुछ हमारी भी सुनें और केवल इसलिये सुनें कि आप हमारी सुनना चाहते हैं। निदान हमारा कहना है कि न तो हम आपकी हिंदुस्तानी को जानते हैं और न आपकी अरबी-फारसी को। इसलिये हम पर रहम कीजिए और हमको अपनी बोली-बानी में लिखने-पढ़ने दीजिए। यदि हमारी बानी में राम-रहीम की एकता नहीं तो आपकी ईजाद में पाकिस्तान तो अवश्य है। बस, हो चुका। अब और उसकी चाट नहीं। बस, अब तो अपनी हाट और अपनी बाट। काट किसी की नहीं।

———

२१—राष्ट्रभाषा की उलझन

सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि ।
तुलसी सरलै संतजन, ताहि परी पहिचानि ॥

राष्ट्रभाषा की गुत्थी सुलझ गई, पर उलझन अभी नहीं गई। क्यों नहीं गई, इस पर विवाद हो सकता है, पर नहीं गई यह तथ्य की बात है, ध्रुव सत्य है। आइये इस पुण्य पर्व पर, इस पुण्य भूमि और पुण्य धारा में निमग्न हो हम इसी उलझन को समझने तथा समझाने की चेष्टा करें और विश्व को बता दें कि पर्व क्या है, भूमि का 'प्रभाव' और सलिल का 'तेज' क्या है और क्या है ऋषिमुनि का 'परिग्रह' अथवा साधु-संत का प्रसाद। कहते हैं हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं हुई। सच कहते हैं। वर्तमान परिस्थिति में वह राष्ट्रभाषा हो भी नहीं सकती थी। वह राष्ट्र-भाषा घोषित हो गई ? सो भी नहीं हुआ। सच पूछिये तो अभी इतना ही हुआ है कि शासन ने यह निश्चित कर दिया है कि अंगरेजी राजभाषा नहीं रह सकती, कभी न कभी उसे इस पद से अवश्य हट जाना है। साथ ही इतना और भी निश्चित हो गया है कि हो न हो हिंदी ही यहाँ की प्रमुख भाषा है और वही किसी प्रमुख पद पर और इसी नाम से आसीन होगी। हिंदुस्तानी और उर्दू को यह पद प्राप्त न होगा और न किसी दूसरी देशभाषा को ही यह पद दिया जायगा। 'देशभाषा' अपना पुराना शब्द है, इसके स्थान पर आज 'प्रांतभाषा' शब्द का व्यवहार होता है और फलतः उसी को लोग समझते भी हैं। परंतु सच पूछिये तो बहुत

कुछ बखेड़ा आज इसी शब्द का खड़ा किया हुआ है और सच तो यह है कि इसके समाधान के बिना किसी सच्ची राष्ट्रभाषा का उदय भी नहीं हो सकता। कहने को कोई कुछ भी कहे, पर दस के बीच बुद्धि से काम लेकर कौन कह सकता है कि वर्तमान प्रांतों का संघटन लोकदृष्टि से भाषा के आधार पर हुआ है। सरकार के यहाँ बम्बई एक प्रांत अवश्य है, पर एक ऐसा प्रांत है जिसकी अपनी कोई प्रांतभाषा नहीं; और यदि कदाचित् है भी तो एक नहीं तीन। अँगरेजी सरकार का इसी में हित था; उसे वस्तुतः अँगरेजी को प्रांतभाषा बनाना था जिसके लिये प्रांत का ऐसा रूप खड़ा करना ही उसको इष्ट था। किंतु आज की स्थिति तो कुछ और है। आज बम्बई व्यापार का नगर है जिस पर सभी की आँख है गुजरात और महाराष्ट्र में वह किसका हो, इसका भी संघर्ष है। फिर समझ में नहीं आता कि प्रांतभाषा है क्या बला और प्रांतीय का अर्थ है क्या। दूसरी ओर आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि गुजरात एक देश है और गुजराती एक प्राणी जिसका अर्थ सर्वत्र एक ही समझा जाता है। जो गुजराती है वह बम्बई में भी गुजराती है और अहमदाबाद में भी गुजराती है, दिल्ली में भी गुजराती है और कलकत्ते में भी गुजराती ही। तो क्या गुजराती होने के नाते वह भारत के विकास में कंटक का काम करेगा और गुजराती का विकास राष्ट्र के अमंगल का हेतु होगा? यदि हाँ, तो 'राष्ट्रपिता' कहाँ के थे और कहाँ के थे राष्ट्रद्रष्टा स्वामी दयानंद सरस्वती, और साथ ही 'खड़ी बोली' के प्रथम प्रयोक्ता लल्लू जी लाल भी? मान, हम तो मान नहीं सकते कि यदि गुजरात एक प्रांत बन गया और महाराष्ट्र दूसरा तो घोर अनर्थ हो गया और हमारी राष्ट्रीयता चकनाचूर हो गई। नहीं, वास्तव में जो है उसी को मान कर चलना हमारे लिये मंगलप्रद

है और हम पुण्यतोया भागीरथी के तट से घोषणा करते हैं कि हम इसी देश-भावना के पक्षपाती हैं और यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि जैसी इसी पापनाशिनी धारा की स्थिति है वैसी ही राष्ट्रभाषा की। गंगा आपके देश में नहीं बहती वह आपके हृदय में बसती है। आप उसे उठाकर अपने यहाँ नहीं ले जा सकते किंतु उसकी एक बूंद से आप जितना पवित्र हो सकते हैं उतना कोई तटवासी कदापि नहीं। लोग कहते और न जाने क्या कहते हैं। क्या द्वारिका में कृष्ण के बस जाने से व्रज का महत्त्व चला गया ? ठीक ही तो कहा गया है—

न देवः पर्वताग्रेपु न देवो विष्णु सद्मनि ।
देवश्चिदानंदमयो हृदि भावेन दृश्यते ॥

अस्तु वस्तुतः यदि राष्ट्रदेव का साक्षात्कार करना है तो

बाबा मन की आँखें खोल, बाबा मन की आँखें खोल ।

और मन की आँख खुली तो आपने प्रत्यक्ष देखा कि भारत का प्रत्येक प्राणी भारती प्रजा है और हृदय से विश्वास करता है कि

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥

सोचिए तो सही, क्या कारण है कि जो प्रति दिन 'संकल्प' में 'जंबूद्वीप' का नाम लेता है वही अपने आप को जंबूद्वीपी न कह कर भारती कहता है। इसका कुछ तो कारण होगा। आप 'द्वीप' का उद्घोष करते पर अपनी दौड़ को सीमित रखते 'वर्ष' तक ही हैं। स्मरण रहे, 'वर्ष' काल का ही नहीं देश का भी द्योतक है।

'वर्ष' के परे काल भी है, देश भी है; हम इसको जानते भी हैं, पर मानते प्रतिदिन के व्यवहार में वर्ष को ही हैं।

द्वीप, वर्ष, खंड, देश, क्षेत्र एवं स्थान का नाम हम नित्य अपने संकल्प में लेते हैं और अभिषेक में भी समस्त वर्ष के पानी को पा लेते हैं, पर फिर भी अपने कृत्य में हम नहीं समझते कि इस कर्म में कहीं खोट भी है। इस अनुष्ठान में कहीं बाधा भी है। यही नहीं भाषा के क्षेत्र में भी हमारी यही स्थिति है। नाटकों में हम क्या देखते हैं। संस्कृत सभी पात्र समझते हैं, पर बोलते अपनी अपनी प्राकृत हैं। क्यों ? क्यों नाटककार ने प्राकृतों को स्थान दिया और संस्कृत के साथ उन्हें भी जीवन का वरदान दिया ? जानते हैं, आज की स्थिति प्राकृत के और भी अधिक अनुकूल है और उसे और भी समृद्ध तथा सम्पन्न बनाता है। निदान देशभाषा तथा देश को महत्त्व देना ही होगा। देशभाषाओं को अपने देश में फूलने का पूरा अधिकार होगा। कोई भी देश-भाषा हमारी ऐसी नहीं जिसका विकास भारतीयता का नाशक हो अथवा जिससे 'भारती' सन्तति को कुछ भी क्लेश पहुँचे। कहा जा सकता है कि बंगाल बँगला का पूरा क्षेत्र रहा और वह बंगाली भावना से भर गया। किंतु इतिहास इसके विपरीत है। बंगाल की ओर से हिंदी के लिये इतना कुछ किया गया कि उसका उल्लेख ही व्यर्थ है। बंगाल जब तक बँगला का रहा हिंदी का रहा जब वह अँगरेजी की माया में आ गया तब हिंदी के विरोध में लगा। केशवचंद्रसेन ने ही तो स्वामी दयानंद सरस्वती से 'भाषा' के लिये अनुरोध किया था और श्रीबंकिमचंद्रजी ने ही तो स्पष्ट कहा कि एक दिन हिंदी ही भारत की राष्ट्रभाषा बनेगी ?

हाँ, आज के भारत में हिंदी के 'साम्राज्यवाद' की खूब चर्चा है और साथ ही अन्य भाषाओं की प्रांतीयता भी खुल खेल रही है। परंतु यह सब हो क्यों रहा है? क्या हिंदी अथवा किसी दूसरी देश-भाषा में दोष आ गया है? हो सकता है आ गया हो, पर अपना तो विश्वास है कि जो अँगरेजी से अछूता है वह इस प्रपंच से भी मुक्त है और आज भी कबीर के कंठ से कंठ मिला कर उसी सुर में गा रहा है--

नदिया एक घाट बहुतेरा, कहै कबीर समझ का फेरा।

निश्चय ही समझ के फेर से ही हमारी मति फिर गई है और हम इस कुफेर में पड़कर एक दूसरे को सशंक दृष्टि से देख रहे हैं। बात यह है कि हमारे हृदय की धार रह रह कर हमें बताती है कि तुम्हारी भारती एक है और सर्वत्र उसी की उपासना होती है, सभी भाषाएँ अपने अपने ढङ्ग से अपने अपने देश में उसी का कार्य कर रही हैं। पर हमारी समझ फिर जाने से, अँगरेजी फेर में पड़ जाने से सर्वत्र कुछ और ही देखने लगी है। संक्षेप में, हमारा संस्कार हमारी संस्कृति से कुछ अलग पड़ गया है और हम में जहाँ-तहाँ कुछ विलगाव आ गया है। उस विलगाव को दूर कर फिर सबको एक ही सामान्य भावभूमि पर लाना हमारे कवि का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। आज भाषा नहीं इसी भाव का अभाव है। हम इसी भाव को सत्त्वशील देखना चाहते हैं और इस काल की विकृति को फिर अपनी प्रकृति के मेल में लाना चाहते हैं। हमारा संस्कार बिगड़ गया है और उसी की छाया हमें रातदिन सता रही है। अँगरेज गया पर अँगरेजी माया नहीं गई। उसको दूर करने का व्रत यहीं, इसी मायापुरी में ग्रहण कर लेना चाहिए। स्मरण रहे यह 'द्वार'

है। गंगाद्वार, हरद्वार, हरिद्वार और कह लें राष्ट्रद्वार। कारण यह कि गंगा (प्रवाह हर (प्रलय) और हरि (पालन) का रहस्य ही तो राष्ट्र का प्राण है ? हरि के 'नख' से शिव के 'शिखा' तक जो प्रवाह व्याप्त है वही नखशिख तो गंगा है ? फिर उसमें अवगाहन कर हम अपने राष्ट्र के उद्धार की क्यों न ठानें और क्यों न राष्ट्रभाषा की बची हुई उलझन को भी चट सुलझा लें। सो प्रत्यक्ष ही है कि प्रत्येक देशभाषा की बाढ़ उसी धारा की बाढ़ है जो गंगा के नाम से तीन मार्गों से हमारे हृदय में बह रही है। आकाश, पाताल और पृथिवी को आप्लावित करने वाली यह धारा किसी को तप्त कैसे कर सकती है ? निदान हमारा कहना है कि अँगरेजी के कुसंस्कार से मुक्त हो अपनी परंपरा को परखें और अपनी आँख से अपनी संस्कृति को पहिचान लें फिर देखें कि देश भाषा के अनुसार देश पहले से ही बने हुए हैं, आज केवल आपको उन्हें मान भर लेना है और उसी के अनुसार समय पाकर आचरण भी कर लेना है।

दूसरा प्रश्न जो भयावह बनता जा रहा है शिक्षा का माध्यम है। उस शिक्षा का माध्यम क्या हो, इसको लेकर विवाद छिड़ गया है और कुछ वितंडा की गंध भी आ रही है। 'वाद' के विषय में अभी-अभी निवेदन किया गया है कि वास्तव में भाषा के क्षेत्र में कोई वाद नहीं है और न अँगरेजी की छाप के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में कोई साम्राज्यवाद ही है। और यदि कहीं कुछ है भी तो वह निरा जूठन। अँगरेजी दीक्षा का प्रसाद ! अतएव उसकी चिंता न कर देखिये यह कि हमारी गति हमारी परंपरा और हमारी संस्कृति का अनुरोध और समय की माँग क्या है। सो यह भी स्पष्ट ही है कि भारत की भारती हिंदी ही रहेगी। वह किस रूप में रहेगी, इसी में विवाद है। इसमें संदेह

नहीं कि संविधान में हिंदी 'राष्ट्रभाषा' नहीं मानी गई है। वह तो राज्यभाषा है। अथवा यों कहिये कि वह संघभाषा है। संविधान की दृष्टि में प्रत्येक 'प्रांत' एक राज्य है पर प्रत्येक प्रांत की एक राज्य भाषा नहीं। अनेक राज्यों के संघ का नाम 'भारत' है। स्वयं भारत के ये अंग हैं ऐसा नहीं। इसी से कुछ घपला भी है। यदि भारत एक ठोस राष्ट्र माना गया होता तो 'राष्ट्रभाषा' का नाम भी शासन को मान्य होता; परंतु कारणविशेषवश ऐसा नहीं किया गया तो भी हमें यह कहना ही पड़ता है कि शासन की इस अवज्ञा के कारण 'राष्ट्रभाषा' का नाम मिट नहीं सकता और 'राष्ट्रपति' के साथ ही यह भी चलता रहेगा और जनसमाज में खुलकर घोषणा करता रहेगा कि तुम 'संघ' नहीं 'राष्ट्र' हो। राष्ट्रभाषा-व्यवस्था-परिषद् में 'राष्ट्र', 'राज्य' और 'जाति' शब्द पर गहरा विचार हुआ और अंत में 'राष्ट्र' शब्द ही सर्वसम्मति से ग्राह्य हुआ। 'राष्ट्र' की सच्ची व्याख्या भी एक राष्ट्र के ही पक्ष में मान्य ठहरी। अर्थ यह कि भारत सचमुच एक 'राष्ट्र' है और फलतः उसकी एक भाषा भी 'राष्ट्रभाषा ही होगी। सिद्धांततः वह सब की भाषा होगी, व्यवहार में भले ही वह सब की वाणी न बने।

राष्ट्र से जिस किसी का संबंध होगा वह अवश्य ही राष्ट्रभाषा का सत्कार जम कर करेगा। केवल अपनी देशभाषा से उसे संतोष न होगा। भारती संतान के नाते वह उस भारती का अध्ययन अवश्य करेगा जिसे राष्ट्रभाषा का पद मिला है। कीजि-येगा क्या भारती शब्द का अर्थ ही भाषा हो गया है। देखने में तो भारत से भारती का निर्माण उसी न्याय से हो रहा है जिससे हिंद से हिंदी या गुजरात से गुजराती, पर तो भी भारत की विशेषता यह है कि वह भाषा के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त होता है। हम

गुजराती भारती ही नहीं, द्रमिल-भारती भी कह सकते हैं। कारण, भारती का अर्थ भाषा जो है। इससे सिद्ध हुआ कि कभी हमने इस शब्द को ऐसा अपना लिया कि इसका देशगत भाव ही जाता रहा। तो क्या हिंदी के साथ भी कभी हमारा यह व्यवहार नहीं होगा ? होगा और अवश्य होगा। इसके बिना कल्याण का मार्ग दूसरा कौन होगा ? भला कोई अभागा ऐसा जन्म क्यों लेने लगा कि पढ़-लिख जाने पर वह समस्त राष्ट्र का प्रदीप न बने। निश्चय ही राष्ट्रभाषा की शिक्षा का विधान राष्ट्र की दृष्टि से अनिवार्य होगा और कोई महाविद्यालय या विश्वविद्यालय उससे अलग नहीं रहेगा, यहाँ तक तो स्थिति स्पष्ट है, और यथार्थतः राष्ट्रहित के लिये इतना पर्याप्त भी है। हम इससे अधिक चाहते भी नहीं। किंतु क्या इसी में किसी देशभाषाभाषी का परम लाभ भी है ? जी तो कहता है, नहीं राष्ट्रभाषा और देशभाषा की मर्यादा पर विचार करते समय हमें भूलना न होगा कि 'काव्य' और 'साहित्य का जितना देश काल से लगाव है उतना 'विज्ञान' और 'शास्त्र' का नहीं। निदान मानना पड़ता है कि काव्य और साहित्य में जहाँ उच्च शिक्षा का विधान किसी भी देशभाषा में अत्यंत सरल होगा वहाँ विज्ञान और शास्त्र का अत्यंत कठिन। कारण किसी देशभाषा की किसी प्रकार की अक्षमता अथवा अयोग्यता नहीं। नहीं, सभी देशभाषाएँ प्रायः क्षमता में समान ही हैं और सभी एक ही जीवनस्रोत से प्रायः जीवनलाभ ही करती हैं। और यह भी मान लिया गया है कि सांकेतिक वा पारिभाषिक शब्द भी सब के एक ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में सुगम, सुष्ठु और सहज यही होगा कि विज्ञान की शिक्षा एक ही भाषा के द्वारा सुलभ होगी। ग्रंथ-निर्माण भी प्रायः एक ही भाषा में होगा। उसका कारण यही है कि ऐसे

ग्रंथों का सामान्य जीवन और सामान्य भावभूमि से कोई संबंध नहीं। उनकी भाषा निराली होती है जिसको उसी भाषा के बड़े बड़े विद्वान् भी नहीं समझ सकते। डाक्टर चाहे जिस भाषा में लिखे पर वह रहेगी सर्वथा उसी वर्ग की भाषा। अस्तु, समय आ गया है कि हम सभी प्रश्नों पर बुद्धि और विवेक के साथ एक-साथ मिलकर विचार करें और देखें कि किस पद्धति पर चलने से हमारा परम हित होगा और लोक तथा परलोक, देश तथा परदेश सभी सधेगा। भाव यह कि भावना या किसी आवेश में आकर स्पर्द्धा के भाव से कुछ नहीं करना है और शिक्षा का विधान कुछ इस ढङ्ग से कर लेना है जिससे किसी देशभाषा के विकास में बाधा भी न पड़े, और राष्ट्र के निर्माण में कोई अड़चन भी न हो।

भारत की आर्यभाषाएँ एक दूसरी से इतनी मिलती जुलती हैं कि यदि एक ही लिपि में लिखी जायं और परस्पर अधिक संपर्क में आती रहें तो उनका रहा सहा विभेद भी व्यवहार में बाधक न हो और एक भाषाभाषी दूसरी भाषा को थोड़े से अभ्यास से ही सीख ले। हाँ, द्रविड़वर्ग की भाषाओं की स्थिति कुछ और है, किंतु प्रवृत्ति में उनसे भी मेल है ही। प्रकृति की भिन्नता और प्रवृत्ति की एकता का कारण संस्कृति और संस्कार ही तो है! परंतु यह भी ध्यान रहे कि तामिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम में सभी प्रकार की उच्च शिक्षा का प्रबंध करना कुछ खेल नहीं है। इतना अर्थ इस प्रकार व्यय कर क्या प्राप्त किया जाय इसका भी ध्यान रखना ही होगा। विज्ञान के क्षेत्र में देशभाषा के द्वारा कार्य करना बहुत महँगा पड़ेगा और लाभ उससे अत्यंत थोड़ा होगा। अतएव हमारा कहना है कि विज्ञान का पठन पाठन सर्वत्र एक ही भाषा

के द्वारा हो तो ठीक है। हाँ, सामान्य अथवा जीवनोपयोगी कामकाजी विज्ञान का बोध तो सभी देशभाषाओं के द्वारा कराया जायगा। उसे तो उपयोगी साहित्य का अंग बनाया जायगा। फलतः हमारा कहना है कि हम कल्पना के लोक से उतरकर व्यवहार के क्षेत्र में काम करें और प्रत्यक्ष देख लें कि अंत में हमारा मङ्गल कहाँ है। संक्षेप में हमारा कहना यह है कि शिक्षा के माध्यम पर विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम काव्य और शास्त्र, कला और शिल्प, विद्या और विज्ञान की महत्ता और मर्यादा को ध्यान में रखकर ही ऐसा करें कुछ होड़ में पड़ कर मोहवंश नहीं। विवेक का अनुरोध और समय का आदेश है कि हम सभी देशभाषाओं को सभी प्रकार से समृद्ध करें और उनके साहित्य को संपन्न बनाएँ। मानव मंगल का कोई अंग ऐसा न रहे जो किसी देशभाषा के साहित्य में प्राप्त न हो। परंतु यही प्रत्येक देशभाषा को संतोष भी हो जाना चाहिए। बुद्धि का विलास और विश्व का क्षेत्र इतना बढ़ गया है और विज्ञान का प्रपंच इतना गूढ़ हो गया है कि इन सबका भेद पाना सब का काम नहीं, इनको राष्ट्रभाषा के द्वारा ही प्राप्त किया जाना संभव तथा हितकर है। इनका अलग अलग बोझ उठाना शक्य और शोभन नहीं। वैसे प्रत्येक देश अपनी स्वतंत्र व्यवस्था अपने राज्य में कर सकता है। उसके अधिकार में हमारा हस्तक्षेप नहीं। उसके हित में हमारा हाथ अवश्य है। हम इसी हित के नाते इतना कह रहे हैं, अन्यथा इस प्रपंच से अपना लाभ क्या ?

हाँ, राष्ट्रभाषा के स्वरूप का प्रश्न भी निराला है। रह-रह कर वह उठाया जा रहा है। किंतु इसका कारण भी वही है जो भाषा

के क्षेत्र में साम्राज्यवाद वा प्रांतवाद का बाप है। गत कई वर्षों से यह जन बराबर कहता तथा दिखाता आ रहा है कि सर जार्ज ग्रियर्सन ने भाषा की पड़ताल अँगरेजी शासन की दृढ़ता के लिये उसी के प्रबंध से की। भला सोचिए तो सही इस पड़ताल से हैदराबाद और मैसूर को क्यों अलग कर दिया गया। यदि देशी राज्य होने के कारण भारत सरकार ने उन्हें नहीं छेड़ा तो मद्रास प्रांत की द्रविड़ भाषाएँ क्यों पड़ताल से अलग रह गईं। एक नहीं अनेकों प्रमाण ऐसे हैं जो ललकार कर कहते हैं कि ग्रियर्सन साहब की भाषा पड़ताल नाम मात्र को ही 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया' है। वस्तुस्थिति तो कुछ और ही है। आप सन् १८५७ की क्रांति पर ध्यान दें और प्रत्यक्ष देखें कि उसकी लीलाभूमि हिंदी की ही भूमि क्यों है और साथ ही यह भी देख लें कि बँगला तथा हिंदी पर ही श्री ग्रियर्सन का इतना कोप क्यों है। हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू का जाल उक्त 'सर्वे' में किस प्रकार छिपाया गया है इसके दिखाने का भी यह अवसर नहीं। परंतु इतना तो उच्च स्वर से कह ही देना है कि 'नागरी' को भाषा क्षेत्र से हटाकर जार्ज ग्रियर्सन ने जो कार्य किया वह किसी भी राजनीति के पंडित से न हो सका। यदि नागरी को पढ़े-लिखे बाबू भी भाषा मानते तो आपही प्रकट हो जाता कि वास्तव में हमारी राष्ट्रभाषा किसी के घर की ठेठ बोली नहीं, वह तो वस्तुतः 'नागर' अपभ्रंश की ही नागरी भाषा है जो कम से कम गत सहस्र वर्ष से हमारी राष्ट्रभाषा नहीं तो शिष्ट व्यवहार की भाषा है। और इसी प्रतिष्ठा के कारण समस्त राष्ट्र के विचारशील प्राणी सदा से उसके पोषक रहे हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन साहब का जादू हिंदू पर पूरा काम कर गया, पर मुसलमान फिर भी कुछ बचा रहा। बहुतों को क्या कहें, काँगरेसी सरकार से डाक्टर अंसारी

की ही क्यों न कहें ? उनका नाम ही राष्ट्रीयता का पर्याय है। इन्हीं का कहना है:—

इस किताब के नेक, जोशीले, सच्चे और जानदार खयालों को हर ज़बान में तर्जुमा करना चाहिए। खास कर नागरी और अँगरेजी में इसका एक एडीशन जल्द से जल्द छपना चाहिए, जिसको देख कर हिंदू भाई एक मुसलमान शायर के जानदार देश प्रेम को समझ जायें, जो पठान होने और देश भक्ति के लिहाज़ से पश्तो ज़बान सरहदी शायर खुशहाल खाँ 'खुटक' और बायरन की तरह हैं।

जिसे संदेह हो 'सागर' निजामी की 'रस-सागर' पुस्तक की भूमिका में पृ० १३–१४ पर खोल कर इसे बाँच लें और जान लें कि 'नागरी' लिपि ही नहीं भाषा भी है। परंतु वाह रे हमारा व्यामोह, और वाह री हमारी शिक्षा कि हम पढ़-लिख कर इतने सयाने हो गए कि काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के लोग भी भूल गए कि नागरी एक भाषा भी है और 'नागरी भाषा' का प्रचार करना उसके 'उद्देश्य' में है। बात कलंक की है और है सयानों की दृष्टि में मूढ़ता की, पर कहे बिना रहा भी नहीं जाता कि यदि राष्ट्र सचेत होता और इस 'नागरी' के इतिहास को समझ पाता तो राष्ट्रभाषा का सारा टंटा दूर हो जाता। स्मरण रहे, अब आप की घोषणा के अनुसार 'हिंदुस्तानी' आप की राष्ट्रभाषा नहीं रही, पर आप की ग्रियर्सनी पड़ताल और उसी की छायाजीवी पोथी में आपका होनहार बालक पढ़ेगा उसी हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा। कहिए आप कहाँ हैं और आपकी स्थिति क्या है। कुछ इसकी भी सुधि ? अभी यह जन अहमदाबाद गया था। वहाँ की प्रसिद्ध 'गुजरात विद्या सभा' के एक विद्वान ने पूछ ही तो दिया 'हाई हिंदी' को हिंदी में क्या लिखें ? कहिए क्या हमारा आपका यह

पावन कर्तव्य नहीं है कि हम 'भाषा-पड़ताल' की जाँच करें और भारत-सरकार को विवश करें कि वह अवश्य इसे ठीक कराए। अन्यथा भाषा के क्षेत्र का कलह मिटता नहीं दिखाई देता। विष-बेलि से अमियफल की आशा व्यर्थ है।

होगा। हो सकता है सब कुछ हो, हो सकता है अभी कुछ भी न हो। किंतु कुछ भी क्यों न हो राष्ट्रभाषा के प्रेमियों को तो प्रत्येक दशा में कुछ करना है। यह करना भी दो प्रकार का है एक तो संस्कार का और दूसरा संग्रह का। संस्कार के विषय में सार-रूप से यही कहना है कि राष्ट्रभाषा का संस्कार हो जाना चाहिए और उसका व्यवस्थित रूप ही सबके सामने आना चाहिए। इस विषय में कुछ उर्दू के इतिहास से भी सीखना होगा और दिल्ली और लखनऊ के भेद को मिटा कर सभी प्रकार से एकरूपता लाने का सफल प्रयत्न करना होगा। यहाँ यह भी याद रखना होगा कि जैसे दिल्ली ने बादशाही के जोम में आकर उर्दू की भाषा हिंदी से अलग बना ली वैसे ही लखनऊ ने भी ताव में आकर अपनी आन दिखाने के लिये अपनी अलग उर्दू बना ली। दिल्ली ने कहा-'मैंने समझा।' दिल्ली ने कहा-'यह बात करनी होगी,' तो लखनऊ ने कहा-'यह बात करना होगा।' भाव यह है कि दोनों भिड़ गए और उर्दू भिड़ने भिड़ाने में रह गई। इसी की भाषा बन गई। हिंदी में भी यही भेद घुस आया और यहाँ भी इसका अखाड़ा गरम होता दिखाई देता है। अतः विद्वानों का ध्यान शीघ्र इधर भी जाना चाहिए और देखना यह चाहिए कि मध्यप्रदेश का शासन इसका अनुशासन किस रूप में और कैसा कर रहा है।

दूसरा प्रश्न संग्रह का है। यह काम सभी का है और सभी

अपने अपने ढङ्ग से कुछ न कुछ इसे कर भी सकते हैं। शासन की ओर से रोका जा सकता है कि हमारी कोई भी हस्तलिखित पोथी विदेश में न जाय। पर इसी से क्या हमारा काम बन गया? क्या स्वदेश के लोगों ने ही अपने पवित्र हाथों में ही, अपने पूर्वजों की अपूर्व कमाई पर पानी नहीं फेर दिया है? कल्याण हो उन विदेशियों और मंगल हो उन विद्वानों का जिनकी महती कृपा और शोध से फिर हमें आँख मिली और फिर हम अपने प्राचीन लेखों को पढ़ने में समर्थ हुए। जहाँ दुख होता है यह जानकर कि हमारे अच्छे, अनुपम और अनूठे ग्रंथ विदेशों में चले गए वहीं यह सुख भी होता है कि यहाँ न सही, वहाँ तो हैं। सुख से सुरक्षित तो हैं। यहाँ होते तो उनकी क्या गति होती, इसे कौन कहे! अवश्य ही कितनों को तो हमारी भोंडी भावना के कारण गंगालाभ मिल गया होता, और कितने ही कूटकुटा कर डलिया बन गए होते, और कुछ तो पंसारी के घर पहुँच कर मसाला तंबाकू आदि न जाने क्या क्या बाँधने के काम में आते। और जो कभी बड़े आदर से बेठन में बाँध कर रखे जाते थे उन्हीं से न जाने किस किस के बेठन का काम लिया जाता। सरांश यह कि उनकी दुर्गति होती और हमारी विद्या तथा कला का विनाश होता। किंतु फिर भी हमारी वसुंधरा में अभी बहुत कुछ शेष है। बीजक समझ कर आप डरें वा पैसे के लोभ में न पड़ें। नहीं पैसे से लेकर मूर्ति तक, ताड़पत्र से ले कर ताढ़पत्र तक सभी प्रकार के प्राचीन पदार्थों की चिंता करें और उनका संग्रह करें। स्वयं रखने के फेर में न पड़ किसी प्रतिष्ठित संस्था को दें, सरकार को दें, चाहें तो किसी विश्वस्त विद्वान को भी दें, पर किसी व्यक्ति को न देना ही अच्छा है। हाँ भूलकर भी किसी बनिया को न दें, किसी व्यापारी को न दें और न दें किसी गंगामैया की जलधारा

को भी। यदि आप ऐसा करेंगे तो अपने कर्तव्य का पालन करेंगे, राष्ट्र का मंगल करेंगे और करेंगे राष्ट्रभाषा का परमहित। राष्ट्र-भाषा के साथ ही राष्ट्रसाहित्य का निर्माण तभी ठौर ठिकाने से होगा जब हमारा चित्त इन उलझनों से मुक्त होगा। अस्तु, इसी का निर्देश यहाँ किया गया है। वैसे योजना की इति कहाँ? अभी करने को इतना ही बहुत है। तथास्तु।

२२—दक्षिण भारत का प्रश्न

दक्षिण भारत की यात्रा अंधकार में हुई और अंधकार में ही उस देवी के दर्शन हुये जिसके साक्षात्कार के लिये यह जन इतने दिनों से लालायित था। दक्षिण में परदा नहीं होता पर वहाँ की देवी का निवास जिस मंदिर में होता है वह किसी विशाल गढ़ से किसी प्रकार कम नहीं होता। कितने प्राचीरों को चीरकर, कितने खंडों के भीतर कितनी दूर से, कितने टिमटिमाते दीपों के क्षीण प्रकाश में, कैसी आरती की आभा में, कितना शुल्क देने पर, उसकी कैसी झाँकी, कितने काल के लिये मिलती है, इसका वर्णन किसी कवि से सुनिएगा। यहाँ बस जानिये इतना ही कि हिंदी साहित्य संघ की सहायता से मद्रास में जो कुछ हुआ वह तो उक्त नगर की बात ठहरी, उसके अतिरिक्त वास्तव में शेष स्थानों में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के' सहयोग और उसके कुशल कार्यकर्ता श्री भालचंद्रजी आप्टे की पंडाई में हमें उस देवी का दर्शन मिला जिसके संबंध में कभी इस जन ने लिखा था—

हम और कुछ नहीं इसी 'तेज' की खोज में 'दक्षिण' जा रहे हैं। हमें इसकी प्राप्ति होगी, इसमें संदेह नहीं। कारण, हमारा 'देव' भी तो यही कहता है—

देवता दरसियत, देवता सरस 'देव'
इहि विधि और नहीं देवी, नरी, नागरी।
सहज सुभाइ सचि संचि रुचि सील मति,
कोमल विमल मन सोभा-सुख सागरी।

सुंदर सुबास बास, कोमल कला-निधान,
जानत तहाँ न ताहि चाहि चित आगरी।
देवी देस द्रविड की सुंदरी किबिड़ नेह,
गुनन अनूप, रूप-ओपन उजागरी॥

अस्तु, यह 'शिष्ट-मंडल' इसी 'देवी' की उपासना में यह तीर्थ-यात्रा कर रहा है। इसका ध्रुव-विश्वास है कि जिस भूमि की रज ने राम को 'राम' बनाया उसी भूमि के रजपूत इस राज्य को भी 'राम राज्य' बनायेंगे और उनकी पूत वाणी के योग से यह वाणी भी राजवाणी बनेगी।

आज कहते हर्ष होता है कि इस यात्रा से, पुण्य रज के दर्शन से, यह विश्वास और दृढ़ हो गया और रह-रह कर मद्रास-पति, मद्रास के मेयर, डाक्टर चेरियन का यह उद्घोष हृदय में उल्लास पैदा करता जा रहा है कि—

पाँच वर्ष में हम आपको हिंदी में भी पछाड़ देंगे।

कौन कह सकता है कि 'द्रविड़' ने संस्कृत के क्षेत्र में भी यही नहीं किया? नाम गिनाना व्यर्थ है, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यों का नाम ही पर्याप्त है।

किंतु आज? आज ही की बात तो आप सुनना चाहते हैं? सो स्वामी शंकर का प्रांत तो आज भी हिंदी में कमाल कर रहा है। केवल इस दृष्टि से सभी प्रांतों में आगे है। वहाँ 'हिंदुस्तानी' के प्रतिकूल दृढ़ मोरचा बँधा है और हिंदी के मार्ग में कोई ऐसी रुकावट नहीं जिसका उल्लेख हो। हाँ, पड़ोसी तमिलनाडु की बात कुछ निराली है। वहाँ कुछ ऐसे भी महानुभाव हैं जो द्रविडिस्तान का स्वप्न देख रहे हैं और किसी प्रकार दिल्ली से अपना पिंड

छुड़ाना चाहते हैं कारण उनकी दृष्टि से संस्कृति और शेष लोगों की दृष्टि में 'राजनीति' है। किंतु सच पूछिये तो दोनों के मूल में है अँगरेजी सूझ-बूझ की दासता ही। अँगरेजी तो चला गया पर उसकी सीख नहीं गई। उसकी नीति अब रंग ला रही है। फिर भी प्रायः लोग उसकी ओर से कुछ उदासीन हैं और इसे चुनाव वा लीडरी का ही चक्कर समझते हैं।

द्रविडिस्तान की भावना

'द्रविडिस्तान' का नाम तो बहुत सुनने में आ रहा है, पर वस्तुतः द्रविडिस्तान है क्या ? कहाँ तक उसकी सीमा है ? उत्तर किसी के पास नहीं, नाम सब के पास है। काम यों ही चल रहा है। पर चलते-चलते अनर्थ भी कुछ कम नहीं हो सकता। अतः इसका रहस्य भी खुल जाना चाहिये। सो थोड़े में हम यही कहना चाहते हैं कि परंपरा से 'द्रविड़' का अर्थ वह नहीं जो आज अँगरेजी की कृपा से लगाया जाता है। 'द्रविड़' के भीतर 'केरल' की गणना कभी होती थी, पर 'आंध्र' और 'कर्णाटक' की कभी नहीं। हाँ, द्रविड़ वर्ग की सीमा अवश्य ही महाराष्ट्र और गुजरात को भी अपने भीतर समेट लेती है और फलतः गुजरात और महाराष्ट्र के ब्राह्मण भी 'पंचद्रविड़' के भीतर ही गिने जाते हैं। आंध्र और कर्णाटक को भी 'द्रविड़' के भीतर गिनने का पाठ मिला है श्री महाप्रभु अँगरेज से ही। 'देव' का ही तो यह भी कहना है—

साँवरी सुघर नारि महा सुकुमारी सोहै,
मोहै मन मोहन कौ मदन-तरंगनी।
अनगने गुनन के गरब गहीर मति,
निपुन सँगत-गीत सरस प्रसंगिनी।

परम प्रबीन, बीन मधुर बजावै, गावै,
नेह उपजावै यों रिझावै पति-संगिनी ।
चातुर सुभाइ, बंक भौंहन दिखाइ 'देव'
बिंगन अलिंगन बतावति तिलंगिनी ।

'तिलंगिनी' का यह कला-प्रेम धन्य है कि इसका विलासी 'पति-संग' में ही है। 'देव' के इस 'पति-संगिनी' प्रयोग को न भूलिये नहीं तो कला कलंकिनी हो जायगी। वल्लभकुल ने व्रजभाषा को जो महत्त्व दिया सो तो हिंदी के सामने है, पर उस कला का स्रोत आज हममें से कितनों के सामने है ? हम व्रजभाषा के 'अष्टछाप' को तो जानते हैं, पर तिलंगी वा तेलुगु के 'अष्टदिग्गज' का कितनों को पता है ?

कहने का तात्पर्य यह कि जिस ऊपरी रूप में संस्कृति का अर्थ आज लिया जा रहा है उस दृष्टि से 'द्रविडिस्तान' के भीतर 'तमिलनाडु' के अतिरिक्त और कोई भूभाग नहीं आ सकता। तमिलनाडु का अर्थ भी वास्तव में 'द्रविड देश' ही है। ध्यान देने की बात है कि 'तमिलनाडु' की सीमा वेंकटगिरि के आगे कभी नहीं मानी गई है। 'शिलप्पदिकारम्' जैसे तमिल भाषा के प्रौढ़ और सिद्ध महाकाव्य में भी उसकी सीमा यही है। कन्याकुमारी से बालानाथ तक ही द्रविड़ देश का प्रसार है। अतएव 'द्रविडिस्तान' की सीमा किस आधार पर आगे बढ़ सकती है ?

द्रविडिस्तानी के सामने तीन अस्त्र प्रधान हैं। वह कभी 'आर्य' और 'द्रविड़' को लेकर खड़ा होता है तो कभी 'ब्राह्मण' को। साथ ही उसके सामने 'उत्तर' और 'दक्षिण' का भेद भी है ही। हिंदी का थोड़ा बहुत विरोध जो जहाँ तहाँ कभी कभी हो जाता है उसका कारण उसका 'आर्य' और 'ब्राह्मण' होना समझा जाता

हैं। आर्यभाषा और द्रविड़भाषा का अध्ययन जिन ढंग से विश्वविद्यालय में किया जाने लगा उसका परिणाम कुछ और हो भी कैसे सकता था ? हुआ भी वही जो होना था। आज उसी के कारण 'द्रविड़' का वह संस्कार बना जो यहाँ इसके पहले कभी नहीं बना था। वास्तव में देखा जाय तो 'आर्य' और 'द्रविड़' का यह रक्त-संबंधी विभाजन सर्वथा नवीन है और यहाँ की किसी परम्परा से मेल नहीं खाता। सच तो यह है कि अँगरेजी शिक्षा का कुप्रभाव हम पर इतना गहरा पड़ा कि हम अपने आपको भूल गये और हमारी अपनी दृष्टि भी अँगरेज की आँख से देखने लगी। 'आर्य', 'धर्म', 'संप्रदाय' आदि सभी हमारे अच्छे और भले शब्द मानो कान में कोड़ा बरसाने लगे और हमारे राष्ट्र-जीवन में राजयक्ष्मा के कीटाणु समझे जाने लगे। परिणाम प्रत्यक्ष है। उपाय ओझल।

रोध का उपाय

उपाय है और ऐसा उपाय है कि उसी से अपना उदय और विश्व का मंगल होगा। हमारी संस्कृति हमें सिखाती है कि तुम विकृति से बचो और प्रकृति की परख कर आगे बढ़ो। यही कारण है कि हमारे वाङ्मय में 'उत्तर' और 'दक्षिण' का भेद तो है पर 'आर्य' और द्रविड़ किंवा ब्राह्मण और अब्राह्मण का नहीं। 'ब्रह्मण्य' और 'अब्रह्मण्य' का रहस्य कुछ और ही है। वह बहुत कुछ 'आस्तिक' और 'नास्तिक' के ढङ्ग का है और दक्षिण भारत तो 'सुब्रह्मण्य' को आज भी खूब अपनाता है। हाँ तो कहना यह था कि जिस प्रकृति ने बौद्धों में उत्तर-दक्षिण का भेद किया उसी ने वैष्णवों में भी। एक ही संप्रदाय के भीतर जो वेदपाठ और संतपाठ को लेकर उत्तर-दक्षिण का भेद खड़ा हो गया उसका

सीधा अर्थ यही है कि प्रधानता 'वेद' की रहे वा 'संत' की। उपासना में प्रथम स्थान वेदवाणी को मिले अथवा संतवाणी को। यही प्रश्न भाषा के क्षेत्र में यह रूप धारण कर सकता है क्या, कर लिया है कि हिंदी को प्रथम स्थान दिया जाय या तमिल को। हमारी समझ में इसे बौद्धमत ने लोकदृष्टि से बहुत पहले स्पष्ट किया तथा 'महायान' और 'हीनयान' के रूप में व्यक्त किया। यान महा हो या हीन हो पर है तो यान ही न? जब उस समय हीनयान का क्षेत्र दक्षिण ही अधिक रहा और वह दक्षिण मत के रूप में प्रतिष्ठित रहा तब आज के उदार युग में हम इसकी अवहेलना क्यों करें और क्यों न मान लें कि द्रविड़ के क्षेत्र में तमिल पहले फिर बाद में हिंदी। स्वभाषा पहले फिर राष्ट्रभाषा। 'स्वभाषा' का प्रयोग आज की हवा को देखकर किया गया है और उसी की प्रेरणा से किया गया है राष्ट्रभाषा का प्रयोग भी। नहीं तो सीधे से कह दिया जाता 'देशभाषा' पहले और फिर बाद में 'भाषा'। स्मरण रहे 'भाषा' का प्रयोग यहाँ इसी अर्थ में होता था और जब कभी केवल 'भाषा' का नाम लिया जाता था तब उससे प्रचलित राष्ट्रभाषा का ही बोध होता था। किंतु यहाँ भी हमारा रोना वही है। वही अंगरेजी के प्रताप से हमें 'देशभाषा' का नाम भूल गया और हम 'प्रांतभाषा' के मुरीद हो गए। आवश्यकता है आज इस तथ्य को समझ लेने की। जहाँ आपने समझ लिया कि तमिलनाडु एक देश है और तमिल एक देश-भाषा, वहीं सारा झगड़ा दूर हुआ और सच मानिये उसी दिन द्रविड़िस्तान को भी समुद्रलाभ हुआ। भाषा के आधार पर देश बने और देश के अनुसार भेष बने तो कोई बात नहीं पर हमारी 'भाषा' रहे और उसके द्वारा किस 'आत्मा' का विकास हो, कुछ इसकी भी सुधि रहे। हम 'हिंदी' जो 'तमिलनाडु'

की 'भाषा' के रूप में देखना चाहते हैं कुछ 'देशभाषा' के रूप में नहीं। अपने देश में प्रत्येक देशभाषा का अपना राज्य है और उस राज्य की वही राजभाषा भी है। पर उस देश की राजभाषा है हिंदी ही ठीक वैसे ही जैसे उसका 'राज' है हिंद अथवा भारतवर्ष। भारत का नाता जिसे मान्य है वह भारत की वाणी की उपेक्षा कैसे कर सकता है और साथ ही भारत का जिसे अभिमान है वह उसके किसी अंग को कैसे छोड़ सकता है? भले ही कोई सब का दर्शन न करे पर चाह तो सब के दर्शन की जी में बनी ही रहे। ऐसे ही, भले ही कोई सभी देशभाषाओं को न सीख सके, पर सबको सीखने की लालसा तो कभी न घटे। 'भाषा' अर्थात् राष्ट्रभाषा की शिक्षा के बिना तो किसी की शिक्षा पूरी ही न होगी और उसका जीवन दस के बीच में अधूरा ही समझा जायगा। निदान उसकी शिक्षा तो सब को दी जायगी ही। कब दी जायगी, इसका निर्णय उसका राज्य करेगा, राष्ट्र नहीं। राष्ट्र ने तो निर्देश भर कर दिया है।

संमेलन का कर्तव्य

भारत की राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझ गया है। तो भी उर्दू अथवा हिंदुस्तानी का दम अब भी कहीं कहीं भरा जा रहा है। यहाँ तक कि 'दक्षिण भारत हिंदुस्तानी प्रचार सभा' भी उससे मुक्त होने में आगापीछा कर रही है। यद्यपि आज भी उसका वैधानिक नाम है 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' ही, तो भी कतिपय गुरुजनों के कारण चल रहा है उसका नाम 'हिंदुस्तानी' की छाप से ही। हम इसे उसकी विवशता ही समझते हैं। समझने का कारण यह है कि जब विधान के द्वारा 'हिंदी' की घोषणा हो गई तब 'हिंदुस्तानी' नाम के पीछे सत

साधना ठीक नहीं। हाँ, विधान के अनुसार भाषा बनाने का प्रयत्न करना साधु है। किसी 'सभा' या परिषद्' का कर्तव्य इस समय क्या है, इसे हम क्यों कहें। हमारा कहना तो यह है कि अब 'संमेलन' को करना क्या चाहिए और किस प्रकार राष्ट्रभाषा की डगमगाती नैया को खेकर पार करना चाहिए। सो इतना तो इस यात्रा से स्पष्ट हो गया कि दक्षिण भारत के लोग उस हिंदी को चाहते हैं जिसे लेकर संमेलन राष्ट्रजीवन में यहाँ तक आगे बढ़ा है। अतएव इस समय उनसे या किसी अन्य से यह कहना कि हिंदी पढ़ो, पुराने पाठ को दोहराना भर है। इससे कुछ विशेष बनता नहीं दिखाई देता। हाँ, असंयम और आतुरी के कारण कुछ बिगड़ अवश्य सकता है। निदान इससे अलग रह करना यह है कि—

१—अपनी परीक्षाओं का प्रबंध दक्षिण भारत में ठीक करे और वहाँ की जिस तिस परीक्षा को मान्यता न दे। साथ ही इस बात को भी दृष्टि में रखे कि 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की परीक्षाओं को मान्यता देने में जो बाधायें उपस्थित हैं क्या वे किसी प्रकार दूर नहीं हो सकतीं। उसके उपाधिकारी इसके लिये लालायित हैं और 'सम्मेलन' की परीक्षाओं में बैठना चाहते हैं।

२—सम्मेलन प्रयाग में शिक्षकों की शिक्षा का प्रबंध करे। कारण यह है कि दक्षिण भारत के लोग यहाँ की हिंदी को सीखना और अपने शिष्यों को सिखाना भी चाहते हैं। भूलना न होगा कि 'दक्षिण भारत हिंदुस्तानी प्रचार सभा' के प्रचारक ही इस समय प्रायः सरकारी शिक्षक का कार्य कर रहे हैं और अपनी त्रुटि की पूर्त्ति के लिये अच्छी हिंदी को सीखना

भी चाहते हैं। निदान सम्मेलन को इसकी व्यवस्था अविलंब कर देनी चाहिए।

३—हिंदी का व्याकरण कुछ और भी ठौर-ठिकाने का बनना चाहिए और 'ने' तथा 'लिंग' पर उसमें सरल और सुबोध विचार होना चाहिए, इसकी भी कठिन माँग है।

४—'दक्षिण भारत ग्रंथ माला' की स्थापना होनी चाहिए। उचित तो यह होगा कि 'सम्मेलन' महात्मा गांधी के नाम पर स्मारक रूप में ऐसी ग्रंथमाला का प्रकाशन करे और इसमें अहिंदी देशभाषाओं के उच्च कोटि के ग्रंथों का प्रकाशन भिन्न भिन्न ढङ्ग से करे—

(क) नागरी अक्षरों में मूल कुछ व्याकरण के साथ
(ख) नागरी अक्षरों में मूल तथा अनुवाद के साथ
(ग) नागरी अक्षरों में अनुवाद जहाँ तहाँ टीका के साथ
(घ) प्रत्येक देश का दर्पण हिंदी में-जैसे कर्णाटक दर्पण, आंध्र दर्पण

५—विख्यात और रससिद्ध कवियों की जयंतियाँ मनाने की प्रेरणा दे और अपनी ओर से एक तालिका वितरित करे जिससे समस्त राष्ट्र को पता चले कि किस दिन किस कवि की जयंती होगी। कहीं अच्छा होगा, यदि उस दिन किसी अधिकारी विद्वान् का भाषण भी हिंदी में लिखित रूप में हो और फिर सबको एकत्र प्रकाशित करा दिया जाय। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष एक नया ग्रंथ समस्त भारतीय साहित्य के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत होगा।

६—सम्मेलन की रत्न-परीक्षा में साहित्य के परीक्षार्थी के लिये

एक प्रश्न-पत्र ऐसा हो जिसमें समस्त देशभाषाओं के साहित्य का इतिहास रहे किसी दक्षिणी भाषा का थोड़ा सा परिचय भी रहे तो कहीं अच्छा हो।

७—हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना में इस बात का ध्यान रहे कि उसमें राष्ट्रभाषा के साथ ही देशभाषाओं के अध्ययन का विधान हो और इस प्रकार वह सचमुच भारतीय भाषा-विद्यालय का भी काम कर सके।

८—अपने किसी प्रस्ताव में राष्ट्रभाषा तथा देशभाषाओं के संबंध को स्पष्ट कर दे जिससे साम्राज्यवाद का दोषारोपण भी उस पर न हो सके।

साहित्यकारों से अनुरोध

हाँ, हिंदी साहित्य सम्मेलन के साथ ही साथ कुछ हिंदी के साहित्यिकों, साहित्यकारों और अध्यापकों से भी। आप लोगों को कितने दिनों से यह सुनाई दे रहा था कि आपकी भाषा ही भारत की राष्ट्रभाषा बनने जा रही है, पर क्या कभी आपने इस बात की चिंता की कि राष्ट्रभाषा के साथ ही राष्ट्रसाहित्य का निर्माण होना भी अनिवार्य है? सचमुच यदि आप में जीवन होता और उस जीवन में भविष्य को आँकने की दो आँख तो आज हमारा वर्तमान भी कुछ और ही होता। परंतु आप तो सदा इसकी ओर से उदासीन रहे। सच तो कहें, क्या कभी आपने कालिदास की दृष्टि से भारत को देखा? यदि देखते तो इस हरी भरी भूमि को छोड़कर आपकी आँख आकाश में क्यों अटकती? अरे! धरती में क्या नहीं धरा है कि आकाश के तारे तोड़ रहे हो अथवा बने बनाये घर में तोड़-फोड़ मचाना ही अपना पावन धर्म

मान रहे हो ? उठो, जागो और सचेत हो जाओ कितने दुःख और लज्जा की बात है कि जिस पूँगीफल का हमारे जीवन में इतना महत्व है और जिस नारिकेल के बिना हमारा कोई शुभ कार्य ही नहीं सधता, उसी के जन्मदाता पादप का हमारी कविता में कोई गुणगान नहीं; केरल के कल्पद्रुम नारियल को देखकर भाव उठा यदि कवि होता। सुपारी के पेड़ की शोभा को देखकर खीझ उठी कि लोग 'सरो' के पीछे क्यों मर रहे हैं ? इसकी आभा को क्यों नहीं देखते ? भाव यह कि हिंदी का व्यापार-क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक होना चाहिए और 'दखिन पवन' के साथ ही कुछ दक्षिण का रूप भी उसमें आना चाहिए। मलयानिल की चर्चा मलय के वर्णन के बिना उधार है। आज कलम उठे तो ऐसी चले जिससे भारत का रूप सामने आ जाये, कथा बने तो ऐसी बने जिसमें भारत का समूचा जीवन बोल उठे। यदि ऐसा न हुआ तो कविता क्या हुई कोरी कल्पना की उड़ान और निरी वासना की तृप्ति। किंतु यह सब तभी होगा जब आप भी कुछ डोलना, कुछ घूमना, और कुछ भ्रमण करना सीखेंगे। प्रतिभा पर्यटन चाहती है।

रहे अध्यापक और संपादक। उनकी तो लीला ही अपार है। अँगरेजी की सुन लीजिए, कुछ हिंदी के नाते कभी संस्कृत की भी जान लीजिए। और बहुत हुआ तो कभी बँगला और कभी मराठी का भी नाम कुछ सुन लीजिए; पर भूल कर कभी उन भाषाओं और साहित्यों की चर्चा न कीजिये जिनमें शंकर, रामानुज, मध्व और वल्लभ का शरीर पला और शब्द ब्रह्म को परखा था। भाषाविज्ञान के प्रसंग में इन भाषाओं के विषय में अँगरेजी से उल्था कर लेने का परिणाम यही होगा कि वहाँ के किसी

'पिल्लै' को यहाँ के 'पिल्ला' में अपमान दिखाई देगा। अस्तु, आपसे निवेदन यही करना है कि आप और कुछ भले ही न करें, पर इतना तो अवश्य करें कि आपकी किसी 'इस पट से उस पट' से किसी हिंदी का पासा ही न चितपट हो जाय। समय के अनुसार चल कर 'दक्षिण' को भी अपने अध्ययन का विषय बनाएँ और तब देखें कि आप की हिंदी में क्या नहीं है, किसका नहीं है। कोई आज भी आप की हिंदी का विरोध भले ही कर ले, पर सच पूछिए तो कभी कोई उससे मुँह नहीं फेर सकता। एक समय था कि तुलसीदास के प्रसंग में शिवकांची और विष्णुकांची का उल्लेख हुआ, आज समय है 'कांची' पर काव्य रचने का। आज इस प्रकार के उदाहरण से कटुता बढ़ेगी। लोग इसको ठीक भी नहीं समझते। आशय यह कि लिखें तो सोच समझ और जान-बूझ कर लिखें। कृपा होगी, राष्ट्र का कल्याण होगा, यदि दक्षिण के होनहार लेखक को प्रोत्साहन दे बढ़ने का अवसर दें; भाषा को शोधकर साधु भाषा लिखने की प्रेरणा दें। नहीं तो आपके मुँह खोलने से लाभ नहीं, उलटी हानि अवश्य है।

कलाकार क्या कर रहेगा, इसका कहना कुछ कठिन है। किंतु पुरातत्त्व के प्रेमी से इतना तो कहा ही जा सकता है कि जब कभी आप कहीं किसी खँडहर या टूटे-फूटे मंदिर से कुछ जानने-सुनने जायँ तो कृपा कर उस मानव को न भूल जायँ जो न जाने कितने दिनों से उसका पड़ोसी है और उसी की भाँति, क्या उससे कहीं अधिक समय के उतार-चढ़ाव को देखता चला आ रहा है। लार्ड कर्जन की कृपा से जिनकी रक्षा हो गई उनकी तो हो रही है; पर जनता ने अभी उनके महत्त्व को नहीं समझा। समझती भी कैसे ? उसकी भाषा में कोई बात भी होती। कहीं-

कहीं कुछ अपनी लिपि में भले ही लिख जाय पर शासन सर्वत्र अभी लार्ड कर्जन का ही है। आप के गमनमात्र से उस भूमि का भाग्य नहीं जगता। नहीं, वह तो तब जगेगा जब आप का जन-संपर्क होगा। दक्षिण भारत में अब भी बहुत कुछ सुरक्षित है। वहाँ के मंदिर अध्ययन के आगार हैं। उसमें बहुत कुछ भरा है। तंजोर के मंदिर की चित्रकला का उद्धार हो रहा है। उद्धारक ने बड़े ही मर्मभरे शब्दों में कहा कि उत्तर भारत से 'सांस्कृतिक शिष्ट मंडल' भी आना चाहिए। दुःख होता है यह देखकर कि अपने घर में ही अपनों से ही यह माँग! क्या इससे भी अधिक पतन हमारा हो सकता है? हमसे कहीं अधिक साधु हैं भारत के वे अनपढ़ सपूत जो पेट काट कर पैसा जुटाते और भाँति भाँति की यातना सह 'चारोंधाम' 'सप्तपुरी' के ब्याज से, समस्त भारत की मिट्टी छान आते हैं; और वाणी से सही अपने आचरण से सर्वत्र अपना तादात्म्य स्थापित कर आते हैं। स्वतंत्र भारत के सुशिक्षित स्वराज्य में क्या करेंगे, यही देखना है।

सरकार से निवेदन

बहुत हो चुका, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। परंतु चलते चलते कुछ योजना-योनि सरकार से भी कह देना ठीक होगा क्योंकि 'द्रविड़िस्तान' का कोप उसी पर अधिक है। कहा चाहें तो कह सकते हैं कि उसी के कारण कभी वह हिंदी पर भी प्रकट हो जाता है, अन्यथा हिंदी से कोई उसका विरोध नहीं। 'दिल्ली' से 'तामिल' क्यों भागता है, इसके इतिहास में जाने का यह समय नहीं, पर घड़ी का इतना अनुरोध तो है ही कि कुछ इसकी भी सुना दें। 'दिल्ली' में कहने को मद्राजी भले ही

बहुत हैं पर हैं वे ब्राह्मण ही अधिक। और द्रोह के लिए उनका ब्राह्मण होना पर्याप्त है, किंतु इस पचड़े को सरकार कहाँ तक सँभाल पायेगी। लाख करने पर भी पंडित जवाहरलाल नेहरू ब्राह्मण ही माने जायँगे किसी प्रकार अब्राह्मण इस जन्म में तो हो नहीं सकते। निदान जन्म का जंजाल तो इस प्रकार जाने से रहा; पर शासन की ओर से जो कार्य शीघ्र ही किया जा सकता है वह है सब को यह समझा देना कि स्वीटजरलैंड की व्यवस्था भारत में क्यों नहीं चल सकती। राजनीति के क्षेत्र में यदि इतना हो गया तो द्रविड़िस्तान का महल गिरा अन्यथा धूमधाम तो कुछ दिन अवश्य रहेगी। संभव है हवा अनुकूल होने पर पाकिस्तान की भाँति कभी हो कर भी रहे।

पर यह तो कुछ प्रसंग के बाहर की बात हुई। भाषा की दृष्टि से सरकार यदि इतना कर दे तो वह भी बहुत है कि—

१—भारत की भाषा-पड़ताल फिर से हो। और इतना भी न कर सके तो उसका संशोधन तो अवश्य ही अपने विद्वानों द्वारा करा ले। उसे भूलना न होगा कि 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया' के मूल में कुछ राजनीति भी है, और ऐसी राजनीति जिसको जाने बिना वास्तव में 'भाषा' की स्थिति समझ में नहीं आ सकती। यह इसलिए भी कहा जा रहा है कि कांगरेस ने मान लिया है कि भाषा के आधार पर प्रांत बनें। सरकार की घोषणा से बहुत कुछ काम बन सकता है। विवाद से उलझन पैदा होती और वैमनस्य बढ़ता है। तत्त्वबोध जो होना था हो गया। अब उसके लिए विवाद नहीं।

२—भारत की संस्कृति एक है, पर उसके देशगत संस्कार भी

कुछ हैं ही उसके वाङ्मय का इतिहास पुराना है और उसका शब्दभांडार भी बहुत कुछ संस्कृत शब्दों से भरा है। ऐसी स्थिति में उचित यह होगा कि सरकार की ओर से एक भारतीय शब्दकोष बने जिसका प्रकाशन नागरी में हो, पर शब्द जिसमें सभी देशभाषाओं के क्या बोलियों तक के हों। इस कोष से जहाँ एक ओर एकता का बोध होगा वहीं दूसरे प्रांत की जानकारी भी सहज में ही होती रहेगी। और सब से बड़ा लाभ तो यह होगा कि हमें इस बात का स्वयं बोध हो जायगा कि किस शब्द का क्या अर्थ कहाँ क्या होता है। स्मरण रहे, इसके अभाव में यदि 'कल्याण हो' के अभ्यासी बाबाजी ने दक्षिण में जाकर किसी सती विधवा से 'कल्याण हो' कह दिया तो अनर्थ कर दिया। वहाँ इसका अर्थ समझा ज़ायगा 'विवाह हो'। इसी प्रकार यदि काशी के पंडित जी आंध्र में जाकर किसी कवि की रचना को, भाव में आकर 'उत्कृष्ट' कह बैठें तो वहाँ इसका अर्थ समझा जायगा 'निकृष्ट' ही। निर्देश के लिए इतना बहुत है।

तमिलभक्तों से प्रार्थना

अंत में कुछ तमिलभक्तों से भी। और वह यही कि तमिल का अभिमान आप ही को नहीं हमको भी है। हम भी उनके साहित्य को थाती समझते हैं और उसके प्रसार का उपाय करते हैं। पर हम उसको प्रतिद्वंद्वी नहीं समझते। उसे पाते भी इस रूप में नहीं हैं। आप कह सकते हैं कि तमिल 'कन्या' है, 'कुमारी' है, 'कन्याकुमारी' है। हम कहते हैं ठीक है। पर वह 'माता' भी है। 'जय गजबदन षडानन माता' में जानकी उसी की तो वंदना

करती हैं ? क्यों न करें ? वह 'गिरिराज-कुमारी' और शिवपत्नी' भी तो हैं ? उत्तर से दक्षिण तक उसी शक्ति उसी शिव-पार्वती का तो प्रसार है ? तो फिर दक्षिण का उत्तर से विरोध कैसा ? अधिक क्या ? आपका 'संगम' साहित्य भी तो संस्कृत से अछूता नहीं ? लोग तो उस 'संगम' शब्द को संघ शब्द का ही अपभ्रंश समझते हैं। तमिल साहित्य चाहे जितना भी पुराना हो पर आर्य अगस्त के पहले की उसकी स्थिति क्या ? जो कुछ उपलब्ध है उससे तो यह सिद्ध नहीं होता कि किसी उत्तर के प्राणी से तमिल साहित्य का कभी कोई अहित हुआ ? सच तो यह है कि 'प्राकृत' की स्थिति का यथार्थ बोध न होने के कारण ही आज 'तमिल' को लेकर इतना ऊहापोह है, अन्यथा कौन नहीं जानता कि बौद्ध और जैन के प्राकृत-प्रेम के साथ ही तमिल का भी विकास है। कुछ भी हो, कहना हमारा यह है कि हम कभी आप अथवा आपकी भाषा अथवा आपके रूप में अपनी ही भाषा को नीचा दिखाना नहीं चाहते। हम तो 'मधुकर सरिस संत गुनग्राही' के उपासक हैं, और मधुकरी हमारी वृत्ति।

जी हाँ, ऐसे भी लोग हैं जो हिंदी को मानते तो हैं पर चाहते नहीं। उनके न चाहने का कारण स्पष्ट है। उनकी पैनी प्रतिभा पहले से ही परख लेती है हिंदी हुई नहीं कि हिंदीवाले मीर हुए। जब तक अँगरेजी है सब के लिए समान है। हिंदी हुई तो हिंदी वाले को तो सीखना न रह जायगा और वह नौकरी की परीक्षा में सब को पछाड़ देगा। इस न्याय से यहाँ की कोई भाषा यदि राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह संस्कृत ही है। संस्कृत के संबंध में कुछ कहने के पहले जता यह देना है कि यह धारणा ठीक नहीं। वास्तव में हिंदीवाले हैं कितने जो घुट्टी के साथ इस भाषा को पीते हैं ? दिल्ली और मेरठ का नाम ही भर लिया जाता है।

वस्तुतः यह वहाँ की भी बोली नहीं है। इसके विकास का इतिहास ही कुछ और है तो भी तोष के लिए उनको 'हिंदीवाला' मान लीजिए। फिर कहिए कि 'पूरब' के लोग इस भाषा को सीखते हैं वा नहीं ? हिंदी का सीखना कठिन है तो सबसे अधिक बंगाली को। वह अपनी बोली के सहारे हिंदी को सीखना चाहता है। इसी से उसे असुविधा है। पर द्रविड़ की स्थिति कुछ और है। वह नये सिरे से हिंदी सीखता है, इसी से उस पर अधिकार भी शीघ्र प्राप्त कर लेता है। जो हो, भाषाशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत और अँगरेजी भी हिंदी के ही अधिक निकट है; क्योंकि तीनों एक ही वंश की मानी जाती हैं। अतएव इस तर्क-वितर्क में न पड़कर उस 'विचार सागर' का उपदेश ग्रहण करना है जिसके तमिल अनुवाद का पाठ वहाँ के मठों में आज भी होता है। उसके रचयिता बाबा निश्चलदास का कहना है—

> सांख्य न्याय मैं श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष।
> पढ़े ग्रंथ अद्वैत के, रह्यो न एकौ शेष॥
> कठिन जु और निबंध हैं, जिनमें मत के भेद।
> श्रम तैं अवगाहन किये, निश्चलदास सवेद॥
> नित यह भाषा-ग्रंथ किया, रंच न उपजी लाज।
> तामैं यह इक हेतु है, दयाधर्म सिरताज॥

बस, इसी दयाधर्म की प्रेरणा से 'लोक' पर दया करके संस्कृत के विज्ञ पंडितों ने भी हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिया तथा दिलाया है। इसमें लज्जा की कोई बात नहीं, यही सबका लोकधर्म है।

———

२३—राष्ट्रभाषा में ढीलढाल

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल ।

राष्ट्र जिस विकट परिस्थिति में पड़कर अपना मार्ग निकाल आगे बढ़ रहा है उसके दिग्दर्शन से कोई लाभ नहीं । उसका थोड़ा बहुत पता सभी को है । आज सभी अपनी उन्नति में लीन हैं और रह रहकर इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि अपनी भाषा के बिना अपना कल्याण नहीं । किंतु उनमें से कितने जीव ऐसे हैं जो वास्तव में इस अपनेपन को पहचान रहे हैं ? कहते हैं राष्ट्र-भाषा का प्रश्न सुलझ गया । सच कहते हैं । राष्ट्रभाषा हिंदी घोषित जो हो गई । किंतु यह भाषा ही तो है जिसके लिये मनुष्य को आज अपने 'नुकसान' के 'अधिकार' की सूझ रही है ? निश्चय ही हमारे देश की भावना इतनी बिगड़ चुकी है कि उससे सहसा कुछ बनते दिखाई नहीं देता । तो भी हमारा पावन कर्तव्य है कि हम उसे ठीक करें । राजनीति के अखाड़े को गरम करने से मानव का काम नहीं बनता । नहीं । इससे तो इंसान का उंस मारा जाता और मानव झट दानव बन जाता है । फिर तो किसी से कुछ करते धरते नहीं बनता । निदान राजनीति के तनाव को नरम करने की माँग होती और प्राणी प्राण की पुकार पर कान देता है ।

आज से साठ वर्ष पहले राष्ट्र के बालहृदय ने देख लिया कि 'नागरी' से उसका कितना लगाव है । 'नागरीप्रचारिणी सभा' 'छात्र' सभा का नाम है कुछ 'क्षात्र' सभा का नहीं । काट-छाँट से उसका नाता नहीं, हाट बाट से उसका लगाव अवश्य है । घर-बार से पोथी पत्र तक जिसका प्रसार हो उसी की शिक्षा विद्यार्थी

को न मिले और मिले भी तो किसी 'विद्या' की दृष्टि से नहीं किसी बहाने मात्र से, भला कब यह संभव था ? फलतः विद्यार्थी का बिगुल बजा और 'काशी नागरीप्रचारिणी' की स्थापना हो गई। धीरे धीरे उसकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि उसकी बात समर्थ कान से सुनी गई और जनमत के प्रसाद से जनवाणी नागरी हिंदी का सत्कार हुआ। सब के सहयोग नहीं तो बहुतों के उद्योग से भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी घोषित हुई। राष्ट्र ने राष्ट्रभाषा के व्यवहार का व्रत लिया और सोचा कि पंद्रह वर्ष के भीतर वह भी अपनी राष्ट्रभाषा का जौहर विश्व को दिखा सकेगा। कितने वर्ष में उसने कितना कार्य किया इसका विचार संताप का कारण हो सकता है, संतोष का विषय नहीं। निदान उसकी चर्चा न कर कहा यह जाता है कि अब इस अवसर पर एकत्र हो कुछ यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए और राष्ट्रभाषा के इस महायज्ञ में कुछ ऐसी आहुति का विधान करना चाहिए जिससे उसके प्रकाश में विश्व का कोना-कोना ही नहीं ब्रह्मांड का कण कण आभासित हो उठे और उसकी प्रशस्त छाया में हमारी सभी देशभाषाएँ चमक उठें। उनकी वृद्धि और समृद्धि भी किसी से पीछे न रहे। हाँ, यज्ञ के अनुष्ठान और आहुति के विधान में हमें धूम का भी सामना करना होगा और अपने संकल्प के फलस्वरूप इसे अंजन के रूप में दिव्य ज्योति का दाता समझा जाएगा। अन्यथा धूमरहित यज्ञ कैसा ? किसी विकार से भयभीत होने की आवश्यकता क्या ?

भय है, आशंका है, डर है, सभी कुछ तो है। किस किस का उल्लेख किया जाय ? अभी कुछ होने भी न पाया कि बयार फिर हिंदी के प्रतिकूल बही। उसके बड़े बड़े सरकारी नेता पीछे खसकने लगे और उर्दू ने फिर उसके घर में जोर मारा। बड़ा तूमार बँध रहा है। हानि लाभ का विचार छोड़ प्रतिष्ठित एवं विख्यात

शिक्षाचार्य 'नुकसान' करने का 'अधिकार' चाहते हैं और अपढ़ लोग भी अंगूठे के बल पर उर्दू को उत्तरप्रदेश की 'क्षेत्रीय भाषा' घोषित कराना चाहते हैं। उर्दू को सदा से राजबल रहा है। वह शाहजहाँनाबाद के किला मुअल्ला की भाषा रही है। उसको 'उर्दू की जबान' या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' यों ही नहीं कहा गया है। वह सच-मुच 'लाल किला' की शाही जबान रही है। अवध के बादशाह तो उसको अपनी राजभाषा ही घोषित कर चुके थे। किंतु वह कभी किसी प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा नहीं रही। कभी कोई भी हिंदु-स्तानी, चाहे वह मुसलमान और फारसी-अरबी का प्रगाढ़ पंडित ही क्यों न हो, उसमें प्रमाण न माना गया। मुगल-सम्राट् ने उसे पाला। सब कुछ हुआ पर कभी वह 'क्षेत्रीय भाषा' घोषित न हुई यह पद सदा नागरी हिंदी को ही प्राप्त रहा। अँगरेजी कूटनीति को 'नागरी' से द्रोह हुआ तो उसने उर्दू के हित के विचार से 'हिंदुस्तानी' को सराहा। कारण यह था कि 'नागरिक' को महत्त्व मिलता तो नागरिक सहसा जागरूक हो उठते और फिर उन पर शासन करना कठिन हो जाता। जो हो; इतिहास बताता है कि उर्दू सदा तूरानी विचारधारा की भाषा रही और 'मुगल' का 'तूरानी दल' ही इसका नेता था। बादशाही जबान के नाते 'हिंदु-स्तानी दल' भी इसका सत्कार करता था और राजाश्रय के कारण इसकी पूछ भी अधिक थी। फलतः समय पाकर वह पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा घोषित हुई। विधि की विडंबना वा हठ का प्रताप तो देखिए कि आज उसे कहा नहीं 'राष्ट्रपति' से कहाया जा रहा है, 'पाकिस्तान' के किसी भूभाग की नहीं, उत्तरप्रदेश जैसे प्रसिद्ध नागरी राज्य की 'क्षेत्रीय भाषा'। जी; राष्ट्रपति उर्दू की माँग के कारण उर्दू को घोषित कर दें उत्तरप्रदेश की 'क्षेत्रीय भाषा' और उर्दू के लोग झट बोल पड़ें कि हिंदी तो कहीं की भाषा नहीं; उत्तर-

प्रदेश की 'क्षेत्रीय भाषा' तो उर्दू है। निदान उर्दू की इस माँग से सबको सजग करना चाहिए और स्पष्ट कह देना चहिए कि 'भारत' में 'पाकिस्तान' के 'उपनिवेश' की आवश्यकता नहीं। हाँ, उर्दू से रक्षण का प्रश्न अवश्य है। उस उर्दू के रक्षण का जो 'पाकिस्तानी' नही 'हिंदुस्तानी' है। सो हिंदी के साहित्यकार देशकाल के विचार से पात्रानुसार उसका भी व्यवहार करते हैं और उसे भी हिंदी की एक शैली समझते हैं, परंतु उक्त शैली को महत्व इसलिये नहीं देते कि उसका यहाँ की किसी भी भाषा की किसी भी शैली से मेल नहीं, उसका तो नाता विदेश से है न?

राजबल से उर्दू को किस क्षेत्र का राज्य मिलेगा, इसकी मीमांसा से लाभ क्या? उसकी उचित माँग पर उचित ध्यान दिया जाएगा, इसमें संदेह नहीं। उसका दिल दुखाना हमको इष्ट नहीं। यदि कुछ लोगों को उसके अध्ययन का आग्रह हो और उनकी संख्या पर्याप्त हो तो यह अधिकार उन्हें प्राप्त हो सकता है और वही स्थान प्राप्त हो सकता है जो किसी भाषा को दूसरी भाषा के क्षेत्र में प्राप्त होता। रही राष्ट्रभाषा की स्थिति सो हमारी समझ में तो यही आता है कि इस पद्धति और इस गति से हमारा उद्धार नहीं। उलटे क्षति की संभावना अधिक है। इससे राष्ट्रभाषा की शक्ति और क्षमता में संदेह उत्पन्न होता है और राष्ट्रभाषा के सरकारी अगुआ पीछे खिसकते दिखाई देते हैं। इसलिये होना यह चाहिए कि केंद्र में एक अलग राष्ट्रभाषा मंत्रालय की स्वतंत्र स्थापना हो और उसका संचालन एक अनुभवी, योग्य और साहित्य मर्मज्ञ मंत्री के हाथ में हो जिससे वह भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति को देखकर ही उसके विकास का प्रबंध करे। प्रकृति की दृष्टि से भारत की भाषाओं में चाहे जितनी विभिन्नता हो किंतु प्रवृत्ति की दृष्टि से उनमें गहरी एकता है। इस एकता को परखे

बिना किसी राष्ट्रभाषा के द्वारा राष्ट्रनिर्माण का कार्य संभव नहीं। नागरी हिंदी का सत्कार इसीसे राष्ट्र में इतना रहा है कि कभी उसके सामने किसी फारसी, उर्दू या हिंदुस्तानी की नहीं चली और न इतना उद्योग होने पर भी उसका स्थान किसी अन्य भाषा को मिला। यहाँ तक कि अंगरेजी का रंग भी बराबर फीका रहा और वह लोकहृदय को न छू सकी। राजा रघुराज सिंह ने इसी व्यापक एकसूत्रता को देखकर इसी से तो कभी (सं० १९२१ वि० के पहले) स्पष्ट कहा था।

हरि को प्रिय अति द्राविड़ भाखा, संमत वेद शास्त्र श्रुति शाखा।
द्राविड़ भाषा संतन काहीं, उचित अवशि पढ़िबो जग माहीं।

भाव यह कि किसी भी क्षेत्र में इस देश के बाहरी भेदभाव को देखकर उसकी भीतरी भावधारा को भूल जाना ठीक नहीं! उसकी सच्ची जानकारी और पक्की पहिचान के बिना राष्ट्र का निर्माण कैसा? निदान हिंदी मंत्रालय की स्वतंत्र और सुव्यवस्थित व्यवस्था केंद्र में होनी ही चाहिए जिसका कार्य हो केवल शासन और व्यवहार को हिंदीमय बना देना ही नहीं अपितु यह देखना भी कि राष्ट्रभाषा के साथ ही सभी देशभाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक ही भाव का उदय और एक ही हृदय का प्रसार हो रहा है। अँगरेजी की राजनीति से मुक्ति पाने का यही एक सरल और सुबोध उपाय है। कूट शासन के कुप्रभाव के रहते सच्चे राष्ट्र का निर्माण कैसा? केंद्र के साथ ही सभी राज्यों को अपने अपने ढंग से साहित्य के इस अनुष्ठान में योग देना चाहिए और उत्तम तथा उपयोगी पुस्तकों के रूपांतर को महत्व दे सभी भाषाओं की प्रगति का परंपराबोध कराना चाहिए। आशय है यह कि वर्तमान के कुसंस्कार से लोकहृदय को मुक्त कर उसे

फिर संस्कृति के मूलस्रोत में मग्न कर देना चाहिए जिसके अवगाहन से वह तृप्त और प्रसन्न हो जग को आह्लाद का पाठ पढ़ा सके।

'हिंदी मंत्रालय' के साथ ही हमारा ध्यान लोकसेवा आयोग पर भी आप ही जाता है और हम सबसे पहले अपने लोकसेवक को ही अपने मेल में देखना चाहते हैं। सो तुरत होना तो यह चाहिए कि परीक्षा का माध्यम विकल्प रूप से हिंदी कर दिया जाय और परीक्षार्थी को यह छूट दी जाय कि वह चाहे हिंदी में प्रश्न का उत्तर लिखे चाहे अंग्रेजी में, साथ ही हिंदी में उत्तीर्ण होना सभी के लिये अनिवार्य कर दिया जाय। हिंदी राज्यों में तो हिंदी को और भी शीघ्र महत्व मिलना चाहिए और उसको माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षाविशारदों का ध्यान शिक्षाप्रणाली के दोषों को देखने में मग्न है। कभी वह कुछ विशेष पद्धति के प्रचलन में सफल होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। किंतु यह तो प्रायः सर्वमान्य सिद्धांत स्वीकृत हो चुका है कि शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही हो। प्राथमिक शिक्षा में किसी अन्य भाषा का बोध कराना कठिन होता है, अतएव माध्यमिक शिक्षास्थिति में राष्ट्रभाषा का प्रवेश हो जाना चाहिए। हिंदी प्रदेशों में उच्च शिक्षा का माध्यम हिंदी ही हो। जो लोग आज भी इसके लिये अंगरेजी का ही राग अलापते हैं भूल करते हैं। इस प्रकार की हीनभावना से राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता, उपहास तो इसमें है ही। निश्चय ही उच्च शिक्षा का माध्यम भी स्वभाषा वा राष्ट्रभाषा ही होगी। इसका निर्णय राज्य कर लेगा कि उसकी किस भाषा को कितना

महत्व मिले। संभव है कि इसके लिये राष्ट्र की भाषा पड़ताल फिर से हो और फिर से हो राज्यनिर्माण भी।

अभी तक प्रमुख रूप से हमारे सामने शासन ही रहा है, अब कुछ साहित्यकार स भी कह लेना है, परंतु उससे कुछ कह लेने के पहले निवेदन कर देना है 'विधायकों' से यह कि कृपया एक विधान इस आशय का बनवा दें कि यदि कोई प्रकाशन वा ग्रंथ लेखक के कलमी निजी हस्ताक्षर के बिना बिक्री के रूप में पाया गया तो विक्रेता तथा प्रकाशक दंड के भागी होंगे। इससे साहित्यकार को एक प्रकार का अभयदान मिल जाएगा और प्रकाशक लेखक को पुस्तक की संख्या में धोखा न दे सकेगा, दोनों का व्यापार साधु और विश्वासपूर्ण होगा।

'सभा' की दृष्टि में हिंदी की वर्तनी और उसके 'व्याकरण' पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। आशा है इस कार्य में भी विद्वानों की सहायता उसे प्राप्त होगी और लोग अपने सुझाव देने में संकोच न करेंगे।

पराधीनता का अभ्यास अत्यधिक हो गया है, इसका परिणाम यह होता है कि हम स्वयं कार्य करते नहीं, हाँ कराने पर कर अवश्य देते हैं। आत्मविश्वास का भी हममें अभाव हो गया है। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि हम उतना भी 'नागरी' को नहीं अपना रहे हैं जितना अपनाने में कोई क्षति नहीं, कोई बाधा नहीं। नागरी में तार दिया जा सकता है पर प्रतिदिन दिया जाता है कितना? नागरी में पता लिखा जा सकता है पर समझा जाता है कि पत्र ठीक से पहुँचता है अंगरेजी पते में ही। भाव यह कि सजग, सावधान और सचेष्ट होने की आवश्यकता है। आत्मचेतन

के अभाव में राष्ट्र का उद्धार कहाँ ? लोक का मंगल कहाँ ? हाँ स्वराज्य का प्रपंच अवश्य है। फलतः इस अवसर का पूरा उपयोग कर आगे का प्रशस्त मार्ग बनाना चाहिए जिससे सभी को लोकयात्रा सुखद् जान पड़े।

———